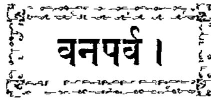


सम्मति

भाषाटीका-सहित महाभारत मेरे अवलोकन में आया, इसकी भाषा बहुत सरल तथा मूल भारत के अर्थानुसार की गई है, यदि इसी शृङ्खला के अनुसार शेष की भाषा की गई तो अवश्य ही पाठकों के लिये विशेष लाभ होगा। यद्यपि महाभारत संस्कृत टीका सहित अन्यत्र छपा हुआ मिल सकता है परन्तु उससे संस्कृत के विशेष पण्डितों का ही उपकार हो सकता है, परन्तु इस महाभारत में मूल पाठ पृथक् सुन्दर छपा है जिसमें मूल का पारायण भी अनायास कर सकते हैं। ऐसा पुस्तक अवश्य ही प्रत्येक हिन्दू के घर में होना चाहिये। इसमें हिन्दुधर्म का स्वरूप भले प्रकार दर्शाया गया है॥

ता० ८।६।३४ ई० लाहौर। नृसिंहदेव शास्त्री
दर्शनाचार्य

विषयानुक्रमणिका ।



वनपर्व ।



वनपर्व ।

विषयानुक्रमणिका ।





अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच--नैतत्कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद्वसुधाधिप ! ।
यद्यहं *द्वारकायां स्यां राजन्! सन्निहितः पुरा ॥ १ ॥
आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ॥ २ ॥
वारयेयमहं द्यूतं बहून्दोषान्प्रदर्शयन् ।
भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ॥ ३ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव !
पुत्राणां तव राजेन्द्र! त्वन्निमित्तमिति× प्रभो ! ॥ ४ ॥
तत्राचक्षमहं दोषान्यैर्भवान्व्यतिरोपितः ।
वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात्प्रभ्रंशितः पुरा ॥ ५ ॥
अतर्कितविनाशश्च देवनेन विशाम्पते ! ।
सातत्यं च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥ ६ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत्कामसमुत्थितम् ।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः ।

तेरहवां अध्याय ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! उस समय जो मैं द्वारकापुरी में होता, तो आप लोगों को कभी यह क्लेश न भोगना पडता । राजा धृतराष्ट्र, दुर्योधन अथवा और और कौरव मुझे उस द्यूत-सभा में न भी बुलाते, तो मैं स्वयं वहां पहुँच जाता, और आपकी भलाई के लिये भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, वाह्लीक और राजा धृतराष्ट्र को सभा में बुलाकर, उनके आगे जुए को महा अनर्थ और अनेक दोषों की खान प्रमाणित कर, मैं निस्सन्देह पासों के खेल को बन्द कर देता । हे महाराज ! जिस दोष से राज्य से निकाले जाकर, आप यह क्लेश सह रहे हैं, जिस दोष से वीरसेन के पुत्र नल अपना राज्य खो बैठे थे, जिस दोष से प्रत्येक मनुष्य की बुरी हालत होती है, उस दोष का उल्लेख करके यदि मैं धृतराष्ट्र आदि के सामने बहस करता, तो कभी जुआ खेलने की ओर उनकी प्रवृत्ति न होती ॥१।६॥

स्त्री, जुआ, मद्य-पान और शिकार खेलना, ये चारों बातें काम से उत्पन्न होती है और इन चारों ही

* भगवत. कृष्णस्यायमाशय –हे युधिष्ठिर ! यदि त्वं द्यूतान्प्राक्मामनन्यभावनाऽचिन्तयिष्यस्तर्हि तव नवद्वारवत्या देहरूप-द्वारकायामहं सन्निहितोऽभविष्य, तथाचैनत्सङ्कटं न प्राप्स्यत् । यथा द्रौपदी वस्त्रापहरणकाले मां स्मृतवती, तावता च वस्त्रराशि प्रदानेन मया सभाया संकटान्मोचिता । तथा त्वमप्यक्षपातनकाले मत्स्मरणेन जयं प्राप्स्यः, न च तथाऽभूदिति ।

× त्वन्निमित्तं–धर्मराज निमित्त 'हे कौरव ! तव पुत्राणां द्यूतेनालं' मिति तत्रसभाया माचक्षम्–आख्यास्यम् । इति सबंधः ।

विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ८ ॥
एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च ।
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥ ९ ॥
एतच्चाऽन्यच्च कौरव्य! प्रसङ्गि कटुकोदयम् ।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो! समासाद्याऽम्बिकासुतम् ॥ १० ॥
एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद्वचनं मम ।
अनामयं स्याद्धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन! ॥ ११ ॥
न चेत्स मम राजेन्द्र! गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ! निगृह्णीयां बलेन तम् ॥ १२ ॥
अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदोऽनुवर्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥ १३ ॥
असान्निध्यं तु कौरव्य! ममाऽऽनर्तेष्वभूत्तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥ १४ ॥
सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ! द्वारकां पाण्डुनन्दन! ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद्यथातथम् ॥ १५ ॥
श्रुत्वैव चाऽहं राजेन्द्र! परमोद्विग्नमानसः ।

के कारण से मनुष्य लक्ष्मी से भ्रष्ट हो जाता है। इसी कारण शास्त्रों में इन व्यसनों को सार दुःखों और दोषों की खान कहा है। अधिक क्या कहूँ, जुआरी लोग स्वयं इस काम के अनेक दोषों का बखान करते हैं। यह जुआ ऐसा है, कि एक ही दिन में सब द्रव्य इस में नष्ट हो जाता है और मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है। इसमें सिवा खोटी बातें कहने सुनने के और कुछ लाभ नहीं है। मैं अम्बिका-पुत्र धृतराष्ट्र के पास जाकर ये सब दोष कह कर, होने वाली बुराइयों को दर्शाता। जो वे मेरा कहा मान लेते, तो इस लोक में उनके पुत्रों का कल्याण होता और परलोक के लिये वे बहुत सा धर्म-सञ्चय कर लेते और जो न मानते, तो मैं उसी समय बल से उनको निगृहीत अर्थात् गिरफ्तार कर लेता ॥७।१२॥

इस पर यदि जुए का शौक रखने वाले मित्राभिमानी अनार्य लोग दुर्योधन की सहायता करने को खड़े होते, तो उन्हें भी मैं उसी समय मार डालता। क्या कहूँ, मैं उस समय आनर्त देश (द्वारकापुरी) में न था, इसी से आप निर्वासित होकर, इतना क्लेश सह रहे हैं। हे पाण्डुनन्दन! मैं बाहर से जब लौटकर आया, तब सात्यकि के मुँह से आप लोगों की विपत्ति का हाल सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह सुनते ही आप लोगों के दर्शन को

तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशांपते ॥ १६ ॥
अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ ! ।
सोऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि वासुदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

यहाँ चला आया हूँ। हाय! आप लोग कैसा कठिन क्लेश भोग रहे है। बड़े कष्ट की बात है, कि आप को अपने भाइयों सहित इस तरह दुर्दशा में देख रहा हूँ ॥१३।१७॥

वनपर्व का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्याय ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—असान्निध्यं कथं कृष्ण ! तथाऽऽसीद् वृष्णि नन्दन! ।
क्व चासीद्विप्रवासस्ते किं चाऽकार्षीः प्रवासतः ? ॥ १ ॥
श्रीकृष्ण उवाच—शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ ! ।
निहन्तुं कौरवश्रेष्ठ ! तत्र मे शृणु कारणम् ॥ २ ॥
महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः ।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ॥ ३ ॥
यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ ! राजसूयेऽर्हणां प्रति ।
स रोषवशमापन्नो नाऽमृष्यत दुरात्मवान् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
उपाऽयाद् द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत ॥ ५ ॥
स तत्र योधितो राजन् ! कुमारैर्वृष्णिपुङ्गवैः ।
आगतः कामगं सौभमाहत्यैव नृशंसवत् ॥ ६ ॥

चौदहवां अध्याय ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण जी की बात को सुनकर राजा युधिष्ठिर ने पूछा—हे महाराज ! आप किस कारण उस समय आनर्त देश मे नहीं थे ? प्रवास में कहाँ रहकर क्या कर रहे थे ? यह सुनकर श्रीकृष्ण जी ने कहा—मैं राजा शाल्व के सौभ नामी नगर के नाश करने को गया था । अब उसका कारण सुनिये ॥१।२॥

राजा शिशुपाल ने आपके राजसूय यज्ञ में मेरी पूजा का विरोध किया था। इसी कारण वह दुरात्मा मेरे हाथों मारा गया। सौभपति शाल्व ने जब शिशुपाल के मरने का हाल सुना और द्वारकापुरी में मेरे उपस्थित न रहने का सुयोग पाया, तब अपने सौभ नामक नगरी रूप कामगामी विमान पर चढ़कर उसने मेरी नगरी को घेर लिया। उस दुष्ट ने द्वारका पुरी पर आक्रमण करके बहुत से वृष्णिवंश के बालकों को

पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामास दुर्मतिः ॥ ७ ॥
उक्तवांश्च महाबाहो ! काऽसौ वृष्णिकुलाधमः ।
वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ॥ ८ ॥
तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयिताऽस्म्यहम् ।
आनर्ताः ! सत्यमाख्यात तत्र गन्तास्मि यत्र सः ॥ ९ ॥
तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिषूदनम् ।
अहत्वा न निवर्तिष्ये सत्येनाऽऽयुधमालभे ॥ १० ॥
काऽसौ काऽसाविति पुनस्तत्र तत्र प्रधावति ।
मया किल रणे योद्धुं काङ्क्षमाणः स सौभराट् ॥ ११ ॥
अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम् ।
शिशुपालवधामर्षाद्गमयिष्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥
मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः ।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीतले ॥ १३ ॥
भ्राता बालश्च राजा च न च सङ्ग्राममूर्धनि ।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ॥ १४ ॥
एवमादि महाराज ! विलप्य दिवमास्थितः ।

मार डाला। नगर भर के महलों और बागों को तोड़ ताड़ और उजाड़कर उसने कहा—हे आनर्त-देशवासियो ! वृष्णिवंश का कलङ्क दुरात्मा वासुदेव कहां है ? आज मैं उसके घमण्ड को तोड़ डालूँगा। तुम लोग सत्य-सत्य बताओ, वह कहां गया है; जहां वह गया है, वहीं मैं भी जाऊँगा ॥३।९॥

मैं इन हथियारों को छूकर सौगन्ध खाता हूँ, कि उस कंस और केशी के मारने वाले पापी को मारे बिना नहीं लौटूँगा। हे धर्मराज युधिष्ठिर ! वह शाल्व इस रीति से कहकर, मेरे साथ युद्ध करने की इच्छा से "कहां है, कहां है" कहता हुआ इधर-उधर दौड़ने लगा और कहने लगा, कि अब मैं शिशुपाल के मारने के कारण से उस पापी, नीच और विश्वासघाती कृष्ण को यमलोक में पहुंचाऊँगा ॥१०।१२॥

इसी के हाथ से मेरा भाई शिशुपाल मारा गया। आज मैं इसको मारकर पृथ्वी पर गिराऊँगा। इसने मेरे बालक और वीर भाई को ऐसी अवस्था में मारा है, कि जब वह युद्ध के लिये तैय्यार न था। आज इस जनार्दन को बिना मारे नहीं छोड़ता हूँ। हे राजा युधिष्ठिर ! वह शाल्व इस प्रकार से बहुत सी बातें कहता हुआ और मेरी निन्दा करता हुआ

कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ! ॥ १५ ॥
तमश्रोपमहं गत्वा यथावृत्तः स दुर्मतिः ।
मयि कौरव्य ! दुष्टात्मा मार्तिकावतको नृपः ॥ १६ ॥
ततोऽहमपि कौरव्य ! रोषव्याकुलमानसः ।
निश्चित्य मनसा राजन् ! वधायाऽस्य मनो दधे ॥ १७ ॥
आनर्तेषु विमर्दं च क्षेपं चाऽऽत्मनि कौरव ! ।
प्रवृद्धमवलेपं च तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ १८ ॥
ततः सौभवधायाऽहं प्रतस्थे पृथिवीपते ! ।
स मया सागरावर्ते दृष्ट आसीत्परीप्सता ॥ १९ ॥
ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्यमहं नृप ! ।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ॥ २० ॥
तन्मुहूर्तमभूद्युद्धं तत्र मे दानवैः सह ।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ॥ २१ ॥
एतत्कार्यं महाबाहो ! येनाऽहं नाऽगमं तदा ।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतं चाऽविनयोत्थितम् ॥
द्रुतमागतवान्युष्मान्द्रष्टुकामः सुदुःखितान् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

सौभ नाम विमान में बैठकर इच्छा के अनुसार आकाश-मार्गी हुआ ॥१३।१५॥

जब मैं आप के यज्ञ से लौट कर द्वारका पहुंचा, तब मैंने सब हाल सुना। मुझे उस दुष्ट मार्तिकावतक देश के राजा शाल्व की बातें सुनकर बड़ा क्रोध हुआ और मैंने उसे मारने की इच्छा इस कारण से की, कि उस पापी ने मेरी निन्दा की और आनर्त देश में बहुत मनुष्य मार डाले, कि जिसके कारण से उसे बड़ा घमण्ड हो गया। यह विचार कर उसको मारने की इच्छा से मैं युद्ध के लिये चल पड़ा। इधर-उधर देखने-भालने के पश्चात् दूर से वह समुद्र की लहरों पर देख पड़ा। तब मैंने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाकर उसे युद्ध के लिये बुलाया। तुरन्त ही शाल्व के साथी दानव सुसज्जित होकर मुझ से युद्ध करने को आगे बढ़े। मैंने क्षणभर में उन्हें मारकर युद्ध-भूमि में गिरा दिया। हे युधिष्ठिर ! मेरे द्वारका में न होने का वह उक्त कारण था। वहां से लौटते ही मैंने जुए का हाल सुना। उसको सुनते ही महादुःखी होकर, मैं हस्तिनापुर को चला आया ॥१६।२२॥

वनपर्व का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—वासुदेव ! महाबाहो ! विस्तरेण महामते ।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥
वासुदेव उवाच—हतं श्रुत्वा महाबाहो ! मया श्रौतश्रवं नृप ! ।
उपायाद्भरतश्रेष्ठ ! शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥ २ ॥
अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन ! ।
शाल्वो वैहायसं चापि तत्पुरं व्यूह्य धिष्ठितः ॥ ३ ॥
तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम् ।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्त्तत ॥ ४ ॥
पुरी समन्ताद्विहिता सपताका सतोरणा ।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा ॥ ५ ॥
सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाऽट्टालकगोपुरा ।
सचक्रग्रहणी चैव सोल्काऽलातावपोथिका ॥ ६ ॥
सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ ! सभेरीपणवानका ।
सतोमराङ्कुशा राजन् ! सशतघ्नीकलाङ्गला ॥ ७ ॥
सभुशुण्ड्यश्मगुडका सायुधा सपरश्वधा ।

पन्द्रहवां अध्याय ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण जी की उक्त बात को सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे वासुदेव जी ! सौभ विमान के नाश का वृत्तान्त संक्षेप में सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हुई। इसलिए विस्तार के साथ सब वृत्तान्त सुनाइए। यह सुनकर श्रीकृष्ण जी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! मेरे हाथ से शिशुपाल के मारे जाने का हाल सुनकर दुष्ट शाल्व द्वारका पुरी में पहुंचा। उस दुष्ट बुद्धि वाले दानव ने विमान पर बनी हुई अपनी सौभ नगरी में व्यूह की स्थापना की। सुरक्षित रूप से उसी में बैठकर, उसने द्वारका पर चारों ओर से आक्रमण किया। वह घोर युद्ध करने लगा। द्वारका पुरी में उस समय चारों ओर पताकाएँ लगी हुई थीं। बुर्ज और यन्त्र बने हुए थे। और उनमें सुरंग खोदने और गुप्त मार्ग बनानेवाले मनुष्य प्रस्तुत (मौजूद) थे ॥१-५॥

सड़कों पर लोहे के मुख वाली कीलें लगी हुई थीं, और नगर के द्वार और अटारियां अन्न से भरी हुई थीं। मोर्चों पर प्राणों को उल्का के समान हरने वाले आग्नेय गोले और मन्त्रयुक्त शक्तियाँ रक्खी हुई थीं। मिट्टी और चर्म के पात्र, भेरी, ढोल, मृदङ्ग तोमर, अंकुश, शतघ्नी, लांगलशस्त्र, भुशुण्डी, पत्थर के गोले, फरसा, लोहे की ढालें, गन्धक आदि अग्नि

लोहचर्मवती चाऽपि साग्निः सगुडश्रृङ्गिका ॥ ८ ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयुक्ता भरतर्षभ ! ।
रथैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ ९ ॥
पुरुषैः कुरुशार्दूल ! समर्थैः प्रतिवारणे ।
अतिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥ १० ॥
मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिभिः सा सुरक्षिता ।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्च सपताकिभिः ॥ ११ ॥
आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै ।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ १२ ॥
प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः ।
इति कृत्वाऽप्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥ १३ ॥
आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायनाः ।
बहिर्निर्वासिताः क्षिप्रं रक्षद्भिर्वित्तसंचयम् ॥ १४ ॥
संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः ।
परिखाश्चाऽपि कौरव्य ! कीलैः सुनिचिता कृताः ॥ १५ ॥
उदपानाः कुरुश्रेष्ठ ! तथैवाऽप्यम्बरीषकाः ।
समन्तात्क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः ॥ १६ ॥

लगानेवाली वस्तुएँ, गोले और गोले चलाने के यन्त्र सब उस पुरी में विद्यमान थे ॥६।८॥

गद, साम्ब, उद्धव आदि शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ, प्रसिद्ध कुलों में उत्पन्न, अनेक युद्धों में पराक्रम दिखाकर प्रसिद्धि को प्राप्त वीर यादव, रथ, पताका, घोड़े और असङ्ख्य सेना को साथ लिए चारों ओर से नगरी की रक्षा करने लगे। जहां चाहे वहां जा सकनेवाले सौभपुर को आया हुआ देखकर, उग्रसेन, उद्धव आदि वृष्णि और अन्धक वंश के बहुदर्शी वीर यादवों ने यह सोचकर नगर में मदिरा पीने की मनाही कर दी, कि नगरवासी लोग नशे की हालत में असावधान रहेंगे, तो कहीं शाल्व जीत न जाय। सब लोग लगातार हर घड़ी सावधान रहने लगे। सब नट और नाचने-गानेवाले नगरी से निकाल दिये गये। वे अपने एकत्र किये धन रत्न आदि को लेकर चल दिये। नदियों के पुल तोड़ दिये गये। नावों की राहें रोक दीं गईं। खाईयों की रक्षा दृढ़तापूर्वक की जाने लगी। नगरी के बाहर गहरे गढ़े खोद दिये गये। गुप्त आग भी जहां-तहां लगा दी गई। कोस भर तक अनेक कटीले पेड़ रुँधकर ऐसा कर दिया गया, कि कोई आग बढ़कर नगरी पर आक्रमण न कर सके ॥९।१६॥

प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम् ।
प्रकृत्या चाऽऽयुधोपेतं विशेषेण तदाऽनघ ! ॥ १७ ॥
सुरक्षितं सुगुप्तं च सर्वायुधसमन्वितम् ।
तत्पुरं भरतश्रेष्ठ ! यथेन्द्रभवनं तथा ॥ १८ ॥
न चाऽमुद्रोऽभिनिर्याति, न चाऽमुद्रः प्रवेश्यते ।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ॥ १९ ॥
अनुरथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव ! ।
बलं बभूव राजेन्द्र ! प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २० ॥
दत्तवेतनभक्तं च दत्तायुधपरिच्छदम् ।
कृतोपधानं च तदा बलमासीन्महाभुज ! ॥ २१ ॥
न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चाऽतिक्रान्तवेतनी ।
नाऽनुग्रहभृतः कश्चिन्न चाऽदृष्टपराक्रमः ॥ २२ ॥
एवं सुविहिता राजन् ! द्वारका भूरिदक्षिणा ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ! ॥ २३ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच—तां तूपयातो राजेन्द्र ! शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह ॥ १ ॥
समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता ॥ २ ॥
वर्जयित्वा श्मशानानि देवतायतनानि च ।
वल्मीकांश्चैत्यवृक्षांश्च तन्निविष्टमभूद्बलम् ॥ ३ ॥
अनीकानां विभागेन पन्थानः संवृताऽभवन् ।
प्रवणाय च नैवाऽऽसञ्च्छाल्वस्य शिविरे नृप ! ॥ ४ ॥
सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
रथनागाश्व *कलिलं पदातिध्वजसंकुलम् ॥ ५ ॥
तुष्टपुष्टबलोपेतं वीरलक्षणलक्षितम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं विचित्ररथकार्मुकम् ॥ ६ ॥
संनिवेश्य च कौरव्य ! द्वारकायां नरर्षभ ! ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ॥ ७ ॥
तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा ।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ८ ॥

सोलहवां अध्याय ॥ १६ ॥

श्रीकृष्ण जी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! राजा शाल्व बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना लेकर, उक्त प्रकार से रक्षा की हुई द्वारका पुरी पर चढ़ आया। और उसकी सेना श्मशान भूमि, देवालय, वल्मीक और चैत्य वृक्षों को छोड़कर समान पृथ्वी पर, जहां अनेक कुएँ और तालाब थे, ठहरी। जहां पर राजा शाल्व का डेरा था, वहां सेना इस प्रकार से विभाग पूर्वक नियत कर दी गई थी, कि वहां छिपकर पहुँचने को कोई मार्ग नहीं रहा था ॥१।४॥

और वह सेना भी संपूर्ण आयुध, शस्त्र, रथ, हाथी, शूरवीर, ध्वजा, कवच और धनुषों से युक्त होने के कारण से बड़ी भयानक और सब लक्षणों से लक्षित थी। राजा शाल्व ने ऐसे योद्धा सैनिकों को साथ लेकर, विचित्र रथ, हाथी, घोड़े, पैदलों के द्वारा गरुड़ के समान महावेग से द्वारकापुरी पर आक्रमण किया। इधर वृष्णिवंश के कुमार सब सेना-सहित सौभपति के आने और आक्रमण करने का वृत्तान्त सुनकर, बाहर निकले और उसके साथ युद्ध करने लगे।

* कलिलं गंभर।

असहन्तोऽभियानं तच्छाल्वराजस्य कौरव ! ।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ९ ॥
ते रथैर्दंशिताः* सर्वे विचित्राभरणध्वजाः ।
संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ॥ १० ॥
गृहीत्वा कार्मुकं साम्ब शाल्वस्य सचिवं रणे ।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ॥ ११ ॥
तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत् ।
मुमोच भरतश्रेष्ठ ! यथा वर्षं सहस्रदृक् ॥ १२ ॥
तद्बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज ! हिमवानिव निश्चलः ॥ १३ ॥
ततः साम्बाय राजेन्द्र ! क्षेमवृद्धिरपि स्वयम् ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ॥ १४ ॥
ततो मायामयं जालं माययैव विदीर्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याऽभ्यवर्षत ॥ १५ ॥
ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ॥ १६ ॥
तस्मिन्विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याऽथ चमूपतौ ।

प्रसिद्ध राजकुमार चारुदेष्ण, साम्ब और प्रद्युम्न आदि उस सौभपति के आक्रमण को नहीं सह सके। तब कवच पहने, शस्त्र लिये, रथों पर चढ़े हुए वे राजकुमार शत्रुपक्ष के और-और वीर पुरुषों के साथ युद्ध करने लगे ॥५।१०॥

जाम्बवती के पुत्र साम्ब, शाल्व के मन्त्री और सेनापति क्षेमवृद्धि से भिड़कर, वर्षा के समान उस पर बाण बरसाने लगे। सेनापति क्षेमवृद्धि भी हिमालय के समान अटल होकर हिम्मत के साथ उस दुःसह बाणों की वर्षा को सहकर साम्ब के ऊपर मायापूर्वक बाण बरसाने लगा। तब साम्ब ने अपने मायामय मन्त्रों के प्रभाव से सेनापति के परिश्रम को व्यर्थ कर दिया ॥११।१५॥

इसके पश्चात् वे सेनापति के रथ के ऊपर जल-धारा के समान लगातार बाणों की वर्षा करने लगे। साम्ब के बाणों की चोट से बहुत ही व्यथित होकर सेनापति मैदान से हट गया। क्षेमवृद्धि जब युद्ध से भाग गया, तब वेगवान् नाम का असुर मेरे पुत्र

* दंशिता, सन्नद्धा

वेगवान्नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद्बली ॥ १७ ॥
अभिपन्नस्तु राजेन्द्र! साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगं वेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ॥ १८ ॥
स वेगवति कौन्तेय! साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविध्य सत्यविक्रमः ॥ १९ ॥
तया त्वभिहतो राजन्वेगवान्न्यपतद्भुवि ।
वातरुग्ण इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥ २० ॥
तस्मिन्विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे ।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥ २१ ॥
चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः ।
महारथः समाज्ञातो महाराज! महाधनुः ॥ २२ ॥
ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः ।
वृत्रवासवयो राजन्यथा पूर्वं तथाऽभवत् ॥ २३ ॥
अन्योन्यस्याऽभिसंक्रुद्धावन्योन्यं जघ्नतुः शरैः ।
विनदन्तौ महारावान् सिंहाविव महाबलौ ॥ २४ ॥
रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम् ।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रुनाशनम् ॥ २५ ॥
स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः ।

साम्ब पर आक्रमण करने को वेग से दौड़ा। साम्ब निर्भय-भाव से, उसके उस वेग को सह कर गदा हाथ में लेकर झपटे। उन्होंने वह गदा उसको मारी। वेगवान् असुर साम्ब की गदा लगने से, एक दम अचेत होकर आँधी के उखाड़े पुराने वृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा और मर गया। ॥१६।२०॥

तब साम्ब उत्साह के साथ वेगवान् की सेना में घुसकर घोर संग्राम करने लगा। इसी अवसर में विविन्ध्य दानव जो बड़ा धनुषधारी और महारथी विख्यात था, चारुदेष्ण से युद्ध करने लगा। उन दोनों का आपस में ऐसा युद्ध हुआ, जैसा पहले इन्द्र और वृत्रासुर में हुआ था। दोनों वीर परस्पर कुपित होकर महाबली दो सिंहों की तरह भयङ्कर शब्द से गरजते हुए एक दूसरे पर बाण चलाने लगे। तब रुक्मिणी के पुत्र चारुदेष्ण ने अग्नि और सूर्य तुल्य भयानक बाण को मन्त्र पढ़ कर, धनुष पर चढ़ाया और क्रोध के साथ विविन्ध्य को लल-

चिक्षेप मे सुतो राजन्! स गतासुरथाऽपतत् ॥ २६ ॥
विविन्ध्यं निहितं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् ।
कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥ २७ ॥
ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद्बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो! सौभस्थं नृपते! तदा ॥ २८ ॥
ततो निर्याय कौरव्य! अवस्थाप्य च तद्बलम् ।
आनर्तानां महाराज! प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥
सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात्सौभं सराजकम् ॥ ३० ॥
अहं सौभपतेः सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजविनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः! ॥ ३१ ॥
आश्वसध्वं न भीः कार्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाऽभिपन्नो दुष्टात्मा स सौभो विनशिष्यति ॥ ३२ ॥
एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन! ।
धिष्ठितं तद्बलं वीर! युयुधे च यथासुखम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वार कर उसके ऊपर यह बाण चलाया । विविंध्य भी मरकर रथ पर गिर पड़ा ॥२१।२६॥

राजा शाल्व उसको मरा हुआ और सेना को हटी हुई देखकर विमान में बैठा हुआ सम्मुख आया। उसको विमान में बैठा हुआ देखकर द्वारका की सेना व्याकुल हो गई। उस समय महावीर प्रद्युम्न ने बाहर निकल कर सब को धैर्य देते हुए कहा—हे आनर्त (द्वारका)-देश वासियो! देखो, मैं सौभपति शाल्व का सामना करने के लिये युद्धभूमि में आगया हूँ; तुम लोग घबराओ नहीं ॥२७।३०॥

मैं आज सांप के आकार वाले, भयङ्कर बाणों को बाहुबल से धनुष पर चढ़ाकर छोड़ता हूँ, और उनसे शाल्व की सब सेना को नष्ट करता हूँ। तुम भय छोड़ कर धैर्य धरो। दुरात्मा शाल्व आज मुझसे भिड़कर अपने नगर के साथ नष्ट होगा। महाबाहु प्रद्युम्न के यों कहने पर, सब सेना मोर्चेबन्दी से खड़ी होकर युद्ध करने लगी ॥३१।३३॥

वनपर्व का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

वासुदेव उवाच— एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान्भरतर्षभ ! ।
दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम् ॥ १ ॥
उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमिवाऽन्तकम् ।
उत्पतद्भिरिवाऽकाशं तैर्हयैरन्वयात्परान् ॥ २ ॥
विक्षिपन्नादयंश्चापि धनुःश्रेष्ठं महाबलः ।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ३ ॥
स विद्युच्चलितं चापं विहरन्वै तलात्तलम् ।
मोहयामास दैतेयान्सर्वान्सौभनिवासिनः ॥ ४ ॥
तस्य विक्षिपतश्चापं संदधानस्य चाऽसकृत् ।
नाऽन्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शात्रवान् रणे ॥ ५ ॥
मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य ।
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य शुश्राव लोकोऽद्भुतवीर्यमग्र्यम् ॥ ६ ॥
जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी ।
वित्रासयन्राजति वाहमुख्ये शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्र्यः ॥ ७ ॥
ततस्तूर्णं विनिष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः ।
शाल्वमेवाऽभिदुद्राव विधित्सुः कलहं नृप! ॥ ८ ॥

सतरहवां अध्याय ॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण जी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! प्रद्युम्न यादवों से यों कहकर कवच से रक्षित घोड़ों से जुते सुवर्ण-जटित रथ पर चढ़ कर, मुँह फैलाये हुए यमराज की तरह, वेग से शत्रु के पास गये। उन के रथ पर मछली के चिन्ह वाली पताका फहरा रही थी। विविध अस्त्रों के जाननेवाले प्रद्युम्न ने बिजली ऐसे धनुष पर डोरी चढ़ाकर सौभ नगर पर स्थित सब योद्धा दानवों को व्याकुल कर दिया ॥ ॥१।४॥

प्रद्युम्न ऐसी चतुराई और सावधानी के साथ शत्रुओं पर प्रहार करने लगे, कि कोई उनके काम में बाधा नहीं डाल सका। युद्ध के समय प्रद्युम्न के चेहरे का रङ्ग तनिक भी नहीं बदला। वे इतनी फुर्ती के साथ युद्ध कर रहे थे, कि उनके किसी अङ्ग प्रत्यङ्ग का हिलना डुलना नहीं देख पड़ता था। बीच-बीच में केवल उनके सिंहनाद से यह जान पड़ता था, कि उनके समान वीर पुरुष पृथ्वी पर और कोई नहीं है। प्रद्युम्न के रथ में लगे हुए सुवर्ण-मय ध्वजा के दण्ड के सिरे पर लगे-समुद्र के जीवजन्तुओं में श्रेष्ठ, मुँह फैलाये-बनावटी मच्छ

अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे ।
नाऽमर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह ! ॥ ९ ॥
स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च ।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥
तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः ।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ॥ ११ ॥
तस्य मायामयो वीर ! रथो हेमपरिष्कृतः ।
सपताकः सध्वजश्च सानुकर्षः सतूणवान् ॥ १२ ॥
स तं रथवरं श्रीमान्समारुह्य किल प्रभो ! ।
मुमोच बाणान्कौरव्य ! प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ १३ ॥
ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत्तरसा रणे ।
प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं संमोहयन्निव ॥ १४ ॥
स तैरभिहतः सङ्ख्ये नाऽमर्षयत सौभराट् ।
शरान्दीप्ताग्निसंकाशान्मुमोच तनये मम ॥ १५ ॥
तानापततो बाणौघान्संचिच्छेद महाबलः ।
ततश्चाऽन्याञ्छरान्दीप्तान्प्रचिक्षेप सुते मम ॥ १६ ॥
स शाल्वबाणै राजेन्द्र! विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ॥ १७ ॥

को देखकर शाल्व की सेना बहुत ही डर गई। यह देखकर शत्रुओं के नाश करनेवाले प्रद्युम्न और भी उत्साह के साथ युद्ध की इच्छा से शाल्व के समीप गये। शाल्व भी प्रद्युम्न के पराक्रम को देख कर बहुत क्रुद्ध हुआ। फिर वह आकाश में उड़नेवाले सौभ विमान से उतर कर प्रद्युम्न से युद्ध करने लगा ॥५।१०॥

ऐसा जान पड़ा, मानो देवराज इन्द्र कोपित होकर राजा बलि पर आक्रमण कर रहे हैं। अब शाल्व मायानिर्मित सुवर्णमय रथ पर चढ़कर प्रद्युम्न के ऊपर ढेर के ढेर बाणों की वर्षा करने लगा। महाबाहु प्रद्युम्न भी शत्रु को मारने का दृढ़ निश्चय करके वेग से बाणवर्षा करते हुए शाल्व को रोकने लगे। प्रद्युम्न की बाणवर्षा से चिढ़कर शाल्व ने भी उनपर जलती हुई आग के समान बाण छोड़े। प्रद्युम्न ने स्वाभाविक साहस और पराक्रम के साथ इन बाणों को विफल कर दिया। तब दुरात्मा दानव और भी कोपित होकर, बार-बार बहुत से बाण

तस्य वर्म विभिद्याऽऽशु स बाणो मत्सुतेरितः ।
विव्याध हृदयं पत्री स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥
तस्मिन्निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि ।
संप्राद्रवन्दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुन्धराम् ॥ १९ ॥
हाहाकृतमभूत्सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ! ।
नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ॥ २० ॥
तत उत्थाय कौरव्य ! प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
मुमोच बाणान्सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ २१ ॥
तैः स विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः ।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद्रथे तदा ॥ २२ ॥
तं स विद्ध्वा महाराज ! शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम् ।
ननाद सिंहनादं वै नादेनाऽऽपूरयन्महीम् ॥ २३ ॥
ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ! ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान्दुरासदान् ॥ २४ ॥
स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ट ! प्रद्युम्नोऽभूद्रणाजिरे ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

बरसाने लगा । शाल्व के बाणों से प्रद्युम्न के अङ्ग जर्जर हो गये । तब उन्होंने एक अन्तर्भेदी बाण शाल्व को मारा ॥११।१७॥

वह बाण कवच को तोड़कर शाल्व के हृदय में घुस गया । इससे वह मूर्च्छित होकर, पृथिवी पर गिर पड़ा । यह देख और-और दानव शङ्कित होकर हाहाकार करते हुए, पांव की धमक से पृथ्वी को कम्पाते हुए, युद्धभूमि से भागने लगे । इसी अवसर में महापराक्रमी शाल्व को चेत हो आया । वह उठकर फिर प्रद्युम्न के ऊपर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगा । उन बाणों के प्रहार से प्रद्युम्न भी मूर्च्छित हो गये । यह देखकर शाल्व के आनन्द की सीमा न रही । उसने और भी अधिक उत्साहित होकर प्रचण्ड सिंहनाद किया । वह फिर प्रद्युम्न के ऊपर लगातार बाण बरसाने लगा । महावीर प्रद्युम्न उसके पैने बाणों के जाल में छिप गये । उनके अङ्ग कई जगह में घायल हो गये । वे शीघ्र ही अचेत हो गये । ॥१८।२५॥

वनपर्व का सतरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

वासुदेव उवाच—शाल्वबाणार्दिते तस्मिन्प्रद्युम्ने बलिनां वरे ।
वृष्णयो भग्नसंकल्पा विव्यथुः पृतनागताः ॥ १ ॥
हाहाकृतमभूत्सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं ततः ।
प्रद्युम्ने मोहिते राजन्! परे च मुदिता भृशम् ॥ २ ॥
तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः ।
रणादपाहरत्तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ॥ ३ ॥
नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत् ।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥
सौते! किं ते व्यवसितं कस्माद्यासि पराङ्मुखः ।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते ॥ ५ ॥
कच्चित्सौते! न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम् ॥ ६ ॥
सौतिरुवाच—जानार्दने! न मे मोहो नाऽपि मां भयमाविशत् ।
अतिभारं तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन! ॥ ७ ॥
सोपयामि शनैर्वीर! बलवानेष पापकृत् ।
मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी ॥ ८ ॥

अठारहवां अध्याय ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण जी ने कहा—हे युधिष्ठिर! शाल्व के बाण लगने से जब प्रद्युम्न अचेत हो गये, तब वृष्णि-वंश के वीर यादव उत्साह-हीन होकर हाहाकार करने लगे। शत्रु-पक्ष को बहुत आनन्द हुआ। दारुक सारथी का पुत्र, सुशिक्षित, प्रद्युम्न का सारथी उनको इस दशा में देखकर घबराया नहीं। वह प्रद्युम्न को रथ सहित वेग के साथ युद्धभूमि से हटा ले गया। थोड़ी दूर पर जाने ही प्रद्युम्न को होश आ गया। फिर धनुष बाण हाथ में लेकर उन्होंने सारथी से कहा—हे सूतपुत्र! तुमने यह क्या किया? रणभूमि को छोड़ कर तुम क्यों भागे जा रहे हो? युद्ध से विमुख होकर भागना वृष्णिवंश के वीरों का धर्म नहीं है। सत्य-सत्य कहो! तुम क्या इस घोर युद्ध में शाल्व के बल विक्रम को देखकर बहुत व्याकुल हो गये हो? ॥१-६॥

यह सुनकर सारथी ने कहा—हे केशवनन्दन! यह आप न समझें, कि मैं राजा शाल्व के पराक्रम को देखकर, डर कर भाग आया हूँ। उसके बाण की चोट से आप अचेत हो गये थे, इसी कारण युद्ध से विमुख होकर मैं चला आया हूँ। रथी चाहे

आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाऽप्यहम्।
रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वाऽपयाम्यहम् ॥ ९ ॥
एकश्चाऽसि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः ।
न समं रौक्मिणेयाऽहं रणे मत्वाऽपयामि वै ॥ १० ॥
वासुदेव उवाच—एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् ।
उवाच सूतं कौरव्य ! निवर्तय रथं पुनः ॥ ११ ॥
प्रद्युम्न उवाच—दारुकात्मज ! मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथंचन ।
व्यपयानं रणात्सौते ! जीवतो मम कर्हिचित् ॥ १२ ॥
न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति सङ्गरम् ।
यो वा निपतितं हन्ति तवाऽस्मीति च वादिनम् ॥ १३ ॥
तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च ।
विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥ १४ ॥
त्वं च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि ।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ! ॥ १५ ॥
स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे ।
अपयानं पुनः सौते ! मैवं कार्षीः कथंचन ॥ १६ ॥
अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम् ।

जितना बड़ा वीर पुरुष हो, उसके मूर्च्छित हो जाने पर उसकी रक्षा करना सारथी का कर्त्तव्य है। मुझे आपकी और आपको मेरी सदा रक्षा करनी चाहिये। इस कारण से मैं आपको रक्षायोग्य जान कर रथ को दूर लिये जाता हूँ। दूसरा कारण यह है, कि आप अकेले हैं और यह दानव बहुत से हैं, इस से मैं इस युद्ध में बराबरी नहीं देखता हूँ। ॥७।१०॥

वासुदेव कहते हैं—सारथी के यों कहने पर मकरध्वज प्रद्युम्न ने उस से कहा, कि रथ को लौटाओ; फिर कभी ऐसा कार्य मत करना। मेरे जीते रहते युद्ध-भूमि से तुम्हारा भागना ठीक नहीं हुआ। जो कोई युद्ध छोड़ कर भाग जाता है; या शरणागत, स्त्री, बालक, वृद्ध और जिसका रथ टूट गया हो अथवा शस्त्र टूट गया हो, उससे युद्ध करता है, वह कभी वृष्णिवंश में उत्पन्न नहीं है। हे दारुकनन्दन ! तुम सूतकुल में उत्पन्न और सारथी के कार्य में विशेषरूप से शिक्षित हो, वृष्णिवंश के युद्ध-धर्म को भी अच्छी तरह जानते हो। इस कारण अब फिर कभी इस तरह युद्ध से मत भागना। मैं युद्ध से भाग आया और शत्रुओं ने मेरी पीठ पर प्रहार किये; यह सुनकर वीरसिंह श्रीकृष्ण के बड़े भाई

गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ॥ १७ ॥
केशवस्याऽग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः ।
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ॥ १८ ॥
किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः ।
अपयातं रणात्सूत ! साम्बश्च समितिञ्जयः ॥ १९ ॥
चारुदेष्णश्च दुर्धर्षस्तथैव गदसारणौ ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ! ॥ २० ॥
शूर संभावितं शान्तं नित्यं पुरुषमानिनम् ।
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः ॥ २१ ॥
प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम् ।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति ॥ २२ ॥
धिग्वाचा परिहासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा ।
मृत्युनाऽभ्यधिकः सौते ! स त्वं मां व्यपयाः पुनः ॥ २३ ॥
भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः ।
यज्ञं भारतसिंहस्य न हि शक्योऽद्य मर्षितुम् ॥ २४ ॥
कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः ।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ! ॥ २५ ॥
स च संभावयन्मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः ।

बलदेव, सात्यकि, साम्ब, दुर्द्धर्ष चारुदेष्ण, गद, सारण, महाबाहु अक्रूर आदि यादव मुझे क्या कहेंगे ? ॥१८।२०॥

वृष्णिवंश के वीरों की स्त्रियां जो मुझे शान्त, शूर और पौरुषाभिमानी समझती हैं—मुझे क्या कहेंगी ? वे सब यही कहेंगी, कि प्रद्युम्न भय के मारे युद्ध छोड़ कर चले आये; इन्हें धिक्कार है ! धिक्कार देने के सिवा वे कभी अच्छा न कहेंगी। हे सूतपुत्र ! मेरा या मेरे जैसे लोग, धिक्कार के साथ निन्दा सुनने की अपेक्षा, मृत्यु को ही अच्छा समझते हैं। इसलिये तुम अब कभी इस तरह युद्ध-भूमि से मत भागना। महात्मा मधुसूदन मुझ पर ही सब भार छोड़कर भरतवंशी राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में गये हैं। इस कारण आज इस तरह मेरा युद्ध छोड़कर भागना किसी तरह ठीक नहीं हुआ। महावीर कृतवर्मा शाल्व से युद्ध करने के लिये आ रहे थे। उन्हें मैंने यह कह कर लौटा दिया, कि मैं ही शाल्व को मारने जाता हूँ; आप यहीं रहिये। वे भी बहुत सम्मान के साथ मुझे भेजकर लौट गये। इस तरह युद्ध से भाग कर मैं उन्हीं से क्या कहूँगा ! ॥२१।२६॥

तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् ॥ २६ ॥
उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ॥ २७ ॥
सात्यकिं बलदेवं च ये चाऽन्येऽन्धकवृष्णयः ।
मया स्पर्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम् ॥ २८ ॥
त्यक्त्वा रणामिमं सौते ! पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
त्वयाऽपनीतो विवशो न जीवेयं कथंचन ॥ २९ ॥
स निवर्त रथेनाऽऽशु पुनर्दारुकनन्दन ! ।
न चैतदेवं कर्तव्यमथापत्सु कथंचन ॥ ३० ॥
न जीवितमहं सौते ! बहु मन्ये कथंचन ।
अपयातो रणाद्भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ॥ ३१ ॥
कदापि सूतपुत्र ! त्वं जानीषे मां भयार्दितम् ।
अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ॥ ३२ ॥
न युक्तं भवता त्यक्तुं सङ्ग्रामं दारुकात्मज ! ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ॥ ३३ ॥

इति श्री मन्महाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

और जब दुर्द्धर्ष, शङ्ख, चक्र, और गदा को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण, सात्यकि, बलदेव जी और-और अन्धक और वृष्णिवंशी लोग मुझसे आ-आकर मिलेंगे, तब उन से मैं क्या कहूँगा ? हे सूतपुत्र ! मैं रण छोड़कर चला आया, इससे शत्रुओं ने मेरी पीठ पर प्रहार किये। अब यदि तुम इस तरह युद्ध-भूमि से मुझे हटा लाओगे, तो मैं किसी तरह अपना जीवन न रक्खूँगा। इसी कारण कहता हूँ, शीघ्र मेरा रथ लौटा ले चलो ॥२७।३०॥

आपत्ति पड़ने पर भी ऐसा करना उचित नहीं। मैं यदि डरकर रण से भागूँ और शत्रु लोग मेरी पीठ पर प्रहार करें तो मैं उस जीवन से अपना कुछ गौरव नहीं समझता। तुमने क्या कभी मुझे डरकर, कायरों की तरह युद्ध छोड़कर, भागते देखा है ! हे सूतपुत्र ! मेरी युद्ध करने की इच्छा अत्यन्त प्रबल होने पर भी तुम्हारा यों युद्धभूमि छोड़कर भागना किसी तरह ठीक नहीं हुआ। इसलिये तुम मुझे शीघ्र युद्ध-भूमि में ले चलो ॥३१।३३॥

वनपर्व का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥



अथ एकोनविंशोऽध्याय ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच—एवमुक्तस्तु कौन्तेय ! सूतपुत्रस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं मधुरं श्लक्ष्णमञ्जसा ॥ १ ॥
न मे भयं रौक्मिणेय ! सङ्ग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञोऽस्मि च वृष्णीनां नाऽत्र किंचिदतोऽन्यथा ॥ २ ॥
आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वं चापि भृशपीडितः ॥ ३ ॥
त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन शरेणाऽभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ! ततोऽहमपयातवान् ॥ ४ ॥
स त्वं सात्वतमुख्याऽद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ! ॥ ५ ॥
दारुकेणाऽहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीत भीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ॥ ६ ॥
वासुदेव उवाच—एवमुक्त्वा ततो वीर हयान्संचोद्य सङ्गरे ।
रश्मिभिस्तु समुद्यम्य जवेनाऽभ्यपतत्तदा ॥ ७ ॥
मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ॥ ८ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय ॥ १९ ॥

प्रतोदेनाऽऽहता राजन्रश्मिभिश्च समुद्यताः ।
उत्पतन्त इवाऽऽकाशे व्यचरंस्ते हयोत्तमाः ॥ ९ ॥
ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप ! दारुकिम् ।
दह्यमाना इव तदा नाऽस्पृशंश्चरणैर्महीम् ॥ १० ॥
सोपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ ! ।
चकार नाऽतियत्नेन तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ ११ ॥
अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन स सौभराट् ।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समार्दयत् ॥ १२ ॥
दारुकस्य सुतस्तत्र बाणवेगमचिन्तयन् ।
भूय एव महाबाहो प्रययावपसव्यतः ॥ १३ ॥
ततो बाणान्बहुविधान्पुनरेव स सौभराट् ।
मुमोच तनये वीर ! मम रुक्मिणिनन्दने ॥ १४ ॥
तानप्राप्ताञ्छितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा ।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन्हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥
छिन्नान्दृष्ट्वा तु तान्बाणान्प्रद्युम्नेन स सौभराट् ।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजच्छरान् ॥ १६ ॥

चलने लगे, मानों आकाश-मार्ग से होकर जा रहे हैं। उनके पांव पृथ्वी में पड़ते हुए नहीं जान पड़ते थे॥९।१२॥

इस प्रकार से वह सारथी थोड़े ही यत्न से शाल्व की सेना को दाहिनी ओर करता हुआ रथ को शाल्व के सन्मुख ले पहुँचा। उसको देखकर सब को आश्चर्य सा हो गया। और राजा शाल्व अपनी सेना का दाहिनी ओर हट जाना देखकर सह न सका और उसने सारथी को तीन बाण मार कर व्याकुल कर दिया। उन बाणों की चोट सहकर भी सारथी उसी गति से रथ बढ़ाता ही गया। तब राजा शाल्व फिर प्रद्युम्न के ऊपर असंख्य बाण बरसाने लगा। प्रद्युम्न ने भी अपने हाथों की फुर्ती दिखाते हुए उन बाणों को अपने पास तक आने नहीं दिया, रास्ते में ही खण्ड-खण्ड कर डाला। अपने बाणों को व्यर्थ होते देखकर शाल्व ने फिर मायाबल का सहारा लिया। वह अब आसुरी बाण चलाने लगा। प्रद्युम्न ने भी ब्रह्म अस्त्र चलाकर राह में ही शाल्व के सब बाणों को काट डाला और अपने तीक्ष्ण बाण उसके ऊपर चलाये। वे बाण लोहू पीनेवाले थे; उन बाणों ने शाल्व के हाथ-पाँव, मस्तक और वक्षःस्थल को छेद करके, रक्त पीकर, उसको मूर्च्छित कर दिया। महावीर शाल्व जब इसी तरह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलम् ।
ब्रह्मास्त्रेणाऽन्तरा छित्वा मुमोचाऽन्यान्पतत्रिणः ॥ १७ ॥
ते तदस्त्रं विधूयाऽऽशु विव्यधू रुधिराशनाः ।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥
तस्मिन्निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते ।
रौक्मिणेयोऽपरं बाणं संदधे शत्रुनाशनम् ॥ १९ ॥
तमर्चितं सर्वदशार्हपूगैराशीविषाग्निज्वलनप्रकाशम् ।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं बभूव हाहाकृतमन्तरिक्षम् ॥ २० ॥
ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सहधनेश्वराः ।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनं च मनोजवम् ॥ २१ ॥
तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम् ।
नैष वध्यस्त्वया वीर ! शाल्वराजः कथंचन ॥ २२ ॥
संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे ।
एतस्य च शरस्याऽजौ नावध्योऽस्ति पुमान्क्वचित् ॥ २३ ॥
मृत्युरस्य महाबाहो ! रणे देवकीनन्दनः ।
कृष्णः संकल्पिता धात्रा तन्न मिथ्या भवेदिति ॥ २४ ॥
ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम् ।
संजहार धनुः श्रेष्ठात्तूणे चैव न्यवेशयत् ॥ २५ ॥

तब प्रद्युम्न ने और एक शत्रुनाशन अमोघ बाण निकाल कर धनुष पर चढ़ाया। यादव लोग जिस की पूजा करते हैं उस अमोघ बाण को धनुष पर चढ़ा हुआ देखकर सब आकाशचारी देवता हाहाकार करने लगे ॥१३।२०॥

इन्द्र आदि देवताओं ने एकत्र होकर नारद और वायु को रुक्मिणी पुत्र प्रद्युम्न के पास भेजा। उन्होंने देवताओं के कहने से उसी समय प्रद्युम्न के पास आकर कहा- हे रुक्मिणी के पुत्र ! इस अर्थात् तल पर ऐसा कोई नहीं जो इस बाण के चलने पर बच जाय; परन्तु तुम्हें किसी तरह शाल्व का वध करना उचित नहीं। इसकी मृत्यु तो श्रीकृष्ण जी के हाथ से ही लिखी है। विधाता के लिखे को सब लोग अमिट मानते हैं। उसका मिथ्या होना अनर्थ है। तुमने धनुष पर जो बाण चढ़ाया है, उसे शीघ्र उतार लो। देवताओं की आज्ञा को मान कर प्रद्युम्न ने उसी समय उस बाण को उतार कर तर्कश में रख लिया। उधर प्रद्युम्न के बाण

तत उत्थाय राजेन्द्र ! शाल्वः परमदुर्मनाः ।
व्यपायात्सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः ॥ २६ ॥
स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरर्दितः ।
सौभमास्थाय राजेन्द्र ! दिवमाचक्रमे तदा ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

से पीड़ित शाल्व को जब होश आया तब वह सेना-सहित सौभ-विमान पर चढ़ कर, द्वारका पुरी को छोड़, आकाश-मार्ग से अपने नगर को चल दिया ॥२६।२७॥

वनपर्व का उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच—आनर्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा ।
महाक्रतौ राजसूय निवृत्ते नृपते ! तव ॥ १ ॥
अपश्यं द्वारकां चाऽहं महाराज ! हतत्विषम् ।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरास्त्रियम् ॥ २ ॥
अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च ।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम् ॥ ३ ॥
अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिकुलं भृशम् ।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥
एवमुक्तः स तु मया विस्तरेणेदमब्रवीत् ।

बीसवां अध्याय ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार शाल्व चला गया। इधर मैं जब आप का राजसूय यज्ञ समाप्त होने पर, लौट कर द्वारकापुरी को गया तब देखा कि नगरी की वह शोभा नहीं रही। वेदपाठ और वषट्कार की ध्वनि नहीं सुन पड़ती। श्रेष्ठ स्त्रियों के पहनावे और सज-धज के बिना, मुख की शोभा फीकी पड़ गई है। मनोहर बाग उजड़े पड़े हैं। नगरी की ऐसी बुरी दशा देख कर, सन्देह में पड़ कर, मैंने कृतवर्मा से पूछा-हे नरसिंह ! वृष्णिवंश के स्त्री पुरुष ऐसे श्री-हीन क्यों देख पड़ रहे हैं ! ऐसी कौन दुर्घटना हो गई है, शीघ्र कहो। उन्होंने कहा-हे यदुश्रेष्ठ ! दुरात्मा शाल्व ने आकर आक्रमण किया था, इसी से नगरी की यह दशा हो गई है। यह सुन कर राजा उग्रसेन, वसुदेव

रोधं मोक्षं च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम ! ॥ ५ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ ! श्रुत्वा सर्वमशेषतः ।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाऽकरवं मतिम् ॥ ६ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ ! समाश्वास्य पुरे जनम् ।
राजानमाहुकं चैव तथैवाऽऽनकदुन्दुभिम् ॥ ७ ॥
सर्वान्वृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा ।
अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः ॥ ८ ॥
शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मां निबोधत ।
नाऽहत्वा तं निवर्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥ ९ ॥
सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टाऽस्मि वः पुनः ।
त्रिःसामा हन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणा ॥ १० ॥
ते मयाऽऽश्वासिता वीरा यथावद्भरतर्षभ ! ।
सर्वे मामब्रुवन्हृष्टा प्रयाहि जहि शात्रवान् ॥ ११ ॥
तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीर्भिरभिनन्दित ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान्प्रणम्य शिरसा भवम् ॥ १२ ॥
शैव्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनानादयन्दिशः ।
प्रध्माय शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृप ! ॥ १३ ॥
प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः ।

और सब वृष्णिवंश के वीरों तथा पुरवासियों को आश्वासन देते हुए मैंने कहा—हे यादवो ! तुम निःधड़क होकर इस नगरी में रहो । मैं जाता हूँ । दुष्ट शाल्व को मारे बिना कभी मैं द्वारका को न लौटूँगा । मैं शाल्व को और उसके सौभ विमान को एक दम नष्ट करके अभी आकर तुमसे मिलता हूँ । अब शत्रुओं को डरानेवाले इस युद्ध के डङ्के को बजाओ ॥५।१०॥

तब सब यादवों ने धैर्य धारकर प्रसन्न-चित्त से मुझे आशीर्वाद देते हुए कहा—तुम जाओ ! तुम्हारा मनोरथ तुरन्त पूरा हो । वृष्णिवंश के बड़े-बूढ़े वीर यादवों के आशीर्वाद को ग्रहण करके, ब्राह्मणों को और देवादिदेव महादेव को प्रणाम करने के उपरान्त मैं रथ पर सवार हुआ । उस में ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं और शैव्य सुग्रीव आदि चार बढ़िया घोड़े जुते हुए थे । जाते समय रथ के पहियों की घरघराहट और पाञ्चजन्य शङ्ख का शब्द दसों दिशाओं में गूँज उठा । चतुरङ्गिणी सेना मेरे साथ चली । अनेक

वल्सेन चतुरङ्गेण यत्तेन जितकाशिना ॥ १४ ॥
समतीत्य बहून्देशान्गिरींश्च बहुपादपान् ।
सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम् ॥ १५ ॥
तत्राऽश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागरमन्तिकात् ।
प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम् ॥ १६ ॥
ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत्सौभमास्थाय शत्रुहन् ॥ १७ ॥
स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥
तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुरं नाऽऽसाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत् ॥ १९ ॥
स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ॥ २० ॥
सैनिकान्मम सूतं च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान्वयं युध्याम भारत ॥ २१ ॥
ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ॥ २२ ॥

जनपद, वृक्षों की पंक्तियों से शोभित पहाड़, नदी, और सरोवर आदि को लांघकर मैं मार्तिकावत नगर में पहुँचा ॥११।१५॥

वहां पहुँचकर सुना कि शाल्व अपने विमान पर चढ़कर समुद्र के निकट गया है। मैं वहां से समुद्रतट की ओर चला। तरङ्गमाला-शोभित समुद्र के पास पहुँचकर शाल्व, अपने चाहे जहां जा सकनेवाले विमान द्वारा, उसके भीतर जाना चाहता था कि मुझे दूर से देखकर हंसते-हंसते वह युद्ध के लिये बारम्बार पुकारने लगा। उस दुरात्मा के पुकारने पर मैं शीघ्रता से धनुष पर डोरी चढ़ाकर मर्मभेदी असंख्य बाण उस पर छोड़ने लगा। किन्तु मेरा एक भी बाण शाल्व के विमान तक न पहुंचा। यह देखकर मेरे क्रोध की आग और भी भड़क उठी। दुष्ट दानव शाल्व भी अत्यन्त क्रोध करके मेरे ऊपर बाण चलाने लगा। मेरी सेना, सारथी, हाथी और घोड़े उसकी बाण-वर्षा से व्याकुल हो गये ॥१६।२०॥

मैं किञ्चितमात्र भी भयभीत नहीं हुआ। मैं और भी उत्साह के साथ निडर होकर युद्ध करने लगा। तब शाल्व के पीछे और वीर पुरुषगण एकत्र हो कर मेरे ऊपर असंख्य बाण चलाने लगे।

छादयामासुरसुरास्तैर्बाणैर्मर्मभेदिभिः ॥ २३ ॥
न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाऽहं सैनिकाश्च मे ॥ २४ ॥
ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान्बहून् ।
आमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाऽक्षिपम् ॥ २५ ॥
न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत्सौभं क्रोशमात्र इवाऽभवत् ॥ २६ ॥
ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रंगवाट इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ॥ २७ ॥
मत्कराग्रविनिर्मुक्ता दानवानांशरास्तथा ।
अंगेषु रुधिरापाङ्गा विविशुः शलभा इव ॥ २८ ॥
ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे ॥ २९ ॥
ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान्नादान्निपतन्ति स्म दानवाः ॥ ३० ॥
पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ।
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ॥ ३१ ॥

मैं शत्रुओं के बाणजाल में ऐसा छिप गया कि मुझे अपनी सेना और सामन्त नहीं देख पड़ते थे। उस बाणजाल में मेरा रथ, घोड़े, ध्वजा, मैं और मेरा सारथी, सब छिप गये; कुछ भी नहीं देख पड़ता था। तब विधिपूर्वक मन्त्र पढ़कर धनुष पर मैंने दस हजार बाण चढ़ाये ॥२४।२५॥

सौभराज की सेना और सामन्तगण आकाश-मार्ग में थे, इसी कारण मेरे सिपाही और वीर योद्धा उनके पास तक नहीं पहुँच सकते थे। आकाश में दर्शक रूप से स्थित देवगण जयध्वनि करके और तालियाँ बजाकर मुझ को उत्साहित करने लगे। मेरे हाथ से छूटे हुए बाण वेग से शत्रुदल में पहुँचकर उनके अङ्गों में घुसने लगे। मेरे बाणों से घायल शत्रु लोग आर्तनाद करने लगे। उस आर्तनाद से सौभ विमान प्रतिध्वनित हो उठा। शत्रुपक्ष के लोगों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग कट कटकर समुद्र में गिरते थे और उन्हें उसी समय जल के जीव खा जाते थे। इसके पश्चात् मैंने पाञ्चजन्य शंख को शक्ति से

जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाऽहमपूरयम् ।
तान्दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्ततः ॥ ३२ ॥
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ।
ततो गदा हलाः प्रासाः शूलशक्तिपरश्वधाः ॥ ३३ ॥
असयः शक्तिकुलिशपाशर्ष्टिकनपाः शराः ।
पट्टिशाश्च भुशुण्ड्यश्च प्रपतन्त्यनिशं मयि ॥ ३४ ॥
तामहं माययैवाऽऽशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ।
तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ॥ ३५ ॥
ततोऽभवत्तम इव प्रकाश इव चाऽभवत् ।
दुर्दिनं सुदिनं चैव शीतमुष्णं च भारत ! ॥ ३६ ॥
अङ्गारपांसुवर्षं च शस्त्रवर्षं च भारत ! ।
एवं मायां प्रकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः ॥ ३७ ॥
विज्ञाय तदहं सर्वं माययैव व्यनाशयम् ।
यथाकालं तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ॥ ३८ ॥
ततो व्योम महाराज ! शतसूर्यमिवाऽभवत् ।
शतचन्द्रं च कौन्तेय ! सहस्रायुततारकम् ।

बजाया। अपने पक्ष के वीर पुरुषों को मरते देखकर शाल्व मेरे साथ माया-युद्ध करने लगा। वह लगातार मुझ पर गदा, हल, प्रास, शूल, शक्ति, परशु, तलवार, वज्र, पाश, बाण, पट्टिश और भुशुण्डी आदि अनेक शस्त्र बरसाने लगा। तब तो मैं भी माया बल का सहारा लेकर, उसके मायाजाल को काटने लगा। फिर वह दुष्ट पर्वत शिलाओं के द्वारा युद्ध करने लगा। वह माया के बल से जगत को कभी घने अँधेरे से ढक लेता था और कभी विकट प्रकाश से उज्ज्वल बना देता था। इसी तरह वह कभी दुर्दिन और कभी सुदिन करके जाड़े-गर्मी, आँधी-पानी आदि के उपद्रव को उत्पन्न करता हुआ फिर मेरे ऊपर राख और अङ्गारों की वर्षा करने लगा। मैं भी मायाबल का सहारा लेकर इन उपद्रवों को रोकने में प्रवृत्त हुआ। बीच-बीच में अवसर पाकर मैं बाण युद्ध भी करता जाता था। इसके उपरान्त एकाएक आकाश मण्डल में सैकड़ों सूर्यों का प्रकाश देख पड़ा। दूसरी ओर तारागण मण्डित सैकड़ों चन्द्रमाओं का उदय हो आया। इस से यह निर्णय करना कठिन हो गया कि दिन है या रात। फिर ऐसा अन्धेरा हुआ कि कौन दिशा किधर है, यह भी न समझ पड़ता था। इस प्रकार अपने को मोह से शिथिल होते देखकर मैंने धनुष पर प्रज्ञास्त्र चढ़ाकर छोड़ा। उस अस्त्र

स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीडितः ।
अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ॥ ५ ॥
इति तस्य निशम्याऽहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ॥ ६ ॥
न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये ।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ ! पश्याम्यनिचितं शरैः ॥ ७ ॥
स तु बाणवरोत्पीडाद्विस्रवत्यसृगुल्बणम् ।
अभिवृष्टे यथा मेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ॥ ८ ॥
अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तंभयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ॥ ९ ॥
अथ मां पुरुषः कश्चिद्द्वारकानिलयोऽब्रवीत् ।
त्वरितो रथमारोप्य सौहृदादिव भारत ! ॥ १० ॥
आहुकस्य वचो वीर ! तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्टिर ! ॥ ११ ॥
द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवेहि विजानीष्व यत्त्वां पितृसखोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥
उपायायाऽद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष ! हतः शूरसुतो बलात् ॥ १३ ॥

बहुत ही पीड़ित हो रहा हूँ; मेरे में अब सामर्थ्य नहीं है। युद्ध-भूमि को छोड़कर भागना न चाहिये, इसी विचार से मैं अब तक यहां ठहरा हुआ हूँ। दारुक सारथी के दीन वचनों को सुनकर मैंने उसके बाणों से बिंधे हुए अङ्गों को देखा तो छाती, मस्तक, शरीर और दोनों भुजाओं में कोई अङ्ग ऐसा नहीं पाया जो बाणों से बिंधा हुआ न था। और उसके शरीर में से लोहू इस प्रकार से बहता था जैसे वर्षा ऋतु में गेरू के पहाड़ से लाल-लाल पानी बहता है। यह देखकर मैंने उस सारथी को धैर्य दिया। इसी अवसर में उग्रसेन का एक सेवक शीघ्रता से रथ दौड़ाता हुआ मेरे पास आया॥५।१०॥

बहुत ही मित्रता का भाव दिखाते हुए उसने कहा—हे कृष्णचन्द्र ! तुमको राजा उग्रसेन ने बुलवा भेजा है, तुम तो यहां युद्ध कर रहे हो, वहां द्वारका में राजा शाल्व ने आकर तुम्हारे पिता वसुदेव जी को मार डाला है। इस से तुम यहां युद्ध करना छोड़ कर द्वारका की रक्षा करो। द्वारका की रक्षा

ततो नाऽज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः ॥ ३९ ॥
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ।
ततस्तदस्त्रं कौन्तेय ! धूतं तूलमिवाऽनिलैः ॥ ४० ॥
तथा तदभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
लब्धालोकस्तु राजेन्द्र ! पुनः शत्रुमयोधयम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

ने प्रकट होते ही उस अन्धेरे को और माया को मिटा दिया। प्रकाश होने पर मैं फिर शत्रु के साथ घोर संग्राम करने लगा ॥३९।४१॥

वनपर्व का बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

अथ एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

वासुदेव उवाच—एवं सः पुरुषव्याघ्रः शाल्वराजो महारिपुः ।
युध्यमानो मया सङ्ख्ये वियदभ्यगमत्पुनः ॥ १ ॥
ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च दीप्तांश्च शूलान्मुसलानसींश्च ।
चिक्षेप रोपान्मयि मन्दबुद्धिः शाल्वो महाराज ! जयाभिकाङ्क्षी ॥ २ ॥
तानाशुगैरापततोऽहमाशु निवार्य हन्तु खगमान्ख एव ।
द्विधा त्रिधा चाऽच्छिनमाशु मुक्तैस्ततोऽन्तरिक्षे निनदो बभूव ॥ ३ ॥
ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम् ।
दारुकं वाजिनश्चैव रथं च समवाकिरत् ॥ ४ ॥
ततो मामब्रवीद्वीर ! दारुको विह्वलन्निव ।

इक्कीसवां अध्याय ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं–हे राजा युधिष्ठिर ! राजा शाल्व कुछ देर तक इस तरह मुझ से घोर संग्राम करके आकाश-मार्ग में चला गया। और मुझे जीतने की इच्छा से मेरे ऊपर तोप, गदा, शूल, मुसल और तलवार आदि अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र फेंकने लगा। मैं भी तीक्ष्ण बाण चलाकर अन्तरिक्ष में ही शत्रु के प्रहारों को रोकने और खण्डित करने लगा। मेरे और उसके बाण परस्पर टकराते थे; उनका घोर शब्द आकाश-मण्डल में व्याप्त हो गया। तब राजा शाल्व ने सैकड़ों-हजारों बाण चलाकर मेरी सेना के हाथी, घोड़े और मेरे रथ, सारथी आदि को ढक दिया ॥१।४॥

दानव के बाणों से अत्यन्त पीड़ित होकर दारुक ने मुझ से कहा–हे वीर ! मैं शाल्व के बाणों से

स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्ववाणप्रपीडितः ।
अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ॥ ५ ॥
इति तस्य निशम्याऽहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ॥ ६ ॥
न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये ।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ ! पश्याम्यनिचितं शरैः ॥ ७ ॥
स तु बाणवरोत्पीडाद्विस्रवत्यसृगुल्बणम् ।
अभिवृष्टे यथा मेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ॥ ८ ॥
अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तंभयं महाबाहो शाल्ववाणप्रपीडितम् ॥ ९ ॥
अथ मां पुरुषः कश्चिद्द्वारकानिलयोऽब्रवीत् ।
त्वरितो रथमारोप्य सौहृदादिव भारत ! ॥ १० ॥
आहुकस्य वचो वीर ! तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्ठिर ! ॥ ११ ॥
द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवेहि विजानीष्व यत्त्वां पितृसखोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥
उपायायाऽद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष ! हतः शूरसुतो बलात् ॥ १३ ॥

बहुत ही पीड़ित हो रहा हूँ; मेरे में अब सामर्थ्य नहीं है। युद्ध-भूमि को छोड़कर भागना न चाहिये, इसी विचार से मैं अब तक यहां ठहरा हुआ हूँ। दारुक सारथी के दीन वचनों को सुनकर मैंने उसके बाणों से बिंधे हुए अङ्गों को देखा तो छाती, मस्तक, शरीर और दोनों भुजाओं में कोई अङ्ग ऐसा नहीं पाया जो बाणों से बिंधा हुआ न था। और उसके शरीर में से लोहू इस प्रकार से बहता था जैसे वर्षा ऋतु में गेरू के पहाड़ से लाल-लाल पानी बहता है। यह देखकर मैंने उस सारथी को धैर्य दिया। इसी अवसर में उग्रसेन का एक सेवक शीघ्रता से रथ दौड़ाता हुआ मेरे पास आया॥५।१०॥

बहुत ही मित्रता का भाव दिखाते हुए उसने कहा—हे कृष्णचन्द्र ! तुमको राजा उग्रसेन ने बुलवा भेजा है, तुम तो यहां युद्ध कर रहे हो, वहां द्वारका में राजा शाल्व ने जाकर तुम्हारे पिता वसुदेव जी को मार डाला है। इस से तुम यहां युद्ध करना छोड़ कर द्वारका की रक्षा करो। द्वारका की रक्षा

तदलं साधु युद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ! ।
द्वारकामेव रक्षस्व कार्यमेतन्महत्तव ॥ १४ ॥
इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ।
निश्चयं नाऽधिगच्छामि कर्तव्यस्येतरस्य च ॥ १५ ॥
सात्यकिं बलदेवं च प्रद्युम्नं च महारथम् ।
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा महदप्रियम् ॥ १६ ॥
अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन ।
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातःसौभपातने ॥ १७ ॥
बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा ।
सात्यकी रौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ॥ १८ ॥
एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथंचन ।
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ १९ ॥
हत शूरसुतो व्यक्तं व्यक्तं चैते परासवः ।
बलदेवमुखा सर्वे इति मे निश्चिता मतिः ॥ २० ॥
सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
सुविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ॥ २१ ॥

करना भी तुम्हारा परम कार्य है। यह सुनकर मैं विचार करने लगा कि क्या करूँ और क्या न करूँ परन्तु मेरे मन में कोई बात निश्चित नहीं हुई। ॥१३।१५॥

और मैंने अपने मन में सात्यकि, बलदेव और प्रद्युम्न आदि महारथियों की निन्दा की, क्योंकि मैं उन लोगों को रक्षा के लिये द्वारका में छोड़कर, सौभ नगर को गिराने आया था। फिर मैंने विचार किया कि बलदेव जी, चारुदेष्ण, सात्यकि, प्रद्युम्न और साम्ब आदि वीरों के जीते जी वसुदेव जी किस तरह मारे गये, क्योंकि इन लोगों के जीते जी इन्द्र भी वसुदेव जी को नहीं मार सकता है। तात्पर्य यह है कि वसुदेव की मृत्यु का सवाद सुनकर मुझे इस में कुछ भी सन्देह न रह गया कि बलदेव आदि महावीर भी अब इस लोक में नहीं हैं ॥१६।२०॥

सब सुहृदों के नाश का ख्याल करके शोक और दुःख से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मैं फिर शाल्व से युद्ध करने का उद्योग कर रहा था, इसी समय मैंने देखा कि वसुदेव जी सौभ विमान के ऊपर से नीचे गिर रहे हैं। यह देखकर मैं मोह के मारे अचेत सा हो गया। हे महाराज ! उस समय गिरते हुए मेरे पिता का स्वरूप ऐसा देख

ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा ।
सौभाच्छूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत् ॥ २२ ॥
तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप ! ।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम् ॥ २३ ॥
विशीर्णमलिनोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्धजः ।
प्रपतन्दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥ २४ ॥
ततः शार्ङ्गं धनुःश्रेष्ठं करात्प्रपतितं मम ।
मोहापन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम् ॥ २५ ॥
ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम् ।
मां दृष्ट्वा रथनीडस्थं गतासुमिव भारत ! ॥ २६ ॥
प्रसार्य बाहू पततः प्रसार्य चरणावपि ।
रूपं पितुर्मे विबभौ शकुनेः पततो यथा ॥ २७ ॥
तं पतन्तं महाबाहो ! शूलपट्टिशपाणयः ।
अभिघ्नन्तो भृशं वीर ! मम चेतो ह्यकम्पयन् ॥ २८ ॥
ततो मुहूर्तात्प्रतिलभ्य संज्ञामहं तदा वीर! महाविमर्दे ।
न तत्र सौभं न रिपुं च शाल्वं पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि ॥ २९ ॥
ततो ममाऽऽसीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम् ।
प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशोऽवाकिरञ्छरान् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

पड़ता था मानों राजा ययाति क्षीणपुण्य होने पर आकाश से गिराया गया है। पगड़ी उनकी कहीं से कहीं को जाती थी और बाल बिखरे हुए थे। उनको देखकर मेरे हाथ से शार्ङ्ग धनुप गिर पड़ा और मैं मोह में आकर रथ की पटली पर बैठ गया ॥२१।२५॥

मुझे इस प्रकार से बैठा हुआ देखकर मेरी सब सेना अचेत होकर हाहाकार करने लगी। और मैं अपने पिता को दोनों हाथ और पाँव पसारे हुए आकाश से गिरते और राह में दैत्यों को उन्हें शूल और पट्टिश से मारते हुए देखकर काँपने लगा। थोड़ी देर में जब मेरा चित्त ठिकाने हुआ तब मैंने वहां अपने वृद्ध पिता और शाल्व और शाल्व के विमान में से किसी को न देखा। तब तो मुझको निश्चय हुआ कि यह सब माया है और यह जानकर मैंने अपने सैकड़ों बाण चारों ओर फैला दिये। ॥२६।३०॥

अथ द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच —ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
शरैरपातयं सौभाच्छिरांसि विबुधद्विषाम् ॥ १ ॥
शरांश्चाऽऽशीविषाकारानूर्ध्वगांस्तिग्मतेजसः ।
प्रैषयं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान्सुवाससः ॥ २ ॥
ततो नाऽदृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह ! ।
अन्तर्हितं माययाऽभूत्ततोऽहं विस्मितोऽभवम् ॥ ३ ॥
अथ दानवसङ्घास्ते विकृताननमूर्धजाः ।
उदक्रोशन्महाराज ! धिष्ठिते मयि भारत ! ॥ ४ ॥
ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महारणे ।
अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ॥ ५ ॥
हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः ।
शरैरादित्यसङ्काशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ॥ ६ ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवाऽन्यतोऽभवत् ।
शब्दोऽपरो महाराज ! तत्राऽपि प्राहरं शरैः ॥ ७ ॥
एवं दश दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च भारत ! ।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ॥ ८ ॥
ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत ।

बाईसवां अध्याय ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण जी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! इसके पीछे मैं शारंग धनुष को हाथ में ले बाण मार-मार कर विमान से दैत्यों को गिराने लगा । फिर मैंने बड़े तीक्ष्ण बाण जो सर्परूप और नोकीले थे, शाल्व को वध करने के लिये मारे । परन्तु शाल्व माया से अन्तर्धान हो गया और दिखाई नहीं दिया । यह देखकर मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥१।३॥

इतने ही में दैत्यों ने आकाश में बड़े ऊँचे स्वर से शब्द किया । उस शब्द को दूर करने के लिये मैंने शब्द सा अस्त्र छोड़ा, उस अस्त्र से शब्द होना बन्द हो गया और सब शब्द करनेवाले दैत्य मारे गये । थोड़ी देर में फिर सब दिशाओं में शब्द होने लगा, तब फिर मैंने शब्द करनेवालों को भी बाणों से मार कर गिरा दिया ॥४।८॥

इसके पीछे वह सौभ नाम विमान प्राग्ज्योतिष नगर की ओर जाता हुआ मुझ को दीखा । उसे देखकर मेरे नेत्र मोहित से हो गये । इतने में दैत्यों ने आकाश से अकस्मात् शिलाओं की भयानक

सौभं कामगमं वीरो मोहयन्मम चक्षुषी ॥ ९ ॥
ततो लोकान्तकरणो दानवो दारुणाकृतिः ।
शिलावर्षेण महता सहसा मां समावृणोत् ॥ १० ॥
सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः पुनः पुनः ।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ॥ ११ ॥
ततोऽहं पर्वतचितः सहयः सहसारथिः ।
अप्रख्यातिमियां राजन्सर्वतः पर्वतैश्चितः ॥ १२ ॥
ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममाऽऽसन्सैनिकास्तदा ।
ते भयार्ता दिशः सर्वे सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ १३ ॥
ततो हाहाकृतमभूत्सर्वं किल विशांपते ।
द्यौश्च भूमिश्च खं चैवाऽदृश्यमाने तथा मयि ॥ १४ ॥
ततो विषण्णमनसो मम राजन्सुहृज्जनाः ।
रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ॥ १५ ॥
द्विषतां च प्रहर्षोऽभूदार्तिश्चाऽद्विषतामपि ।
एवं विजितवान्वीर पश्चादश्रौषमच्युत ॥ १६ ॥
ततोऽहमिन्द्रदयितं सर्वपाषाणभेदनम् ।
वज्रमुद्यम्य तान्सर्वान्पर्वतान्समशातयम् ॥ १७ ॥
ततः पर्वत भारार्ता मन्दप्राणविचेष्टिनाः ।

वर्षा की ॥९।११॥

घोड़े, रथ, सारथी और मैं सब उन पत्थरों से ऐसे ढक गये कि किसी को न देख सके। यह देखकर वृष्णिवंशी सब सेना के वीर भयभीत होकर इधर-उधर भाग गये और मेरे अदृश्य हो जाने के कारण से स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी में हाहाकार मच गया। मेरे भाई-बन्धु—जो कि सैनिक थे—मुझे ऐसी दशा में देखकर बहुत ही व्याकुल हुए और भाग खड़े हुए। वे आंखों में आंसू भर-कर ऊँचे स्वर से विलाप करने लगे। शत्रुपक्ष को इस से बड़ा आनन्द हुआ। फिर मैंने सब पत्थरों के तोड़नेवाले, इन्द्र के प्यारे, वज्रास्त्र को छोड़ा, और उससे दानव की चलाई सब शिलाओं को चूर-चूर कर डाला ॥१२।१७॥

हे महाराज! शिलाओं के भार और प्रहार से पीड़ित तथा शिथिल मेरे घोड़े मानों कांप रहे थे; अब वे भी स्वस्थ हुए। जैसे मेघजाल को हटा-कर सूर्य के प्रकट होने पर सब लोग आनन्दित होते हैं, वैसे ही मुझे भी शिलावृष्टि से मुक्त देख-कर सब भाई-बन्धु प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

हया मम महाराजवेपमाना इवाऽभवन् ॥ १८ ॥
मेघजालमिवाऽऽकाशे विदार्याऽभ्युदितं रविम् ।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन्पुनः ॥ १९ ॥
ततः पर्वतभारार्तान्मन्दप्राणविचेष्टितान् ।
हयान्संदृश्य मां सूतः प्राह तात्कालिकं वचः ॥ २० ॥
साधु संपश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम् ।
अलं कृष्णाऽवमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ॥ २१ ॥
मार्दवं सखितां चैव शाल्वादद्य व्यपाहर ।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ॥ २२ ॥
सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन् ।
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ २३ ॥
योऽपि स्यात्पीठगः कश्चित्किं पुनः समरे स्थितः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ! ॥ २४ ॥
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात्पुनः ।
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नाऽपि सखा तव ॥ २५ ॥
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चाऽवमर्दिता ।
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाऽहं सारथेर्वचः ॥ २६ ॥

पत्थरों की वर्षा से पीड़ित और निर्बल घोड़ों को देखकर दारुक सारथी उस समय के योग्य वचन मुझसे कहने लगा ॥१८।२०॥

हे महाबाहो ! वृष्णिप ! शाल्व अभी तक जीता आकाश में सौभ विमान पर स्थित है । अब कोमलता और मित्रभाव का विचार छोड़कर आप उसको मारने पर ध्यान दीजिए । अब उसे जीवित रखना किसी प्रकार आप का काम नहीं । जिस तरह बन सके, शत्रु का अवश्य नाश कर देना चाहिये । उसकी उपेक्षा करना किसी तरह उचित नहीं । शत्रु चाहे कितना निर्बल हो, उसे कभी जीता न छोड़े । शत्रु यदि अपने घर पर हो तो भी उसके नाश का यत्न करना चाहिये; फिर जो सामने खड़ा युद्ध कर रहा हो उसके लिये क्या कहना है । अब आप देरी न कीजिए । शीघ्र इस दुष्ट को नष्ट करके सब की चिन्ता दूर कीजिए ॥२१।२५॥

हे श्रीकृष्ण ! आपके साथ घोर युद्ध करनेवाला और अब से पहले द्वारका को तोड़-फोड़कर धौंस देनेवाला दानव शाल्व कभी इस तरह के कोमल युद्ध से न मानेगा । उस सारथी की उक्त बात को सुनकर मैंने अपने मन में कहा कि

तत्त्वमेतादिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम् ।
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ॥ २७ ॥
दारुकं चाऽब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति ।
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवान् ॥ २८ ॥
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम् ।
योजयंस्तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ॥ २९ ॥
यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे ।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ॥ ३० ॥
क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम् ।
अनुमन्त्र्याऽहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम् ॥ ३१ ॥
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चाऽत्र रिपवो मम ।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा ॥ ३२ ॥
रूपं सुदर्शनस्याऽऽसीदाकाशे पततस्तदा ।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ॥ ३३ ॥
तत्समासाद्यनगरं सौभंव्यपगतत्विषम् ।
मध्येनपाटयामास क्रकचोदार्विवोच्छ्रितम् ॥ ३४ ॥
द्विधाकृतं ततः सौभं सुदर्शन बलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपातत्रिपुरं यथा ॥ ३५ ॥

यह ठीक कहता है, तब मैंने राजा शाल्व के मारने और सौभ नाम विमान को गिराने का विचार किया ॥२६।२७॥

इसके पीछे मैंने सारथी से कहा कि थोड़ी देर ठहर, फिर अपने प्यारे आग्नेय अस्त्र को जो दिव्य, अभेद्य, पराक्रमी, किसी शस्त्र से न टूटनेवाला, प्रभावशाली, तीक्ष्ण, निर्मल, काल और यम के समान, यक्ष, राक्षस, दानव और विपरीत आचार देखनेवाले राजाओं का नाश करनेवाला था मंत्रित करके धनुष पर चढ़ाया और यह आज्ञा देकर कि सौभ विमान और इसमें जो-जो मेरे शत्रु हैं सब को मार यह कहकर अपने पराक्रम के अनुसार खींचकर क्रोधित होकर छोड़ दिया ॥२८।३२॥

उस समय उस सुदर्शन का स्वरूप ऐसा भयानक दीखता था मानों प्रलयकाल का सूर्य है । उस अस्त्र ने उस सौभ विमान को बीच में से इस प्रकार से चीर डाला जैसे आरा ऊँची लकड़ी को चीर डालता है । और वह विमान फिर इस प्रकार से

तस्मिन्निपतिते सौभे चक्रमागात् करं मम ।
पुनश्चादाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥ ३६ ॥
ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥ ३७ ॥
तस्मिन् विनिहते वीरे दानवाः त्रस्त चेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम शायकैः ॥ ३८ ॥
ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।
शङ्खं प्रध्माय हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ॥ ३९ ॥
तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः संप्रदुद्रुवुः ॥ ४० ॥
एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्तान्पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥ ४१ ॥
तदेतत्कारणं राजन्यदहं नागसाह्वयम् ।
नाऽऽगमं परवीरघ्न न हि जीवेत्सुयोधनः ॥ ४२ ॥
मय्यागतेऽथ वा वीर द्यूतं न भविता तथा ।

अथाऽहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान्पाण्डवान्मधुसूदनः ॥ ४४ ॥
अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ॥ ४५ ॥
परिष्वक्तश्चाऽर्जुनेन यमाभ्यां चाऽभिवादितः ।
संमानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चाऽर्चितोऽश्रुभिः ॥ ४६ ॥
सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम् ।
आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ॥ ४७ ॥
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ ४८ ॥
ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥ ४९ ॥
धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाऽथ चेदिराट् ।
जगाम पाण्डवान्दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥ ५० ॥
केकयाश्चाऽप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनाऽमितौजसा ।
आमन्त्र्य पाण्डवान्सर्वान्प्रययुस्तेऽपि भारत ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।

पीछे श्रीकृष्ण जी पाण्डवों को पूजकर और युधिष्ठिर को धैर्य देकर सूर्य के तेज के समान चमकते हुए उस रथ में, जिसमें शैब्य और सुग्रीव नामवाले घोड़े जुते हुए थे, बैठ गये। अब दूसरे रथ में सुभद्रा और अभिमन्यु को सवार कराकर पाण्डवों से विदा होकर द्वारका को चल दिये। चलते समय श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर को प्रणाम किया और युधिष्ठिर और भीमसेन ने प्यार से श्रीकृष्ण जी के मस्तक को सूँघा अर्जुन, नकुल और सहदेव ने उनको प्रणाम किया, द्रौपदी ने आँसुओं से उन का पूजन किया और धौम्य ऋषि ने सन्मान-सहित आशीर्वाद दिया ॥४३।४७॥

श्रीकृष्ण जी के चले जाने पर धृष्टद्युम्न भी द्रौपदी के पुत्रों को लेकर पाण्डवों से विदा होकर अपने देश को चला गया। और चंदेरी देश का राजा धृष्टकेतु अपनी बहन के साथ तथा कैकय देश के कुमार युधिष्ठिर को पूछ पूछकर अपने-अपने देश को चले गये। ब्राह्मण और पुरवासी जो

विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान्॥ ५२ ॥
समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।
आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ॥ ५३ ॥
युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।
शशास पुरुषान्काले रथान्योजयतेति वै ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

पाण्डवों के साथ थे, वे बार-बार युधिष्ठिर के कहने पर भी उनका साथ छोड़ने को राज़ी नहीं हुए। सब मिलकर वहीं काम्यक वन में युधिष्ठिर के पास रहने लगे। इसके पीछे समय के आने पर युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों का सत्कार करके रथों को जोतने की आज्ञा दी ॥४८।५४॥

वनपर्व का बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥



अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्दशार्हाधिपतौ प्रयाते युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च रथान्महार्हान्परमाश्वयुक्तान् ॥ १ ॥
आस्थाय वीराः सहिता वनाय प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान्वसनानि गाश्च प्रदाय शिक्षाक्षरमन्त्रविद्भ्यः ॥ २ ॥
प्रेष्याःपुरो विंशतिरात्तशस्त्रा धनूंषि शस्त्राणि शरांश्च दीप्तान्।
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च सर्वे समादाय जघन्यमीयुः॥ ३ ॥
ततश्च वासांसि च राजपुत्र्या धात्र्यश्च दास्यश्च विभूषणं च ।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितः प्रगृह्य जघन्यमेवोपययौ रथेन ॥ ४ ॥
ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ।

तेईसवां अध्याय ॥ २३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! यादवश्रेष्ठ वासुदेव के चले जाने पर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य सब बहुमूल्य उत्तम घोड़ों से जुते रथों पर चढ़कर शिव के समान वन को चले। जाते समय उन्होंने वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता ब्राह्मणों को बहुत सा सुवर्ण, वस्त्र और गायें दीं। बीस अनुचर, अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सजधज कर द्वारकापुरी को गये। सुभद्रा के वस्त्र, आभूषण, धाय, दासी आदि को साथ लेकर रथ पर चढ़कर इन्द्रसेन द्वारका को चले ॥१।४॥

इसके पीछे सब पुरवासियों ने युधिष्ठिर के

तं ब्राह्मणाश्चाऽभ्यवदन्प्रसन्ना मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ५ ॥
स चाऽपि तानभ्यवदत्प्रसन्नः सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः ।
तस्थौ च तत्राऽधिपतिर्महात्मा दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ६ ॥
पितेव पुत्रेषु स तेषु भावं चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा ।
ते चाऽपि तस्मिन्भरतप्रवर्हे तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ॥ ७ ॥
ततस्तमासाद्य महाजनौघाः कुरुप्रवीरं परिवार्य तस्थुः ।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवाणा ह्रीताश्च सर्वेऽश्रुमुखाश्च राजन्॥ ८ ॥
वरः कुरूणामधिपः प्रजानां पितेव पुत्रानपहाय चाऽस्मान् ।
पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान्हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ९ ॥
धिग्धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं धिक्सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा ये धर्मनित्यस्य सतस्तवेवम् ॥ १० ॥
स्वयं निवेश्याऽप्रतिमं महात्मा पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थममेयकर्मा हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ११ ॥
चकार यामप्रतिमां महात्मा सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ १२ ॥
तान्धर्मकामार्थविदुत्तमौजा बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।

पास आकर उनकी प्रदक्षिणा की। कुरुजाङ्गल देश के बड़े-बड़े मनुष्यों ने प्रसन्नता पूर्वक युधिष्ठिर का यथोचित सम्मान किया। युधिष्ठिर ने भी अपने भाइयों के साथ उन सबका यथोचित सम्मान किया। फिर कुरुजाङ्गल में रहनेवाली प्रजा की ओर सादर दृष्टि डालकर युधिष्ठिर कुछ रुक गये। पुत्र को देखकर पिता के मन में जैसे स्नेह का भाव उत्पन्न हो जाता है वैसा ही भाव युधिष्ठिर के मन में प्रजा को देखकर हुआ ॥५-७॥

वे सब भी पिता के समान सम्मान की दृष्टि से युधिष्ठिर की ओर देखने लगे। वे सब कुरुवीर धर्मराज के चारों ओर खड़े होकर हाय नाथ! हाय धर्मराज! कहते हुए सिर झुकाये आंसू बहाने लगे। प्रजा के लोग कहने लगे-हे धर्मराज! आप सब कुरुवासियों में श्रेष्ठ और सब के स्वामी हैं। पुत्रतुल्य हम सब पुरवासी और देशवासियों को छोड़कर आप कहां जा रहे हैं! इन दयाहीन और पापी दुर्योधन, शकुनि और कर्ण को धिक्कार है। वही पापी इस तरह आपके अनिष्ट की चेष्टा किया करते हैं। हे धर्मराज युधिष्ठिर! आपने महादेव जी के नगर के समान इन्द्रप्रस्थ नामवाला नगर बसाया है और उसमें मयदानव ने देवताओं की सभा के समान सभा बनाई है आप उनको छोड़कर कहां जा रहे हैं! ॥८-१२॥

आदास्यते वासमिमं निरुष्य वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ॥ १३ ॥
द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक्च भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ॥ १४ ॥
इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाऽभ्यनन्दन्सहिताश्च चक्रुः प्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् ॥ १५ ॥
आमन्त्र्य पार्थं च वृकोदरं च धनञ्जयं याज्ञसेनीं यमौ च ।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा युधिष्ठिरेणाऽनुमता यथास्वम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

ऐसे विलाप के वाक्य सुनकर धर्म, अर्थ और काम के ज्ञाता महातेजस्वी अर्जुन ने कहा—राजा युधिष्ठिर वन में बारह वर्ष व्यतीत करके लौटेंगे और शत्रुओं के यश को हरने की चेष्टा करेंगे। आप लोगों में जो जो मुख्य ब्राह्मण और तपस्वी हैं उन सबसे हमारी प्रार्थना है कि आप लोग हमारी तरफ से ऐसी प्रार्थना ईश्वर से कीजिए जिसमें हमारा मनोरथ सिद्ध हो। यह सुनकर उन सब ब्राह्मण और सब वर्णों के मनुष्यों ने उस धर्मधारी राजा युधिष्ठिर की प्रसन्नता-पूर्वक स्तुति और परिक्रमा की। और अन्य पाण्डव और द्रौपदी से पूछ और उनसे सत्कार पा-पाकर अपने-अपने देशको बहुत ही खिन्न हो-होकर चले गये ॥१३।१६॥

———*———

वनपर्व का तेईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसङ्गरः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन्सर्वान्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
द्वादशेमाः समाऽस्माभिर्वस्तव्यं निर्जने वने ।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥ २ ॥
बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम् ।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥ ३ ॥

चौबीसवां अध्याय ॥ २४ ॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—हे राजा जनमेजय! उन सब लोगों के चले जाने पर सत्यप्रतिज्ञ धर्मात्मा युधिष्ठिर ने अपने सब भाइयों से कहा—भाइयो! हम को अब बारह वर्ष तक निर्जन वन में रहना होगा। इस लिए इस महावन में ऐसा रमणीय स्थान ढूंढ निकालो, जहां बहुत से मृग और पक्षी हों, बहुत से फल फूल हों, पुण्यात्मा मनुष्य रहते हों और जहां रहकर हम सुखपूर्वक वनवास के

एवमुक्ते प्रत्युवाच धर्मराजं धनञ्जयः ।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच—भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्युपासिता ।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किंचन ॥ ५ ॥
त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ ।
द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ॥ ६ ॥
यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं संचरते वशी ।
देवलोकाद्ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ॥ ७ ॥
अनुभावांश्च जानासि ब्राह्मणानां न संशयः ।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ॥ ८ ॥
त्वमेव राजञ्जानासि श्रेयःकारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥ ९ ॥
इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥ १० ॥
यत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन्किमन्यन्मन्यते भवान् ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच- ममाऽप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत्समुदाहृतम् ।

बारह वर्ष बितावें ॥१।३॥

यह सुनकर अर्जुन ने कहा-हे धर्मराज! आप वृद्ध महर्षियों और ब्राह्मणों की उपासना में नित्य अपना समय व्यतीत करते हैं। इस मनुष्य-लोक में ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसको आप न जानते हों। आपने व्यास आदि ब्राह्मण और नारद जी की उपासना की है, जो जितेन्द्रिय और सब लोकों के घूमनेवाले हैं और देवता, गन्धर्व और अप्सराओं के लोकों से लेकर ब्रह्मलोक तक जाते हैं ॥४।७॥

इसके सिवाय आप ब्राह्मणों के अनुभाव अर्थात् करने और न करने के योग्य काम को और प्रभाव अर्थात् निग्रह और अनुग्रह शक्ति को भी जानते हैं। मोक्ष और उसका साधन भी आपसे छिपा हुआ नहीं है। आप जहां रहना चाहें वहीं हम लोग भी रहेंगे ॥८।१०॥

हमारी समझ में तो यह द्वैतवन का सरोवर जल से भरा हुआ और बड़ा रमणीक है और यहां पुष्प, फल और पक्षी भी बहुत से हैं जो आपकी इच्छा हो तो बारह वर्ष यहीं व्यतीत किये जायें। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा-हे अर्जुन! मेरी भी इच्छा द्वैतवन के रमणीक सरोवर पर ही रहने की है वहीं को हम चलेंगे ॥१०।१२॥

वैशम्पायन उवाच- ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः साग्निहोत्रश्च तथैव च निरग्नयः ।
स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः ॥ १४ ॥
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ।
ततः सिद्धा महात्मानः शतशः संशितव्रताः ॥ १५ ॥
ते यात्वा पाण्डवास्तत्र बहुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥ १६ ॥
तमालतालाम्रमधूकनीपकदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १७ ॥
महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थुर्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसंघास्तस्मिन्वने बर्हिणकोकिलाश्च ॥ १८ ॥
करेणुयूथैः सह यूथपानां मदोत्कटानामचलप्रमाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां तस्मिन्वने राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १९ ॥
मनोरमां भोगवतीमुपेत्य पूतात्मनां चीरजटाधराणाम् ।
तस्मिन्वने धर्मभृतां निवासे ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ॥ २० ॥
ततः स यानादवरुह्य राजा सभ्रातृकः सजनः काननं तत् ।

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय ! इसके पीछे धर्मात्मा पाण्डव द्वैतवन की ओर चले। उनके साथ अग्निहोत्र युक्त स्वाध्याय-निरत, निरग्निक, वनवासी और भिक्षु तथा और-और तपस्या से सिद्ध व्रतधारी ब्राह्मण भी चले ॥१३।१५॥

द्वैतवन में जाकर उन्होंने देखा, वर्षान्त होने के कारण ताल, तमाल, आम्र, महुआ, कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और कनेर आदि के फूले हुए वृक्षों से श्याम वन की अपूर्व शोभा हो रही है। मोर, चकोर, बर्हिण और कोकिल आदि पक्षी वृक्षों की डालियों पर चढ़े मधुर स्वर से बोल रहे हैं ॥१६।१८॥

उस महावन में युधिष्ठिर ने बड़े-बड़े मतवाले हाथियों को हथिनियों समेत विचरते हुए देखा। पाण्डवों ने रमणीय सरस्वती नदी के किनारे पहुँचकर देखा-सिद्ध ऋषिगण पुण्यात्मा जटा-वल्कलधारी धार्मिक ऋषियों के आश्रमों में स्थित हैं। इसके पश्चात् धर्मात्मा युधिष्ठिर ने रथ से उतरकर, इन्द्र जैसे स्वर्ग में प्रवेश करें, वैसे द्वैतवन में प्रवेश

विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठस्त्रिविष्टपं शक्र इवाऽमितौजाः ॥ २१ ॥
तं सत्यसन्धं सहिताऽभिपेतुर्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसंघाः ।
वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं मनस्विनं तं परिवार्य तस्थुः ॥ २२ ॥
स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान्प्रत्यर्चितो राजवद्देववच्च ।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ २३ ॥
स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्चितः पुष्पधरस्य मूले महाद्रुमस्योपविवेश राजा ॥ २४ ॥
भीमश्च कृष्णा च धनञ्जयश्च यमौ च ते चाऽनुचरा नरेन्द्रम् ।
विमुच्य वाहानवशाश्च सर्वे तत्रोपतस्थुर्भरतप्रवर्हाः ॥ २५ ॥
लतावतानावनतः स पाण्डवैर्महाद्रुमः पञ्चभिरेव धन्विभिः ।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभिर्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

किया ॥१९।२१॥

उनके दर्शनों की इच्छा से चारण और सिद्ध लोगों के समूह के समूह चले आये और वनवासियों ने भी उनको चारों ओर से घेर लिया। सिद्धों ने राजयोग्य सम्मान से उन सबका पूजन किया। युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने भी उनको प्रणाम किया। फिर ब्राह्मणों-सहित युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर महर्षियों के आश्रम में प्रवेश किया। वहां धर्म-परायण तपस्वियों ने पुण्यशील युधिष्ठिर की पिता के समान पूजा की। इसके पीछे धर्मराज एक कदम्ब के पेड़ की जड़ पर, जिसमें फल लग रहे थे, बैठ गये ॥२२।२४॥

भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और सब साथी भी अपने-अपने रथों में से उतर-उतर-कर उनके पास जा बैठे। उनसे वह कदम्ब का वृक्ष, जिसकी डालियां झुक रही थीं, इस प्रकार से सुशोभित हो गया, जैसे हाथियों से बड़ा पहाड़ शोभायमान् हो जाता है ॥२५।२६॥

वनपर्व का चौबीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच–तत्काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः सुखोचिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु सरस्वतीशालवनेषु तेषु ॥ १ ॥

पच्चीसवां अध्याय ॥ २५ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! पाण्डव उस वन में कष्टरूपी वनवास करने के लिये पहुंच-कर सरस्वती नदी के रम आनन्दरूपी शाल वृक्षों के वन में विहार करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिर

यतींश्च राजा स मुनींश्च सर्वांस्तस्मिन्वने मूलफलैरुदग्रैः ।
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां संतर्पयामास महानुभावः ॥ २ ॥
इष्टीश्च पित्र्याणि तथा क्रियाश्च महावने वसतां पाण्डवानाम् ।
पुरोहितस्तत्र समृद्धतेजाश्चकार धौम्यः पितृवन्नृपाणाम् ॥ ३ ॥
अपेत्य राष्ट्राद्वसतां तु तेषामृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम ।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ॥ ४ ॥
तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः ।
अपूजयत्सुरऋषिमानवार्चितं महामुनिं ह्यनुपमसत्त्ववीर्यवान् ॥ ५ ॥
स सर्वविद् द्रौपदीं वीक्ष्य कृष्णां युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च ।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा तपस्विमध्येऽस्मयताऽमितौजाः ॥ ६ ॥
तं धर्मराजो विमना इवाऽब्रवीत्सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी ।
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्टस्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य ॥ ७ ॥
मार्कण्डेय उवाच न तात हृष्यामि न च स्मयामि प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः ।
तवाऽऽपदं त्वद्य समीक्ष्य रामं सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ॥ ८ ॥
स चापि राजा सह लक्ष्मणेन वने निवासं पितुरेव शासनात् ।
धन्वी चरन्पार्थ मयैव दृष्टो गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ ॥ ९ ॥

वहां रहकर वहां के रहनेवाले यती, मुनि और मुख्य-मुख्य ब्राह्मणों को सुन्दर फलमूल और जल से भोजन कराते थे ॥१।२॥

महातेजस्वी पुरोहित धौम्य पाण्डवों के पिता की नांई, श्राद्ध और यज्ञादि कर्म सब करते रहते थे। इसी अवसर में एक दिन तीव्र और बढ़े हुए तेज से प्रकाशमान महर्षि मार्कण्डेय जी पाण्डवों के आश्रम में अतिथि के रूप से आये। महामान्य युधिष्ठिर ने अनुपम धर्मवीर्यवान, प्रज्वलित अग्नि के तुल्य, देवता और ऋषियों से पूजित महर्षि मार्कण्डेय को आये हुए देखकर विधि से उनकी पूजा की ॥३।५॥

उस समय महात्मा मार्कण्डेय पाण्डवों को और देखकर और मन ही मन श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण करके तपस्वियों की मण्डली में हँस पड़े। यह देखकर धर्मराज ने उदास होकर कहा—हे महाराज! आप मुझे देखकर प्रसन्नता से हँस पड़े, यह देखकर सब तपस्वी लज्जित हुए हैं ॥६।७॥

मार्कण्डेय मुनि ने कहा हे युधिष्ठिर! न मैं हँसता हूँ न मुस्कराता हूँ और न अति हर्ष होने से मुझ कुछ घमण्ड होता है। परन्तु तुम्हारी आपत्ति को देखकर मुझको दशरथ के पुत्र सत्यव्रत रामचन्द्र की याद आ गई ॥७।८॥

मैंने पहले समय में ऋष्यमूक पर्वत पर उन रामचन्द्रजी को अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित

सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा यमस्य नेता नमुचेश्च हन्ता ।
पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं वासं वने दाशरथिश्चकार ॥ १० ॥
स चापि शक्रस्य समप्रभावो महानुभावः समरेष्वजेयः ।
विहाय भोगानचरद्वनेषु नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ ११ ॥
नृपाश्च नाभागभगीरथादयो महीमिमां सागरान्तां विजित्य ।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १२ ॥
अलर्कमाहुर्नरवर्य सन्तं सत्यव्रतं काशिकरूपराजम् ।
विहाय राज्यानि वसूनि चैव नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १३ ॥
धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणैस्तं पूजयन्तो नरवर्य सन्तः ।
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १४ ॥
महाबलान्पर्वतकूटमात्रान्विषाणिनः पश्य गजान्नरेन्द्र ।
स्थितान्निदेशे नरवर्य धातुर्नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १५ ॥
सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य तथा यथावद्विहितं विधात्रा ।
स्वयोनितः कर्म सदाऽऽचरन्ति नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १६ ॥
सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।

पिता की आज्ञा से वनवास करते हुए देखा था ॥९॥

महस्राक्ष इन्द्र उन्हीं रामचन्द्र का दूसरा स्वरूप है और रामचन्द्र यमराज के नियता, नमुचि दैत्य के मारनेवाले, निष्पाप, इन्द्र के समान प्रभाव रखनेवाले और युद्ध में अजय थे। उन्होंने भी अपने पिता की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझकर सब भोगों को छोड़कर वनवास किया था । सो समर्थ को अधर्म करना उचित नहीं है ॥१०।११॥

देखो, नाभाग भागीरथ और काशी करूप देश के अलर्क आदि राजाओं ने समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को विजय किया और सत्य से सब लोक अपने वश में कर लिये। इस से अधर्म करना किसी अवस्था में ठीक नहीं है ॥१२।१३॥

देखो, विधाता के नियम को मानते हुए सप्तर्षि-गण आकाश-मण्डल में प्रकाशित हो रहे हैं । हे नरेन्द्र! क्या महाबली पर्वताकार नागगण और क्या अन्य प्राणी, कोई भी आज तक विधाता के बहुत प्राचीन काल से स्थापित नियम का उल्लंघन नहीं कर सका। इसलिये सामर्थ्य होने पर भी विधि-कृत नियम को लांघकर अधर्म करना किसी तरह उचित नहीं ॥१४।१५॥

संसार में ईश्वर ने जितने जीवधारी उत्पन्न किये हैं सब जन्म ले-लेकर अपने जन्म के अनुसार कर्म करते हैं इस कारण से समर्थ को धर्म ही करना चाहिये। तुम्हारा सत्य और धर्म जैसा चाहिये वैसा ही है और यश और तेज भी सबसे अधिक सूर्य

यशश्च तेजश्च तवाऽपि दीप्तं विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥ १७ ॥
यथाप्रतिज्ञं च महानुभाव कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्तामादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच–तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षिस्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्थांस्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरां सः ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

और अग्नि के समान है ॥१६।१७॥

सो तुम इस कष्टरूपी वनवास को पूरा करके अपने तेज से फिर कौरवों से अपनी लक्ष्मी को लोगे। वैशम्पायन जी बोले–हे राजा जनमेजय! मार्कण्डेय जी उक्त प्रकार से कहकर और पाण्डव और धौम्य ऋषि से पूछकर उत्तर दिशा को चले गये ॥१८।१९॥

वनपर्व का पच्चीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्याय ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच–वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥ १ ॥
ईर्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ॥ २ ॥
यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः ।
आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयङ्गमः ॥ ३ ॥
ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥ ४ ॥
अथाऽब्रवीद्बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।

छब्बीसवां अध्याय ॥ २६ ॥

वैशम्पायन जी बोले—हे राजा जनमेजय! महात्मा पाण्डवों के रहने समय उस महावन में ब्राह्मणों का जमघट बना रहता था। ब्राह्मणों के वेदपाठ की ध्वनि से वह स्थान ब्रह्मलोक सा जान पड़ता था ॥१।२॥

ब्राह्मण लोग ऋक्, यजु, साम की मनोहर ऋचाएँ पढ़ते थे। पाण्डवों के धनुष की टंकार और ब्राह्मणों की वेदध्वनि सुनकर सबका चित्त प्रसन्न होता था। इस प्रकार से वह पाण्डवों का क्षत्रिय-कुल ब्राह्मणकुल से सुशोभित हो गया ॥३।४॥

एक दिन सन्ध्या करने के समय में बक और दाल्भ्य नाम ऋषियों ने युधिष्ठिर से कहा–हे

सन्ध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥ ५ ॥
पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ संप्रज्वलितपावकाम् ॥ ६ ॥
चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वासिष्ठाः काश्यपैः सह ॥ ७ ॥
आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः ।
सर्वस्य जगतः श्रेष्ठा ब्राह्मणाः संगतास्त्वया ॥ ८ ॥
इदं तु वचनं पार्थ शृणुष्व गदतो मम ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव ॥ ९ ॥
ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून्वनानीवाऽग्निमारुतौ ॥ १० ॥
नाऽब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषेदिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥ ११ ॥
चरन्नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाऽध्यगच्छद्बलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ॥ १२ ॥
अन्यूनमासीदसुरस्य कामैर्वैरोचनेः श्रीरपि चाऽक्षयाऽऽसीत् ।
लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसंप्रयोगात्तेष्वाचरन्दुष्टमथो व्यनश्यत् ॥ १३ ॥

कुन्तीनन्दन ! देखो भार्गव, आंगिरस, वसिष्ठ, काश्यप, आगस्त्य और आत्रेय आदि गोत्रों के श्रेष्ठ ब्राह्मण आप से रक्षित होकर अग्नि को जलाकर होम आदिक कैसे–कैसे उत्तम–उत्तम कर्म कर रहे हैं। हे कौरव ! हम इस समय आपको कुछ बातें सुनाना चाहते हैं; भाइयों के साथ एकाग्र होकर सुनिए ॥५।९॥

ब्रह्मकुल क्षत्रियकुल से और क्षत्रियकुल ब्रह्मकुल से मिलकर बड़े प्रबल हो जाते हैं और शत्रु को इस प्रकार से जला सकते हैं जैसे अग्नि और वायु एक दूसरे की सहायता से वन को जला देते हैं। जो राजा ब्राह्मणहीन होता है उसके दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं और मोह छोड़कर ब्राह्मण का रखनेवाला राजा निश्चय शत्रुओं को जीतता है ॥१०।११॥

देखो प्रजापालन और कल्याणरूप धर्म के करनेवाले राजा बलि ने ऐश्वर्य के मिलने के लिये सिवाय ब्राह्मण के दूसरा उपाय नहीं पाया क्योंकि ब्राह्मणों से मिलाप करने के कारण से उसकी लक्ष्मी अक्षय और मनोकामना पूर्ण हुई थी। और फिर पृथ्वी पाकर जब उसने ब्राह्मणों के साथ दुष्टता की, तब उसका सब ऐश्वर्य नष्ट हो गया ॥१२।१३॥

नाऽब्राह्मणं भूमिरियं सभूतिर्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय ।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतम् ॥ १४ ॥
कुञ्जरस्येव संग्रामे परिगृह्याऽङ्कुशग्रहम् ।
ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १५ ॥
ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥ १६ ॥
यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ॥ १७ ॥
ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत् ।
अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य परिवृद्धये ॥ १८ ॥
अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय ।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय ॥ १९ ॥
ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकंदाल्भ्यमपूजयन् ।

यह पृथ्वी जिसकी खाई समुद्र है, ब्राह्मणहीन राजा को कभी नहीं चाहती है और जिस राजा को ब्राह्मण शिक्षा करता है उसस सदैव झुकी हुई रहती है ॥१४॥

ब्राह्मणहीन राजा का बल इस प्रकार से नष्ट हो जाता है जैसे संग्राम में हाथी के सवार का बल हाथीवान के बिना कुछ नहीं चलता है ॥१४।१५॥

ब्राह्मण में अनुपममति और क्षत्रिय में प्रबल पराक्रम होते हैं। जब ये दोनों मिल जाते हैं, तब सब लोग प्रसन्न होते हैं। ब्राह्मण का बल पाकर क्षत्रिय शत्रुओं को इस प्रकार से नाश कर डालता है जैसे वायु की सहायता से अग्नि सूखे हुए वन को भस्म कर देता है ॥१६।१७॥

मेधावी चतुर पुरुष सदा अप्राप्त वस्तु को पाने और प्राप्त वस्तु को बढाने के विचार से ब्राह्मणों के उपदेश ग्रहण करते है। इसलिये हे महाराज! आप भी अप्राप्त वस्तु को पाने के लिये और प्राप्त वस्तु को बढाने तथा यथायोग्य दान करने के लिये यशस्वी, वेद और वेदाङ्ग के ज्ञाता, शास्त्रज्ञानयुक्त ब्राह्मणों की सेवा कीजिये। हे युधिष्ठिर! आप सदा ब्राह्मणों के ऊपर हृदय से भक्ति और श्रद्धा रखते हैं। इसी कारण सभी लोकों में आप का निर्मल यश अपना उज्ज्वल प्रकाश फैला रहा है ॥१८।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! बक और दाल्भ्य ऋषियों की उक्त शिक्षा को सुनकर [illegible] ब्राह्मणों ने उनकी प्रशंसा की और

युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥
द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः ।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ॥ २२ ॥
कर्णश्रवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः ।
हारीतः स्थूलकर्णश्च अग्निवेश्योऽथ शौनकः ॥ २३ ॥
कृतवाक्च सुवाक्चैव बृहदश्वो विभावसुः ।
ऊर्ध्वरेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ॥ २४ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरन्दरमिवर्षयः ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

व्यास, नारद, परशुराम, पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि, कृतचेता, सहस्रपाद, कर्णश्रवा, मुञ्ज, लवणाश्व, काश्यप, हारीत, स्थूलकर्ण, अग्निवेश्य, शौनक, कृतवाक्, सुवाक्, बृहदश्व, विभावसु, ऊर्ध्वरेता, वृषामित्र, सुहोत्र, और होत्रवाहन, आदि ऋषि और ब्राह्मणों ने प्रसन्नमन होकर युधिष्ठिर की इस प्रकार से पूजा की, मानों ऋषि लोग इन्द्र की पूजा करते हैं ॥२१।२५॥

वनपर्व का छब्बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥ १ ॥
प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत ॥ २ ॥
द्रौपद्युवाच—न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।
विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥ ३ ॥

सत्ताईसवां अध्याय ॥ २७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पीछे पाण्डवों ने द्रौपदी सहित दुःख और शोक में मग्न होने के कारण से सायंकाल के समय अनेक कथाएँ कहीं। पीछे वह पतिव्रता और दर्शनीय द्रौपदी युधिष्ठिर से कहने लगी कि महाराज! उस पापी, दयाहीन, दुरात्मा और दुर्मति दुर्योधन को आपकी ओर का किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं है, क्योंकि उस दुष्ट को आपको मृगचर्म ओढ़कर वन को आते

यस्त्वां राजन्! मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नाऽन्वतप्यत दुर्मतिः ॥ ४ ॥
आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत्तदा ॥ ५ ॥
सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥ ६ ॥
चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत! निष्क्रान्ते वनायाऽजिनवाससि ॥ ७ ॥
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन्! दुःशासनस्य च ॥ ८ ॥
इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम! ।
दुःखेनाऽभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ९ ॥
इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चाऽऽसीत्ते पुरातनम् ।
शोचामि त्वां महाराज! दुःखानर्हं सुखोचितम् ॥ १० ॥
दान्तं यच्च सभामध्ये आसनं रत्नभूषितम् ।
दृष्ट्वा कुशबृसीं चेमां शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ ११ ॥
यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १२ ॥

हुए देखकर दुःख नहीं हुआ। उस पापी का हृदय भी लोहे का है, क्योंकि उसने आप ऐसे धर्मात्मा को रूखी बातें सुनाईं और न देने के योग्य दुःख देकर भी अपने मित्र वर्गों के साथ आनन्द करता रहा। ॥४।६॥

मैंने देखा कि हम सब के वनवास को चलने पर सब कौरवों की आँखों से आँसू गिरते थे, परन्तु इन चारों पापी अर्थात् दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन, सब की आँखें पसीजी भी नहीं। आप दुःख के योग्य नहीं हैं, किन्तु सर्वथा सुख भोगने ही के योग्य हैं। मैं आपके पहले और अब के शयन को देखकर अत्यन्त दुःखी होती हूँ ॥७।१०॥

कहाँ तो वह रत्नजटित हाथीदाँत का आसन, कहाँ यह कुश का बिछौना, कहाँ वह सभा जिसमें राजा लोग आपको घेरे बैठे रहते थे, कहाँ यह जंगल, भला मेरे मन का दुःख क्योंकर शान्त होवे। यह वही आपका सूर्य जैसा चमकीला शरीर है, जिस पर चन्दन लगा हुआ और सुन्दर रेशमी वस्त्र पड़ा

या त्वाऽहं चन्दनाऽऽदिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम् ।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ! ॥ १३ ॥
या त्वाऽहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र ! सा त्वां पश्यामि चीरिणम् ॥ १४ ॥
यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ॥ १५ ॥
यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीव गुणवत्प्रभो ! ॥ १६ ॥
सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे ।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान् ॥ १७ ॥
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ।
यत्ते भ्रातॄन्महाराज ! युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ॥ १८ ॥
सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ।
अदुःखार्हान्मनुष्येन्द्र ! नोपशाम्यति मे मनः ॥ १९ ॥
भीमसेनमिमं चाऽपि दुःखितं वनवासिनम् ।
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते ॥ २० ॥
भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम् ।

हुआ रहता था। अब इसी शरीर पर आप भस्म लगाये हुए, चीर धारण किये हुए हैं। यह देखकर मेरे मन में मोह होना चला आता है ॥१३।१४॥

देखिए, आपके घर में नाना प्रकार के बनाये हुए भोग सोने के बर्तनों में ब्राह्मण, सन्यासी, गृहस्थी और ब्रह्मचारियों को बँटते थे और बर्तन भी रत्न जड़े हुए सहस्रों वर्तमान थे और ब्राह्मणों की भी सब मनोकामना पूर्ण की जाती थी। अब मैं इनमें से एक बात को भी न देखकर परम दुःखी हो रही हूँ। इसके सिवाय मैं आपके इन सब भाइयों को जिनको कुण्डलधारी जवान जवान रसोइए अच्छे-अच्छे पदार्थ बना-बनाकर भोजन कराते थे, इनको वन के फलमूल आदि पदार्थ खा-खाकर जीता हुआ देखती हूँ ॥१५।१९॥

ये इस दुःख के योग्य नहीं हैं मैं इनको देख-देखकर परम दुःखी हो रही हूँ। इन भीमसेन को अपने हाथ से सब काम करते और सुन्दर वस्त्रों के बदले मृगचर्म ओढ़ते हुए देखकर आपको क्रोध

यस्त्वां राजन्! मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नाऽन्वतप्यत दुर्मतिः ॥ ४ ॥
आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत्तदा ॥ ५ ॥
सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥ ६ ॥
चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत! निष्क्रान्ते वनायाऽजिनवाससि ॥ ७ ॥
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन्! दुःशासनस्य च ॥ ८ ॥
इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम! ।
दुःखेनाऽभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ९ ॥
इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चाऽऽसीत्ते पुरातनम् ।
शोचामि त्वां महाराज! दुःखानर्हं सुखोचितम् ॥ १० ॥
दान्तं यच्च सभामध्ये आसनं रत्नभूषितम् ।
दृष्ट्वा कुशवृसीं चेमां शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ ११ ॥
यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १२ ॥

हुए देखकर दुःख नहीं हुआ। उस पापी का हृदय भी लोहे का है, क्योंकि उसने आप ऐसे धर्मात्मा को रूखी बातें सुनाईं और न देने के योग्य दुःख देकर भी अपने मित्र वर्गों के साथ आनन्द करता रहा ॥१।६॥

मैंने देखा कि हम सब के वनवास को चलने पर सब कौरवों की आंखों से आंसू गिरते थे, परन्तु इन चारों पापी अर्थात् दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन, सब की आंखें पसीजीं भी नहीं। आप दुःख के योग्य नहीं हैं, किन्तु सर्वथा सुख भोगने ही के योग्य है। मैं आपके पहले और अब के शयन को देखकर अत्यन्त दुःखी होती हूँ ॥७।१०॥

कहां तो वह रत्नजटित हाथीदांत का आसन, कहा यह कुश का बिछौना, कहा वह सभा जिसमें राजा लोग आपको घेरे बैठे रहते थे, कहां यह जंगल, भला मेरे मन का दुःख क्योंकर शान्त होवे। यह वही आपका सूर्य जैसा चमकीला शरीर है, जिस पर चन्दन लगा हुआ और सुन्दर रेशमी वस्त्र पड़ा

सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ! ॥ १३ ॥
या त्वाऽहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र ! मा त्वां पश्यामि चीरिणम् ॥ १४ ॥
यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ॥ १५ ॥
यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीव गुणवत्प्रभो ! ॥ १६ ॥
सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे ।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान् ॥ १७ ॥
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ।
यत्ते भ्रातॄन्महाराज ! युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ॥ १८ ॥
सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ।
अदुःखार्हान्मनुष्येन्द्र ! नोपशाम्यति मे मनः ॥ १९ ॥
भीमसेनमिमं चाऽपि दुःखितं वनवासिनम् ।
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते ॥ २० ॥
भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम् ।

हुआ रहता था। अब उसी शरीर पर आप भस्म लगाये हुए, चीर धारण किये हुए हैं। यह देखकर मेरे मन में मोह होना चला आता है ॥१३।१४॥

देखिए, आपके घर में नाना प्रकार के बनाये हुए भोग सोने के बर्त्तनों से ब्राह्मण, सन्यासी, गृहस्थी और ब्रह्मचारियों को बँटते थे और बर्त्तन भी रत्न जड़े हुए सहस्रों वर्त्तमान थे और ब्राह्मणों की भी सब मनोकामना पूरी की जाती थी। अब मैं इनमें से एक बात को भी न देखकर परम दुःखी हो रही हूँ। इसके सिवाय मैं आपके इन सब भाइयों को जिनको कुण्डलधारी जवान जवान रसोइए अच्छे-अच्छे पदार्थ बना-बनाकर भोजन कराते थे, उनको वन के फलमूल आदि पदार्थ खा-खाकर जीता हुआ देखती हूँ ॥१५।१९॥

ये इस दुःख के योग्य नहीं हैं मैं इनको देख-देखकर परम दुःखी हो रही हूँ। इन भीमसेन को अपने हाथ से सब काम करते और सुन्दर वस्त्रों के बदले मृगचर्म ओढ़ते हुए देखकर आपको क्रोध

सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २१ ॥
सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २२ ॥
अयं कुरून्रणे सर्वान्हन्तुमुत्सहते प्रभुः ।
त्वत्प्रतिज्ञां प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः ॥ २३ ॥
योऽर्जुनेनाऽर्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
शरावमर्दे शीघ्रत्वात्कालान्तकयमोपमः ॥ २४ ॥
यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः ।
यज्ञे तव महाराज ! ब्राह्मणानुपतस्थिरे ॥ २५ ॥
तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः ।
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद्राजन्न कुप्यसि ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम् ।
न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत ! ॥ २७ ॥
यो देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत् ।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २८ ॥
यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः ।
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परन्तपः ॥ २९ ॥

क्यों नहीं आता है। भीमसेन सुख के योग्य हैं। आज यद्यपि दुःखी और वनवासी हैं परन्तु केवल आपकी प्रतिज्ञा के ही बन्धन में बँधे होने के कारण से चुप हैं, नहीं तो इनका उत्साह सब कौरवों को मारने का है और इनके सिवाय ये अर्जुन भी यद्यपि दो ही भुजा रखते हैं परन्तु सहस्रबाहु के समान पराक्रमी हैं ॥२०।२४॥

और शीघ्र बाण छोड़ने और लगाने का अभ्यास रखने के कारण से यमराज और काल के समान हैं। इनके ही शस्त्र के प्रताप से सब राजा लोग आपके आज्ञाकारी हुए थे। और आपके यज्ञ में आकर ब्राह्मणों के समीप स्थित हुए थे। सो इन पुरुषोत्तम अर्जुन को, जिनकी पूजा देवता और दानव भी करते हैं, इस अवस्था में देखकर आप कौरवों पर क्रोध क्यों नहीं करते हैं। मैं तो सुख के योग्य और दुःख के अयोग्य अर्जुन को वनवास करते और आपको क्रोध न करते हुए देख-देखकर परम दुःखी होती हूँ ॥२५।२७॥

जिस अकेले अर्जुन ने सब देवता और मनुष्यों को युद्ध में पराजय किया, जिसने राजाओं से युद्ध कर-करके धन लिया और जो पांच सौ बाण एक ही वेग में मार सकता है, उस अर्जुन को वनवासी

क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः ।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३० ॥
श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ।
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३१ ॥
दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ! ।
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात्क्षमसि पार्थिव ! ॥ ३२ ॥
नकुलं सहदेवं च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ।
अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र ! कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३३ ॥
द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात्क्षमसि पार्थिव ! ॥ ३४ ॥
नूनं च तव वै नाऽस्ति मन्युर्भरतसत्तम ! ।
यत्ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ ३५ ॥
न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम् ।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ ३६ ॥
यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ ! सदा परिभवन्त्युत ॥ ३७ ॥
तत्त्वया न क्षमा कार्या शत्रून्प्रति कथंचन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नाऽत्र संशयः ॥ ३८ ॥

देखकर आपको क्रोध किस कारण से नहीं आता है। देखिए, यह ढाल और तलवार रखनेवाला नकुल और यह दर्शनीय सहदेव दोनों दुःख के अयोग्य वनवास कर रहे हैं, इन्हें भी देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं आता ? ॥२८।३२॥

फिर इनके सिवाय आप मुझ द्रुपद की पुत्री पाण्डवों की वधू और धृष्टद्युम्न की बहन को भी वन में दुःखी देख रहे हैं, परन्तु आप क्षमा रूप ही धारण कर रहे हैं, आपको क्रोध लेशमात्र भी नहीं है, क्योंकि मुझको और अपने भाइयों को दुःखी देखकर भी आपके मन को पीड़ा नहीं होती है ॥३३।३६॥

संसार में इस बात को बिना तर्कना के सब कोई कहता है कि क्षत्रिय बिना क्रोध के नहीं होता है, परन्तु आपको मैं क्षत्रिय होने पर विपरीत देखती हूं। जो क्षत्रिय समय पर अपना पराक्रम

क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च वाणशतानि यः ।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३० ॥
श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ।
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३१ ॥
दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ! ।
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात्क्षमसि पार्थिव ! ॥ ३२ ॥
नकुलं सहदेवं च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ।
अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र ! कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३३ ॥
द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात्क्षमसि पार्थिव ! ॥ ३४ ॥
नूनं च तव वै नाऽस्ति मन्युर्भरतसत्तम ! ।
यत्ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ ३५ ॥
न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम् ।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ ३६ ॥
यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ ! सदा परिभवन्त्युत ॥ ३७ ॥
तत्त्वया न क्षमा कार्या शत्रून्प्रति कथंचन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नाऽत्र संशयः ॥ ३८ ॥

देखकर आपको क्रोध किस कारण से नहीं आता है । देखिए, यह ढाल और तलवार रखनेवाला नकुल और यह दर्शनीय सहदेव दोनों दुःख के अयोग्य वनवास कर रहे हैं, इन्हें भी देखकर आप को क्रोध क्यों नहीं आता ! ॥२८।३२॥

फिर इनके सिवाय आप मुझ द्रुपद की पुत्री पाण्डवों की वधू और धृष्टद्युम्न की बहन को भी वन में दुःखी देख रहे हैं, परन्तु आप क्षमा रूप ही धारण कर रहे हैं, आपको क्रोध लेशमात्र भी नहीं है, क्योंकि मुझको और अपने भाइयों को दुःखी देखकर भी आपके मन को पीड़ा नहीं होती है ॥३३।३६॥

संसार में इस बात को बिना तर्कना के सब कोई कहता है कि क्षत्रिय बिना क्रोध के नहीं होता है, परन्तु आपको मैं क्षत्रिय होने पर विपरीत देखती हूं । जो क्षत्रिय समय पर अपना पराक्रम

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति ।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीपरितापवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

नहीं दिखलाता है, वह संसार में आदर नहीं पाता। आपको शत्रु पर क्षमा करना किसी अवस्था में उचित नहीं है, किन्तु शत्रुओं को क्रोध करके मारना ही चाहिये। हां क्षत्रिय को क्षमा के समय पर क्षमा भी करना उचित है, उस समय पर जो क्षमा नहीं करता है लोग उसको नहीं चाहते हैं और उसका परलोक भी नाश हो जाता है ॥२७।३९॥

वनपर्व का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशोऽध्याय ॥ २८ ॥

द्रौपद्युवाच अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ १ ॥
असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥ २ ॥
बलिरुवाच—क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात ! उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद् ब्रूहि पृच्छते ॥ ३ ॥
श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ! ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत्सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ ४ ॥
तस्मै प्रोवाच तत्सर्वमेवं पृष्टः पितामहः ।
सर्वनिश्चयवित्प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ॥ ५ ॥
प्रह्लाद उवाच-न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।

अट्ठाईसवां अध्याय ॥ २८ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे महाराज ! उक्त विषय में एक पुराना इतिहास भी है, जिसमें विरोचन के पुत्र बलि और प्रह्लाद का संवाद है। उस प्राचीन इतिहास को मैं कहती हूँ, सुनिए। एक समय राजा बलि ने अपने दादा प्रह्लाद से जो दैत्यों का इन्द्र, ज्ञानी और धर्मों का रहस्य जाननेवाला था, पूछा—हे तात ! क्षमा और क्रोध इन दोनों में से कौनसा कल्याण करनेवाला है ? आप कृपा करके ठीक-ठीक वर्णन करके मेरे संशय को दूर कीजिए। हे धर्मज्ञ ! इस विषय में जो उचित हो सो आप निश्चित रूप से कहिए। मैं आपकी शिक्षा के अनुसार ही सब कार्य करूँगा ॥१।४॥

यह सुनकर प्रह्लाद कहने लगे पुत्र ! यह निश्चय समझो कि सदा क्रोध दिखाना या सदा

इति तात ! विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ॥ ६ ॥
यो नित्यं क्षमते तात ! बहून्दोषान्स विन्दति ।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथाऽरयः ॥ ७ ॥
सर्वभूतानि चाऽप्यस्य न नमन्ते कदाचन ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात ! पण्डितैरपि वर्जिता ॥ ८ ॥
अवज्ञाय हि तं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुं चाऽस्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः ॥ ९ ॥
यानं वस्त्राण्यलंङ्काराञ्छयनान्यासनानि च ।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ॥ १० ॥
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।
प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ॥ ११ ॥
न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कथंचन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन्मरणादपि गर्हितम् ॥ १२ ॥
क्षमिणं तादृशं तात ! ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥ १३ ॥
अथाऽस्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चाऽस्य प्रवर्तन्ते यथाकाममचेतसः ॥ १४ ॥

क्षमा करना दोनों ही बातें अच्छी नहीं। पण्डित लोग सदा क्षमा रहना अच्छा इस कारण से नहीं कहते हैं कि क्षमा से बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। क्षमावान् से शत्रु नहीं डरते, और अनुचर लोग भी उसका आदर नहीं करते ॥५।८॥

और उसकी आज्ञा को न मानकर उसके धन को लेना विचारते हैं और यह इच्छा करते हैं कि इसकी सवारी, वस्त्र, अलङ्कार, शयन, आसन, अन्न-पान और सब पदार्थों को हमी ले लें। अधिक कहां तक कहें, क्षमावान् मनुष्य के अन्न आदि पदार्थों की रक्षा के लिये नियुक्त मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहें सो ले लेते हैं और स्वामी की आज्ञा पाने पर भी देने के योग्य वस्तु को किसी को नहीं देते हैं। इसलिये हे बलि! यह अवज्ञा इस संसार में मरण से भी अधिक निन्दित गिनी जाती है ॥९।१२॥

इसके सिवाय दास पुत्र, नौकर और उदासीन मनुष्य क्षमावान मनुष्य से कटुए वचन भी कह लेते हैं और उसका तिरस्कार करके उसकी स्त्रियों को लेने की भी इच्छा करते हैं और उसकी स्त्रियां भी अपनी इच्छा के अनुसार बर्ताव करती हैं। जब स्त्रियों को अपनी प्रसन्नतापूर्वक काम करने में

तथा च नित्यमुदिता यदि नाऽल्पमपीश्वरात् ।
दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाऽप्यपकुर्वते ॥ १५ ॥
एते चाऽन्ये च वहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम् ।
अथ वैरोचने ! दोषानिमान्विद्ध्यक्षमावताम् ॥ १६ ॥
अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसा वृतः ।
क्रुद्धो दण्डान्प्रणयति विविधान्स्वेन तेजसा ॥ १७ ॥
मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसा वृतः ।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात्स्वजनतस्तथा ॥ १८ ॥
सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम् ।
संतापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ॥ १९ ॥
क्रोधाद्दण्डान्मनुष्येषु विविधान्पुरुषो दहन् ।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात्प्राणेभ्यः स्वजनादपि ॥ २० ॥
योऽपकर्तॄंश्च हर्तॄंश्च तेजसैवोपगच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ २१ ॥
यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् ।
अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥
तस्मान्नाऽत्युत्सृजेत्तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत् ।

थोड़ा सा भी दण्ड न दिया जाय तब उन स्त्रियों में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं और फिर वे अपकार करने लगती हैं ॥१३।१५॥

इनके सिवाय और भी बहुत से दोष क्षमावानों में हो जाते हैं । जो मनुष्य रजोगुणी होकर क्रोध के कारण से योग्य और अयोग्य दण्ड देता है, उसका मित्रों से विरोध और सुजनों से द्वेष हो जाता है । और वह अपमान करने से धनहानि, धिक्कार, अनादर, सन्ताप, द्वेष, और मोह से दुःखी होकर अपने बहुत से शत्रु उत्पन्न कर लेता है । क्रोध के कारण से अनेक प्रकार के दण्ड देनेवाला मनुष्य ऐश्वर्य, प्राण और स्वजनों से शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है ॥१६।२०॥

जो मनुष्य उपकारी और अनुपकारी दोनों से क्रोध के साथ बर्ताव रखता है, उससे सब लोग इस प्रकार से डरते हैं जैसे घर में रहनेवाले सर्प से मनुष्य भयभीत रहते हैं । जिस मनुष्य से सब लोग अप्रसन्न रहते हैं उसको ऐश्वर्य कहां से मिल सकता है, क्योंकि वे लोग उसके छिद्र को देखा करते हैं । इससे मनुष्य को चाहिये कि अत्यन्त क्रोधी अथवा अत्यन्त मीठा स्वभाव न रक्खे, जब जैसा समय देखे तब वैसा करे । इस लोक और

काले कालेतु संप्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत्॥ २३ ॥
काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ॥ २४ ॥
क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान्।
ये ते नित्यमसंत्याज्या यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ २५ ॥
पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत्तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ २६ ॥
अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम् ।
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥ २७ ॥
अथ ये बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम् ।
पापान्स्वल्पेऽपि तान्हन्यादपराधे तथाऽनृजून् ॥ २८ ॥
सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत् ।
द्वितीयेसति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् ॥ २९ ॥
अजानता भवेत्कश्चिदपराधः कृतो यदि ।
क्षन्तव्यमेव तस्याऽऽहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥ ३० ॥
मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।
नाऽसाध्यं मृदुना किंचित्तस्मात्तीव्रतरं मृदु ॥ ३१ ॥

परलोक में सुख उसी को मिलता है, जो समय के अनुसार क्रोध और क्षमा करता है। अब मैं तुमसे यह बात विस्तारपूर्वक कहती हूं कि किस-किस समय पर मनुष्य को क्षमा करना चाहिये तुमको भी उसके विपरीत करना उचित नहीं है ॥२१।२५॥

जिस मनुष्य ने पहले कोई उपकार किया हो और पीछे उससे अपराध बन पड़े तो उस उपकार के बदले उसके अपराध को क्षमा करे। दूसरे अज्ञानियों के किये हुए अपराध को भी क्षमा करे, परन्तु मनुष्य अज्ञानी हर एक अवस्था में नहीं रहता इससे जो मनुष्य ज्ञान की अवस्था में अपराध करे और अपने को अज्ञानी बतावे तो ऐसे पुरुष को थोड़े से भी अपराध पर दण्ड देवे ॥२६।२८॥

हां एक अपराध तो सब जीवों का ही क्षमा के योग्य है, परन्तु दूसरी बेर थोड़ा सा भी अपराध करना दण्ड-योग्य है। और जो कोई मनुष्य बिना जाने कोई अपराध करे, तो उसका अपराध अच्छी तरह परीक्षा करने पर क्षमा करना चाहिये। क्षमाशील व्यक्ति उग्र और कोमल स्वभाव के सभी का सहार कर सकता है। ऐसी कोई बात नहीं जो क्षमा के लिये असाध्य हो। इस कारण क्षमा ही सब प्रकार के उपायों से बढ़कर बल रखती है। कहने का

देशकालौ तु संप्रेक्ष्य बलाबलमथाऽऽत्मनः ।
नाऽदेशकाले किंचित्स्याद्देशकालौ प्रतीक्षताम् ॥ ३२ ॥
तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ।
एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः ॥ ३३ ॥
अतोऽन्यथाऽनुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ।
द्रौपद्युवाच—तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप ! ॥ ३४ ॥
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चाऽपकारिषु ।
न हि कश्चित्क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून्प्रति ॥ ३५ ॥
तेजसश्चाऽऽगते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ।
मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले प्राप्ते द्वयं चैतद्यो वेद स महीपतिः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

तात्पर्य यह है कि देश, समय और अपनी क्षमता को देखकर संसार के प्रत्येक काम में हाथ डालना चाहिये। इसके सिवाय कभी-कभी लोक-निन्दा के भय से भी अपराधी को क्षमा करना उचित होता है। पण्डितों ने क्षमा के ये सब समय बतलाये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य समय क्रोध प्रकट करने का अवसर समझना चाहिये ॥२०।३३॥

इस प्रकार इतिहास समाप्त करके द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज ! मैं समझती हूँ कि आपके भी क्रोध प्रकट करने का यह ठीक समय आ गया है। यह लोभी धृतराष्ट्र के पुत्र सदा से आपकी बुराई की चेष्टा कर रहे हैं। इस कारण अब उनके प्रति क्षमा का व्यवहार करना आपको उचित नहीं। जो मनुष्य कोमल स्वभाववाले होते हैं लोग उनका अनादर करते हैं और जिनका स्वभाव तीक्ष्ण अर्थात् तेज होता है लोग उनसे डरते हैं। इस कारण समय के अनुसार कोमलता या उग्रता प्रकट करनी चाहिये। समयानुसार इन दोनों का जो ठीक उपयोग करता है वही राजा है ॥३४।३६॥

वनपर्व का अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इति विद्धि महाप्राज्ञे ! क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥
यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ! ।

यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे! ।
तस्याऽभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ २ ॥
क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत्कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥ ३ ॥
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात्क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ४ ॥
वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाऽकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नाऽवाच्यं विद्यते तथा ॥ ५ ॥
हिंस्यात्क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान्संपूजयीत च ।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद्यमसादनम् ॥ ६ ॥
एतान्दोषान्प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चाऽमुत्र चोत्तमम् ॥ ७ ॥
तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत् ।
एतद् द्रौपदि ! संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ॥ ८ ॥

उन्तीसवाँ अध्याय ॥ २९ ॥

द्रौपदी की उक्त बात को सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे महाप्राज्ञे! मनुष्यों को मारने और वृद्धि करनेवाला क्रोध ही है और क्रोध ही ऐश्वर्य और अनैश्वर्य दोनों की जड़ है। क्रोध रोकनेवाले मनुष्य को ऐश्वर्य मिलता है और नित्य क्रोध करनेवाले का नाश हो जाता है। इस संसार में क्रोध ही प्रजा का नाश करनेवाला है। इसलिये मेरे जैसा मनुष्य ऐसे संसार के नाश करनेवाले क्रोध को क्योंकर धारण करे ॥१।३॥

क्रोध ही के कारण से मनुष्य पाप करता है, बड़ों को मारने लगता है और अनुचित बातें कह-कर अच्छे मनुष्यों का अपमान करता है। यह नहीं समझता कि यह बात कहने के योग्य है या नहीं। क्रोधी के लिये कोई बात न करने या न कहने के योग्य नहीं है। वह चाहे अवध्यों को मार डाले और वध्यों को पूजे और क्रोध के कारण से अपने को यमलोक में पहुचावे ॥४।६॥

सो जो मनुष्य क्रोध के इन दोषों को जानते हैं और अपना कल्याण चाहते हैं, वे क्रोध कभी नहीं करते। पण्डित लोग भी क्रोध न करने की शिक्षा करते हैं फिर भला मेरे जैसा मनुष्य क्योंकर क्रोध करे। हे द्रौपदी! मैं क्रोध में उक्त दोष समझता हूँ इसी से अपने क्रोध को नहीं बढ़ाता ॥७।८॥

जो मनुष्य क्रोधी पर क्रोध नहीं करता वह अपने और दूसरों को बड़े भय से बचाता है और दोनों के दोष को दूर कर देता है। मूढ़ और

आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् ।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन्द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ९ ॥
मूढो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान्नरः ।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ॥ १० ॥
तस्याऽऽत्मानं संत्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः ।
तस्माद् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ ११ ॥
विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति ।
अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १२ ॥
तस्माद्बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा ।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाऽऽहुरापत्स्वपि विजानता ॥ १३ ॥
मन्योर्हि विजयं कृष्णे ! प्रशंसन्तीह साधवः ।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥ १४ ॥
सत्यं चाऽनृततः श्रेयो नृशंसाच्चाऽनृशंसता ।
तमेवं बहुदोषं तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ॥ १५ ॥
मादृशः प्रसृजेत्कस्मात्सुयोधनवधादपि ।
तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥ १६ ॥
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ।

असमर्थ लोग बलवानों पर क्रोध करके अपने प्राण गँवाते हैं ॥९।१०॥

ऐसी अवस्था में मरने से उसका परलोक नष्ट हो जाता है इसमें असमर्थ को क्रोध रोकना ही अच्छा कहा है। इसी प्रकार से जो मनुष्य विद्वान और असमर्थ होकर क्लेश पाने पर भी क्लेश देनेवाले पर क्रोध नहीं करता है और उसको नहीं मारता है उसको परलोक में बड़ा आनन्द मिलता है॥११।१२॥

इसी कारण से बलवान और निर्बल विशेष जाननेवाले सब को ही आपत्तिकाल में क्षमा ही करना उचित है। साधु लोग भी क्रोध को जीतना अच्छा कहते हैं और सत्पुरुषों की तो सदा ही यही बुद्धि रहती है। जो साधु क्षमावान् होता है उसकी जय रहती है, जैसे झूठ बोलने से सत्य कहना और दुःख देने से दया करना श्रेष्ठ गिना जाता है इसी प्रकार से साधुओं ने क्रोध करना भी वर्जित किया है कि जिसमें बहुत से दोष हैं ॥१३।१५॥

हे द्रौपदी ! दुर्योधन यदि मार डालने के लिये भी तैयार हो तो मुझ ऐसा पुरुष, बहुदोषमय और सज्जनों द्वारा निन्दित, क्रोध को कभी अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकता। जिसका क्रोध आन्तरिक नहीं होता उसी को बहुदर्शी पण्डित लोग तेजस्वी कहते

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥ १७ ॥
क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि ! न यथावत्प्रपश्यति ।
नाऽकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ १८ ॥
हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून्क्रुद्धस्तुदत्यपि ।
तस्मात्तेजसि कर्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ॥ १९ ॥
दाक्ष्यं ह्यमर्षः* शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः ।
गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥ २० ॥
क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक्तेजोऽभिपद्यते ।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे ! क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २१ ॥
क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत्तेज इत्यभिनिश्चितम् ।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ॥ २२ ॥
तस्माच्छश्वत्त्यजेत्क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन् ।
श्रेयान्स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २३ ॥
यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम् ।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथं स्वित्स्यादनिन्दिते ॥ २४ ॥

है। जो विद्वान् क्रोध को प्रज्ञा से रोकता है वही, विद्वान् तत्त्वदर्शी जनों की राय में, तेजस्वी है। हे द्रौपदी! कुपित पुरुष कार्य के ठीक रूप को नहीं देख पाता। वह गुरुजन को पीड़ा पहुंचाने, मर्यादा का उल्लङ्घन करने, अवध्य का वध आदि अनुचित कर्म करने लगता है। अतएव तेजस्वी पुरुष को क्रोध से सदा दूर रहना चाहिये। क्रोध के वश होने से निपुणता, अमर्ष, शूरता, फुर्ती आदि तेज के गुण नहीं प्राप्त हो सकते, ये गुण तो नम्रता से ही प्राप्त होते हैं ॥१६।२०॥

जो मनुष्य क्रोध को छोड़ देता है वह समय के अनुसार तेजस्वी हो जाता है परन्तु क्रोधी में तेज का होना असम्भव है। मूर्ख लोग तो निश्चय क्रोध ही को तेज मानते हैं परन्तु मनुष्यलोक में यह क्रोध केवल नाशकारक ही है। इसमें अच्छा कर्म करने-वाले मनुष्य को क्रोध त्यागना ही उचित है क्योंकि क्रोधी मनुष्य से तो वह मनुष्य भी अच्छा निश्चय माना गया है जिसने अपना धर्म छोड़ दिया हो। ॥२१।२३॥

यदि मुझ ऐसा पुरुष इस प्रकार का आचरण

* अमर्षोनाम परोत्कर्षासहनम् ।

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात्संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ २५ ॥
अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद्गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥
आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥
हन्युर्हि पितरः पुत्रान्पुत्राश्चापि तथा पितॄन् ।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन्भार्यास्तथैव च ॥ २८ ॥
एवं संकुपिते लोके जन्म कृष्णे! न विद्यते ।
प्रजानां सन्धिमूलं हि जन्म विद्धि शुभानने! ॥ २९ ॥
ताः क्षिपेरन्प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि! तादृशे ।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ॥ ३० ॥
यस्मात्तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥
क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने! ।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा ।

करे तो लोग क्या कहेंगे? यदि लोक में पृथ्वी के समान क्षमाशील लोग न होते तो सब जगह सदा समर की आग जलती रहती, कोई भी क्रोध छोड़कर मेल करना न चाहता। यदि सभी लोग बुरा करनेवाले के बुरे की चेष्टा करके उससे बदला लेना चाहते तो सब जगत् चौपट हो जाता और सब जगह अधर्म बढ़ जाता ॥२५।२७॥

हे द्रौपदी! यदि क्रोध से अन्धा होकर पिता पुत्र को और पुत्र पिता को, अथवा स्त्री पति को और पति स्त्री को मार डालें तो सब संसार का संहार हो जाय और प्रजा की उत्पत्ति बन्द हो जाय। इसलिये हे सुन्दरी! मेल को ही तुम प्रजा की उत्पत्ति का कारण जानो। हे द्रौपदी! मनुष्य यदि हेलमेल को पसन्द न करते तो परस्पर क्रोध के आवेश में आकर एक दूसरे को मार डालते। पृथ्वी पर पृथ्वी के समान क्षमाशील लोग रहते हैं, इसी से प्रजा की उत्पत्ति और उन्नति होती है ॥२८।३१॥

इस कारण हे सुशोभने! सब प्रकार की आपत्तियों में क्षमा करना ही ठीक है क्योंकि क्षमाशील व्यक्ति ही सब प्राणियों की उत्पत्ति का कारण कहे गये हैं। जो मनुष्य बलवान्, प्रभाववान्, विद्वान् और उग्र है उसको कोई वाक्यरूपी बाण अथवा हस्त आदि

यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३३ ॥
प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः ।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३४ ॥
अत्राऽप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
गीताः क्षमावता कृष्णे! काश्यपेन महात्मना ॥ ३५ ॥
क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३६ ॥
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ३७ ॥
अतियज्ञविदां लोकान्क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ।
अतिब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ॥ ३८ ॥
अन्ये वै यजुषां* लोकाः कर्मिणामपरे तथा ।
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥ ३९ ॥
क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥ ४० ॥
तां क्षमां तादृशीं कृष्णे! कथमस्माद्विधस्त्यजेत् ।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥ ४१ ॥

से मारे और वह क्रोध को जीतने के कारण से क्रोध न करे तो उसके लोक सदैव बने रहते हैं ॥३२।३३॥

और जो अल्प विज्ञानी और क्रोधी होता है उसके दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं। हे द्रौपदी! अब हम तुमसे क्षमा के विषय में कश्यप जी की कही हुई गीता कहते हैं। क्षमा ही धर्म, यज्ञ, वेद शास्त्र रूपी है इसको जो जानता है वह अवश्य क्षमा करता है ॥३४।३६॥

और ब्रह्म, सत्य, भूत, भावी और शौच भी क्षमा ही है और क्षमा ही जगत् का आधार है। क्षमावान् पुरुषों को वे लोक मिलते हैं, जो यज्ञ के करनेवालों को भी नहीं मिलते और तेजस्वियों का तेज और तपस्वियों का ब्रह्म भी क्षमा ही जानो ॥३७।३८॥

तपस्वी और वेद जाननेवालों को जो लोक मिलते हैं, क्षमावान् पुरुषों को उनसे भी ऊँचे लोक मिलते हैं। यजुष अर्थात् त्रेताग्नि साध्य कर्म करनेवाले और कर्मनिष्ठ अर्थात् वापी कूप आदि बनानेवाले मनुष्यों को और ही लोक मिलते हैं। परन्तु क्षमावान् को वे लोक मिलते हैं, जो ब्रह्मलोक में भी परम पुनीत माने जाते हैं ॥३९।४०॥

तेजस्वियों का तेज, तपस्वियों का ब्रह्म और

* यजुषां दक्षिणाक साध्य नाऽऽहवनीयस्माग्निदयम् घटकर्मवतान् ॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ४२ ॥
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
इह संमानमर्हन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४३ ॥
येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाऽभिहतः सदा ।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात्क्षान्तिः परा मता ॥ ४४ ॥
इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि! मा क्रुधः॥ ४५ ॥
पितामहः शान्तनवः शमं संपूजयिष्यति ।
कृष्णश्च देवकीपुत्रः शमं संपूजयिष्यति ॥ ४६ ॥
आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः ।
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ ४७ ॥
सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च ।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ ४८ ॥
एतैर्हि राजा नियतं चोद्यमानः शमं प्रति ।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्न चेल्लोभान्नशिष्यति ॥ ४९ ॥
कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये ।

सत्यवादियों का सत्य क्षमा ही है। क्षमा में ही यज्ञ और शान्ति प्रतिष्ठित है। हे द्रौपदी! ब्रह्म, यज्ञ, सत्य और सब लोक जिसके आधार पर स्थित हैं उस क्षमा को मुझ ऐसा पुरुष कैसे छोड़ सकता है? ॥४१।४२॥

ज्ञानी पुरुष सदा क्षमा को धारण करते हैं, इसी से उन्हें ब्रह्मलोक मिलता है। क्षमाशील पुरुषों को इस लोक और परलोक दोनों में सद्गति प्राप्त होती है। वे इस लोक में बहुत सम्मान और परलोक में उत्तम गति पाते हैं। क्षमा के प्रभाव से जिनका क्रोध दूर हो गया है, वे देहान्त होने पर परम पवित्र लोक में जाते हैं। इसलिये क्षमा ही सब से श्रेष्ठ पुरुषार्थ है ॥४३।४५॥

हे द्रौपदी! काश्यप ऋषि ने क्षमाशील पुरुषों के सम्बन्ध में यह पवित्र गाथा कही है। तुमने क्षमा के सम्बन्ध की सब बातें सुन लीं; अब क्रोध छोड़कर प्रसन्न हो। भीष्म पितामह, श्रीकृष्ण जी, द्रोणाचार्य, विदुर, कृपाचार्य, सञ्जय, सोमदत्त, युयुत्सु, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और हमारे पितामह व्यासदेव ये सब क्षमा की बड़ी सराहना किया करते हैं। ॥४६।४७॥

यदि पूर्वोक्त महात्मा पुरुष राजा धृतराष्ट्र को

निश्चितं मे सदैवैतत्पुरस्तादपि भाविनि ॥ ५० ॥
सुयोधनो नाऽर्हतीति क्षमामेवं न विन्दति ।
अर्हस्तत्राऽहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ ५१ ॥
एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः ।
क्षमा चैवाऽऽनृशंस्यं च तत्कर्ताऽस्म्यहमञ्जसा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदीसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्याय ॥२९॥

शान्ति की राह पर चलावें तो वे अवश्य हम लोगों को राज्य लौटा सकते हैं; नहीं तो लोभवश होने से वे निस्सन्देह नष्ट हो जाएँगे। मुझे जान पड़ता है, भरतवंश के नाश का समय आ गया है। हे सुन्दरी! मुझे पहले से ही यह निश्चय है कि सुयोधन कभी क्षमा को नहीं ग्रहण कर सकता; क्योंकि वह उसका पात्र ही नहीं। मैं क्षमा के योग्य हूँ, इसी से क्षमा ने स्वयं मेरा आश्रय ग्रहण किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्षमा और दया महात्माओं का प्रधान चिह्न और सनातन धर्म है। इससे मैं अवश्य ही क्षमा और दया को धारण करूँगा ॥५०।५२॥

वनपर्व का उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्याय ॥ ३० ॥

द्रौपद्युवाच—नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव ।
पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥
कर्मभिश्चिन्तितो लोको गत्यां गत्यां पृथग्विधः ।
तस्मात्कर्माणि नित्यानि लोभान्मोक्षं यियासति ॥ २ ॥
नेह धर्माऽऽनृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नाऽऽर्जवेन च ।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥ ३ ॥

तीसवाँ अध्याय ॥ ३० ॥

अब द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा—पूर्व पुरुष परम्परा से चले आ रहे राज्य का पालन करने के बारे में आपको भ्रम और मोह में डालनेवाले धाता और विधाता को प्रणाम है। कर्म के द्वारा, भिन्न-भिन्न गतियों के अनुसार, जुदे-जुदे लोक मिलते हैं। इस कारण कर्म ही नित्य पदार्थ है। लोग केवल लोभवश होकर मोक्ष पाने की इच्छा करते हैं। कर्म न करके केवल दया, धर्म, क्षमा, सरलता और लोकापवाद से डरने के द्वारा कोई संसार में उन्नति नहीं कर सकता। आप सब तरह सुख के योग्य होकर भी भाइयों के साथ इस दुर्दशा को पहुँचे हैं, यही इस मेरे कथन का प्रमाण है। आप लोग वर्तमान या बीते हुए समय में कभी धर्म के मार्ग से पग भर भी विचलित नहीं हुए, यहा तक

त्वां चेद्व्यसनमभ्यागादिदं भारत ! दुःसहम् ।
यत्त्वं नाऽर्हसि नाऽपीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ ४ ॥
न हि तेऽध्यगमज्जातु तदानीं नाऽद्य भारत ! ।
धर्मात्प्रियतरं किंचिदपि चेज्जीवितादिह ॥ ५ ॥
धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते ।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ६ ॥
भीमसेनार्जुनौ चेमौ माद्रेयौ च मया सह ।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥ ७ ॥
राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ॥ ८ ॥
अनन्या हि नरव्याघ्र ! नित्यदा धर्ममेव ते ।
बुद्धिः सततमन्वेति च्छायेव पुरुषं निजा ॥ ९ ॥
नाऽवमंस्था हि सदृशान्नाऽवराञ्छ्रेयसः कुतः ।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्धत ॥ १० ॥
स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान् ।
दैवतानि पितृंश्चैव सततं पार्थ ! सेवसे ॥ ११ ॥
ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ ! तर्पिताः ।

कि समय-समय पर अपने धर्म को प्राणों से भी बढ़कर प्यारा समझा है। देवता, ब्राह्मण और गुरुजन, सभी जानते हैं कि आपका राज्य और जीवन धर्म के ही लिये है। आप, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव, सभी मुझे सहज ही छोड़ सकते हैं, किन्तु धर्म का त्याग किसी तरह नहीं कर सकते। मैंने सुना है कि जो राजा धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म भी करता है; किन्तु मैं देखती हूँ कि आप तो धर्म की रक्षा करते हैं, परन्तु धर्म आपकी रक्षा नहीं करता। हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपकी बुद्धि छाया की तरह सदा धर्म के पीछे चलती है। आप सारी पृथ्वी के मालिक होकर भी क्या बराबरी के, क्या बड़े और क्या छोटे, सबका सम्मान समान रूप से करते हैं। आपने कभी अभिमान या अहङ्कार का भाव प्रकट नहीं किया ॥१।१०॥

आप सदा पूजा आदि के द्वारा देवता, पितर और ब्राह्मणों की सेवा किया करते हैं। पहले आप अनेक प्रकार की भोग की सामग्रियों के द्वारा ब्राह्मण, मोक्षाभिलाषी यति और गृहस्थों को सुवर्ण के थालों में परोसकर आहार देते थे और मैं आपकी आज्ञा के अनुसार उनकी सेवा किया करती थी। वानप्रस्थ मुनियों को आप धातुओं के बने पात्र

यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ! ॥ १२ ॥
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्यत्राऽहं परिचारिका ।
आरण्यकेभ्यो लौहानि भोजनानि प्रयच्छसि ॥ १३ ॥
नाऽदेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ।
यदिदं वैश्वदेवं ते शान्तये क्रियते गृहे ॥ १४ ॥
तद्दत्त्वाऽतिथिभूतेभ्यो राजञ्छिष्टेन जीवसि ।
इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ॥ १५ ॥
वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा ।
अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ॥ १६ ॥
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्ते नाऽवसीदति ।
अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ॥ १७ ॥
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ।
राजन्परीतया बुद्ध्या विषमेऽक्षपराजये ॥ १८ ॥
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातॄन्मां चास्मि निर्जितः ।
ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ॥ १९ ॥
कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ।
अतीव मोहमायाति मनश्च परिभूयते ॥ २० ॥
निशाम्य ते दुःखमिदामिमां चाऽऽपदमीदृशीम् ।

आदि देते थे। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों को कोई वस्तु आप न देने योग्य नहीं समझते थे। इस समय भी आप शान्ति-लाभ तथा अतिथियों और अन्यान्य प्राणियों को सन्तुष्ट करने के लिये घर में वैश्वदेव-बलि देकर शिष्टाचार पालन पूर्वक समय बिता रहे हैं। याग, पशुबन्धन, काम्य और नैमित्तिक कर्म, पाक-यज्ञ और यज्ञ के कर्मों का निर्वाह आप अच्छी तरह कर रहे हैं। राज्य-भ्रष्ट होकर इस भयानक, दस्यु-पूर्ण वन में आकर भी आपके धर्म-कर्मों में थोड़ी भी सुस्ती नहीं है। आपने विधिपूर्वक अश्वमेध, गोमेध, राजसूय, पुण्डरीक आदि बड़ी दक्षिणा-वाले यज्ञ भी किये हैं; किन्तु जुए की हार में विपरीत बुद्धि के वश होकर आपने राज्य, धन, शस्त्र आदि के साथ भाइयों को और मुझे भी हार दिया। हे राजन्! आपके सरल, कोमल, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी होने पर भी न जाने किस कारण जुए के व्यसन से आपकी बुद्धि विपरीत हो गई। आपके दुःख और ऐसी विपत्ति को देखकर मैं

अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ २१ ॥
ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नाऽऽत्मनो यथा ।
धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ॥ २२ ॥
दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ।
यथा दारुमयी योषा नरवीर ! समाहिता ॥ २३ ॥
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ।
आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ! ॥ २४ ॥
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ।
शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ॥ २५ ॥
ईश्वरस्य वशे तिष्ठन्नाऽन्येषां नाऽऽत्मनः प्रभुः ।
मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ॥ २६ ॥
स्रोतसां मध्यमापन्नः कूलाद् वृक्ष इव च्युतः ।
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ॥ २७ ॥
नाऽऽत्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन ।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥ २८ ॥
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव च ।

अत्यन्त व्यथित और उदास हो रही हूँ ॥११।२०॥

पुराण इतिहासों में लिखा है कि सभी लोग ईश्वर के अधीन हैं, कोई भी स्वाधीन नहीं है। वह ईश्वर ही सब प्राणियों के सुख दुःख और प्रिय अप्रिय का एकमात्र विधाता है। वह जीवों के पूर्वजन्म के किये कर्मों के अनुसार सुख दुःख आदि का विधान करता है। हे पुरुषश्रेष्ठ! जैसे कठपुतली-वाला काठ की पुतली बनाकर उसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की रचना करता है, वैसे ही विधाता ने भी सब प्रजा उत्पन्न की है। हे भरतश्रेष्ठ ! वही अद्वितीय ईश्वर आकाश रूप से सब प्राणियों को व्याप्त करके पाप और पुण्य का विधान करता है। क्या स्वाधीन और क्या पराधीन सभी, डोरे में बँधे हुए पक्षी की तरह, ईश्वर के वश में है। कोई भी अपने या किसी दूसरे के ऊपर प्रभुत्व नहीं कर सकता। डोरे में पोरोई हुई मणियों या रस्सी से नथे हुए बैलों की तरह नियन्त्रित होकर यह संसार चलता है; क्योंकि सब चराचर जगत् तन्मय और उसी (ईश्वर) में अर्पित है। जैसे नदी के किनारे पर का वृक्ष, जड़ टूटने पर, दम भर भी वहां नहीं ठहर सकता वैसे ही मनुष्य अपने अधीन होकर घड़ी भर भी नहीं टिक सकता। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव कभी अपने सुख दुःख नियत नहीं कर सकता, वह ईश्वर-प्रेरित होकर ही स्वर्ग में

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ॥ २९ ॥
धातुरेव वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ! ।
आर्ये कर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः ॥ ३० ॥
व्याप्य भूतानि चरते न चाऽयमिति लक्ष्यते ।
हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसंज्ञितम् ॥ ३१ ॥
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ।
पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः ॥ ३२ ॥
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वाऽऽत्ममायया ।
अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ३३ ॥
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ।
अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च ॥ ३४ ॥
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ।
यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानं चाऽश्मना पुनः ॥ ३५ ॥
अयसा चाऽप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्टमचेतनम् ।
एवं स भगवान्देवः स्वयंभूः प्रपितामहः ॥ ३६ ॥
हिनस्ति भूतैर्भूतानि च्छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ! ।

और नरक में जाता है। हे भारत! जैसे तृण आदि का ऊपरी हिस्सा प्रबल वायु के वश में होता है, वैसे यह सब जगत् ईश्वर के अधीन है। ईश्वर ही सब पुण्यों और पापों का प्रवर्तक होकर सब प्राणियों में व्याप्त है; पर कोई उसे देख नहीं सकता ॥२९।३०॥

विधाता का क्षेत्र-संज्ञक शरीर इस विश्व-राज्य का एकमात्र कारण है। वह उसी के द्वारा जीवों को शुभ और अशुभ कर्मों में नियुक्त करता है। देखिए, ईश्वर ने कैसा अपूर्व माया का प्रभाव सिरजा है। वह अपनी माया से मोहित करके प्राणियों के द्वारा प्राणियों का नाश करता है। तत्त्वदर्शी मुनिगण उसे अभी और तरह का देखते हैं, और फिर वैसे ही वह उनकी दृष्टि में वायुवेग के समान बदल जाता है। मनुष्य जिस सम्बन्ध में और तरह की कल्पना करते हैं, उसे जगदीश्वर और ही रूप दे देता है। हे महाराज! जैसे काठ से काठ, पत्थर से पत्थर और लोहे से लोहा टूट और कट जाता है, वैसे ही वह विश्वपति अपनी माया के प्रभाव से प्राणियों के द्वारा प्राणियों का नाश करता है। बालक जैसे खिलौने लेकर उनसे खेलते हैं, वैसे ही भगवान् स्वयम् अपनी इच्छा के अनुसार संयोग और वियोग करते हुए प्राणियों के द्वारा क्रीड़ा करते हैं। हे राजन्! विधाता प्राणियों से पिता-माता का सा व्यवहार नहीं करता। वह मानों औरों

संप्रयोज्य वियोज्याऽयं कामकारकरः प्रभुः ॥ ३७ ॥
क्रीडते भगवान्भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।
न मातृपितृवद्राजन्! धाता भूतेषु वर्तते ॥ ३८ ॥
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथाऽयमितरो जनः ।
आर्याञ्छीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान् ॥ ३९ ॥
अनार्यान्सुखिनश्चैव विह्वलानिव चिन्तया ।
तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने ॥ ४० ॥
धातारं गर्हयें पार्थ! विषमं योऽनुपश्यति ।
आर्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि ॥ ४१ ॥
धार्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ।
कर्म चेत्कृतमन्वेति कर्तारं नाऽन्यमृच्छति ॥ ४२ ॥
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ।
अथ कर्मकृतं पापं न चेत्कर्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनाञ्छोचामि दुर्बलान् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदीसंवादे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

की तरह क्रोधित होकर ही काम किया करता है। सच्चरित्र, शीलवान्, लज्जाशील आर्यगण कितने कष्ट में अपना जीवन बिता रहे हैं। और, उधर निपट नीच अनार्य लोग विषय-भोग में आसक्त होकर परम सुख में रहते हैं। हे पार्थ! आपकी ऐसी विपत्ति और दुर्योधन की विशाल सम्पत्ति तथा अभ्युदय देखकर ही मैं समान व्यवहार न करनेवाले विधाता के दोषों का वर्णन कर रही हूँ ॥ ३१।४०॥

आर्यशास्त्रों के वचन न माननेवाले, लोभी, अधर्मी दुर्योधन को सम्पत्ति का अधिकारी बनाकर विधाता क्या फल पाता है? यदि कर्मकर्ता के सिवाय और किसी को किये हुए कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता तो सर्वनियन्ता ईश्वर को भी, पाप कर्म कराने के कारण, पाप में लिप्त होना चाहिये अथवा यदि किया हुआ पाप-कर्म ईश्वर को नहीं स्पर्श कर सकता तो इसका कारण बल ही है तो फिर दुर्बल व्यक्ति ही सब तरह शोचनीय है ॥ ४१।४३॥

वनपर्व का तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

अथ एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच—वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि! त्वया वचः ।
उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥ १ ॥

नाऽहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि ! चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥ २ ॥
अस्तु वाऽत्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे ! यथाशक्ति करोमि तत् ॥ ३ ॥
धर्मं चरामि सुश्रोणि ! न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
धर्म एव मनः कृष्णे ! स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥ ५ ॥
न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात्पापचेतनः ॥ ६ ॥
अतिवादाद्वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥ ७ ॥
धर्मो यस्याऽभिशङ्क्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदाच्छूद्र इवाऽपेयात्स लोकादजरामरात् ॥ ८ ॥
वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि ।

इक्तीसवां अध्याय ॥ ३१ ॥

द्रौपदी की उक्त बातों को सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे द्रौपदी ! तुम्हारा यह सुनने में मनोहर और विचित्र पदों से युक्त कथन नास्तिकमत का पूरा पूरा पक्षपाती है । मैं कर्म फल पाने की इच्छा से कर्म नहीं करता । देना चाहिये, यह समझकर दान देता हूँ । यज्ञ करना चाहिये, यह समझकर यज्ञ आदि करता हूँ । फल हो या न हो, घर में रहकर पुरुष का जो कर्त्तव्य है वही मैं यथाशक्ति करता रहता हूँ । हे सुन्दरी ! मैं कर्म का फल धर्म समझकर शास्त्र के बताये और साधुजन के दिखाये व्यवहार के अनुसार धर्म-कर्म करता हूँ । हे द्रौपदी ! मेरे मन का झुकाव स्वभाव से ही धर्ममार्ग की ओर है । फल की इच्छा करके धर्म का आचरण करना धर्म वणिक् का काम है । ऐसे लोगों को धर्मवादी लोग निपट निन्दित समझते हैं । जो कोई धर्म को दुहने की इच्छा करता है और नास्तिकता के कारण धर्म पर सन्देह करता है, वह कभी यथार्थ धर्म फल नहीं पा सकता । मैं वेदोक्त प्रमाण के अनुसार कहता हूँ कि धर्म पर कभी अविश्वास मत करना; क्योंकि धर्म के सम्बन्ध में शङ्का करनेवाले मनुष्य पशु-पक्षी आदि योनि में जन्म लेते हैं । जो कोई अविवेक के कारण धर्म पर सन्देह करता है और ऋषियों के वाक्यों पर अश्रद्धा दिखाता है वह, वेद-बहिष्कृत शूद्र की तरह, बुढ़ापे और मरण से

स्थविरेपु स योक्तव्यो राजभिर्धर्मचारिभिः ॥ ९ ॥
पापीयान्स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ॥ १० ॥
प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन्महातपाः ।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीवितः ॥ ११ ॥
व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमश शुकः ।
अन्ये च ऋषयः सर्वे धर्मेणैव सुचेतसः ॥ १२ ॥
प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान्दिव्ययोगसमन्वितान् ।
शापानुग्रहणे शक्तान्देवेभ्योऽपि गरीयसः ॥ १३ ॥
एते हि धर्ममेवाऽऽदौ वर्णयन्ति सदाऽनघे ! ।
कर्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ॥ १४ ॥
अतो नाऽर्हसि कल्याणि ! धातारं धर्ममेव च ।
राज्ञि ! मूढेन मनसा क्षेप्तु शङ्कितुमेव च ॥ १५ ॥
उन्मत्तान्मन्यते बालः सर्वानागतनिश्चयान् ।
धर्माभिशङ्की नाऽन्यस्मात्प्रमाणमधिगच्छति ।
आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यक ॥ १६ ॥

हीन लोक से दूर कर दिया जाता है। धर्म का आचरण करनेवाले लोग उच्च कुल में उत्पन्न, वेदपाठी, धर्मात्मा व्यक्ति को वृद्ध और माननीय समझते हैं। जो कोई अपनी बुरी बुद्धि के वश होकर शास्त्रमत के विरुद्ध आचरण कर धर्म में शङ्का करता है वह शूद्र और चोर आदि से भी बढ़कर पापी है ॥९।१०॥

हे द्रौपदी! तुमने प्रत्यक्ष देखा है कि महात्मा मार्कण्डेय धर्म के प्रभाव से चिरजीवी हो गये हैं। तुमने यह भी देखा है कि व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुकदेव और अन्यान्य विशुद्ध हृदय ऋषियों ने धर्म के प्रभाव से दिव्य योगबल और शाप देने तथा कृपा करने की शक्ति पाई है। संसार में इनका देवताओं का सा गौरव है। यह सब वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता ऋषि देवताओं में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने धर्म को ही मुख्य कर्तव्य माना है। इसलिये हे कल्याणी! धोखे में पड़कर धर्म और विधाता को बुरा भला कहना या उनपर अश्रद्धा प्रकट करना तुम्हारे योग्य काम नहीं है। बालक लोग तत्त्व ज्ञानियों को पागल समझते हैं, धर्म के बारे में सन्देह करते हैं, किन्तु अन्य किसी से आगे उस विषय के प्रमाण का पता नहीं लगाते, क्योंकि वे केवल अपनी कपोल कल्पित प्रमाणपद्धति के भरोसे रहकर धर्म का अपमान करते हैं। ये इन्द्रिय-सुख से सम्बन्ध रखनेवाले संसार के व्यवहारों को

इन्द्रियप्रीतिसंबद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ॥ १७ ॥
प्रायश्चित्तं न तस्याऽस्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।
ध्यायन्स कृपणः पापो न लोकान्प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥
प्रमाणाद्धि निवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।
कामलोभातिगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥
यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाऽभिपद्यते ।
अशङ्कमानः कल्याणि! सोऽमुत्राऽऽनन्त्यमश्नुते॥ २० ॥
आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन् ।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं न जन्मसु विन्दति ॥ २१ ॥
यस्य नाऽऽर्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि!।
नैव तस्य परो लोको नाऽयमस्तीति निश्चयः ॥ २२ ॥
शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे! मा स्माऽभिशङ्किथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥ २३ ॥
धर्म एव प्लवो नाऽन्यः स्वर्गं द्रौपदि! गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ॥ २४ ॥

ही ठीक समझते हैं और इसी कारण इन्द्रियों से परे जो विषय है उसके ज्ञान का लेश भी उनमें नहीं होता। जो पापी धर्म पर सन्देह करता है, उसके पाप का कोई प्रायश्चित ही नहीं है। वह संसार में रहकर धन की चिन्ता में ही डूबा रहता है, कभी पुण्यलोकों को प्राप्त नहीं कर सकता। जो मूर्ख, प्रमाण आदि की अपेक्षा न करके, वेद-शास्त्र की निन्दा करता है उसे काम और लोभ के वशवर्ती होकर नरक गति में जाना पड़ता है। किन्तु हे कल्याणी! जो कोई स्थिर और सन्देहरहित चित्त से केवल धर्म-कर्म करता रहता है उसे इस लोक में सम्पूर्ण सुख मिलते और परलोक में ब्रह्मभाव मिलता है ॥१९।२०॥

और जो कोई ऋषिवाक्यों का अनादर और धर्म का त्याग करके शास्त्रमत का उल्लङ्घन करता है वह कई जन्मों तक अनेक प्रकार के क्लेश भोगता रहता है। हे द्रौपदी! जो कोई ऋषियों के प्रमाण या शिष्टाचार के अधीन नहीं होता उसके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। इसलिये हे सुन्दरी! शान्त-शील, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी ऋषियों के चलाये हुए सत्यधर्म पर भूलकर भी अविश्वास मत करना। देखो, समुद्र के पार जाने की इच्छा रखनेवाले व्यापारी के लिये जहाज़ ही जैसे एकमात्र उपाय है, वैसे ही स्वर्गलोक जाने की इच्छा रखनेवालों के लिये धर्म ही एकमात्र

अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः ।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ! ॥ २५ ॥
निर्वाणं नाऽधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम् ।
विद्यां ते नैव युज्येयुर्न चाऽर्थं केचिदाप्नुयुः ॥ २६ ॥
तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च ।
दानमार्जवमेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥ २७ ॥
नाऽऽचरिष्यन्परे धर्मं परे परतरे च ये ।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥ २८ ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्धर्ममादृताः ॥ २९ ॥
फलदं त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवम् ।
धर्मं ते व्यचरन्कृष्णे ! तद्धि शर्म सनातनम् ॥ ३० ॥
स नाऽयमफलो धर्मो नाऽधर्मोऽफलवानपि ।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥ ३१ ॥
त्वमात्मनो विजानीहि जन्म कृष्णे ! यथा श्रुतम् ।
वेत्थ चापि यथा जातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥
एतावदेव पर्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते ! ।

उपाय है। हे सुन्दरी ! धर्मात्माओं का धर्म-पालन यदि निष्फल होता तो यह विश्व एकदम अन्धकार-समुद्र में डूब जाता। कोई भी मुक्ति न पा सकता। सब लोग विद्या और सम्पत्ति से शून्य होकर पशुओं की तरह जीवित रहते। उसी तरह यदि तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, स्वाध्याय, दान, सरलता आदि धर्म-कर्म निष्फल होते और फलदायक कर्म सब केवल ठग-विद्या होते तो कोई भी धर्म-कर्म न करता। तो फिर मुनि, ऋषि, देव, दानव, गन्धर्व आदि महा-पराक्रमी लोग किसलिये धर्म-कर्म करने का क्लेश सहते ? धर्म करने से विधाता उसका फल देता है, ऐसा विश्वास होने के कारण ही सब लोग भलाई के लिये धर्म का आचरण करते हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म ही सनातन सुख है ॥२१।३०॥

संसार में कभी धर्म निष्फल और अधर्म सफल नहीं होता। सब विज्ञ पुरुष तपस्या को भी इसी तरह सफल मानते हैं। हे पाञ्चाली ! तुम अपने और प्रतापी धृष्टद्युम्न के जन्म-वृत्तान्त को स्मरण करके देखो, धर्म-कर्म के अनुष्ठान का विशेष रूप से फल मिलता है या नहीं। तुम दोनों ही इस विषय के उत्तम दृष्टान्त हो। धीर प्रकृति के लोग धर्माचरण का थोड़ा सा फल पाकर भी सन्तुष्ट हो जाते हैं; किन्तु

कर्मणां फलमाप्नोति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति ॥ ३३ ॥
बहुनाऽपि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः ।
तेषां न धर्मजं किंचित्प्रेत्य शर्माऽस्ति वा पुनः ॥ ३४ ॥
कर्मणां श्रुतपुण्यानां पापानां च फलोदयः ।
प्रभवश्चाऽऽत्ययश्चैव देवगुह्यानि भाविनि ! ॥ ३५ ॥
एतानि वेद यः कश्चिन्मानवः शुभदर्शने ! ।
अपि कल्पसहस्रेण नरः श्रेयोऽधिगच्छति ॥ ३६ ॥
रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढमाया हि देवताः ।
कृनाशाश्च व्रनाशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ ३७ ॥
प्रसादैर्मानसैर्युक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ।
न फलादर्शनाद्धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ॥ ३८ ॥
यष्टव्यं च प्रयत्नेन दातव्यं चाऽनसूयता ।
कर्मणां फलमस्तीह तथैतद्धर्मशाश्वतम् ॥ ३९ ॥
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषिर्वेद कश्यपः ।
तस्मात्ते संशयः कृष्णे ! नीहार इव नश्यतु ॥ ४० ॥
व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज ।
ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप ।

विद्याहीन अल्पबुद्धि के लोग बहुत सा फल पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होते। वे परलोक में भी धर्म के सुख का कुछ भी भोग नहीं कर सकते। हे भामिनी! देवता भी पाप-पुण्य से उपजे कर्मों की उत्पत्ति, नाश और फलसम्भावना को अच्छी तरह नहीं जानते। जो कोई इन बातों को विशेष रूप से जानकर भी सर्वसाधारण प्रजा को मोह में डालता है वह सहस्र-कल्प में भी कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। गूढ़ मायावाले देवता इन सब धर्म-कर्मों की रक्षा करते हैं। शान्त प्रकृतिवाले ब्राह्मण, तप के प्रभाव से निष्पाप और ध्यान फल-युक्त होकर, इस बात को देख लेते हैं। कहने का प्रयोजन यह है कि फल न देख पाकर भी देवता और धर्म के प्रति अश्रद्धा प्रकट करना किसी तरह ठीक नहीं। द्वेष और हिंसाप्रवृत्ति को छोड़कर यत्न के साथ यागयज्ञ का अनुष्ठान और दान करना चाहिये। कर्म का फल अवश्य है। यह धर्म ब्रह्मा ने अपने पुत्रों से कहा है। इसे कश्यप ऋषि जानते हैं। इससे हे द्रौपदी! तुम्हारा संशय कुहरे की तरह मिट जाय, धर्म-फल इत्यादि सब कुछ है, ऐसा विचार करके नास्तिकता का भाव छोड़ दो। चराचर जगत् के प्रभु विधाता ईश्वर को बुरा-भला मत कहो॥३३।४०॥

तुम्हें यथार्थ रूप से जानने का यत्न करो और

शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ॥ ४१ ॥
यस्य प्रसादात्तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम् ।
उत्तमां देवतां कृष्णे ! माऽवमंस्थाः कथंचन ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदीसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

बारम्बार प्रणाम करो । तुम्हारी बुद्धि फिर कभी ऐसी न हो ! हे द्रौपदी ! भक्त पुरुष, मरणशील मनुष्य होकर भी, जिसके प्रसाद से अमर हो जाते हैं उस अमर देवता का कभी अपमान मत करो ॥४१।४२॥

वनपर्व का इकतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

द्रौपद्युवाच–नाऽवमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ ! कथंचन ।
ईश्वरं कुत एवाऽहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥ १ ॥
आर्ताऽहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत ! ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ॥ २ ॥
कर्म खल्विह कर्तव्यं जानताऽमित्रकर्शन ! ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥ ३ ॥
यावद्गोस्तनपानाच्च यावच्छायोपसेवनात् ।
जन्तवः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ! ॥ ४ ॥
जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ ! ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ॥ ५ ॥

बत्तीसवां अध्याय ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर के उक्त उपदेश को सुनकर द्रौपदी ने कहा–हे महाराज ! मैं न तो धर्म की निन्दा या तिरस्कार करती हूँ और न प्रजापति ईश्वर का अपमान ही कर सकती हूँ । क्लेश और दुःख से बहुत विह्वल होकर ही मैं इस तरह विलाप कर रही हूँ । हे राजन् ! आप एकचित्त होकर सुनिए; मैं और भी विलाप करती हूँ । हे शत्रुनाशन ! संसार में कर्म करना ही ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है; क्योंकि स्थावर पदार्थ ही केवल निष्कर्मा रहकर अपनी आयु बिताते हैं । पशुओं को देखिए, वे माता का दूध पीते हैं, छाया में जाकर बैठते हैं; इस प्रकार वे भी काम करके ही अपनी आयु बिताते हैं । चलने फिरनेवाले जीवों में एक मनुष्य ही ऐसे हैं कि वे इस लोक और परलोक में कर्म के द्वारा वृत्ति प्राप्त करना चाहते हैं । हे भारत ! प्राणिमात्र अपने पूर्व-जन्म के किये कर्मों से प्राप्त संस्कार के बल से कर्म करके प्रत्यक्ष फल, जिसे सब लोग देखते हैं, पाते हैं । क्या धाता और क्या विधाता, सभी जल में स्थित बगले की

उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत ! ।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ॥ ६ ॥
सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः ।
अपि धाता विधाता च यथाऽयमुदके बकः ॥ ७ ॥
अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन ।
तदेवाऽभिप्रपद्येत न विहन्यात्कदाचन ॥ ८ ॥
स कर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः ।
कृतं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नाऽस्ति च ॥ ९ ॥
तस्य चापि भवेत्कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा ।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात्क्षीयेत हिमवानपि ॥ १० ॥
उत्सीदेरन्प्रजाः सर्वा न कुर्युः कर्म चेद्भुवि ।
तथा ह्येता न वर्धेरन्कर्म चेदफलं भवेत ॥ ११ ॥
अपि चाऽप्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान् ।
नाऽन्यथा ह्यपि गच्छन्ति वृत्तिं लोकाः कथंचन ॥ १२ ॥
यश्च दिष्टपरो लोके यश्चाऽपि हठवादिकः ।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥ १३ ॥

तरह पूर्व-संकल्प के वश होकर कर्म करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य प्राणी भी अपने-अपने पूर्वसंस्कार के बल से जीवन बिताते हैं। वे यदि कर्म न करते होते तो उनकी जीविका कभी न चलती। उस जीविका के लिये कर्म करना सबका कर्त्तव्य है। इसलिये आप ग्लानि छोड़कर कर्म कीजिए और लगातार कर्म करते रहकर कृतकार्य हूजिए। इस संसार में सहस्रों में शायद एक मनुष्य भी कर्म के रहस्य को जानने-वाला न मिलेगा। सम्पत्ति की रक्षा और देखरेख में तथा उसे बढ़ाने में भी कर्म की आवश्यकता है: क्योंकि रक्षा या बढ़ाने की चेष्टा न करके केवल बाटते रहने से हिमाचल के बराबर धन का ढेर भी समाप्त हो जायगा ॥१।१०॥

प्रजागण जगत् में जन्म ले-लेकर यदि कर्म न करते तो उन सबका नाश हो जाता। तात्पर्य यह है कि यदि कर्म निष्फल होता तो मनुष्य की श्रीवृद्धि होना बिलकुल ही असम्भव होता। जगत में ऐसे अनेक लोग हैं जो बिलकुल अनावश्यक काम में भी लगे रहकर समय बिताते हैं। इसका कारण यही है कि कर्म के बिना लोगों की आयु भारू हो जाती है। संसार में भाग्यवादी और चार्वाक-मत के माननेवाले, दोनों ही शठ हैं। कर्मपरायण लोग ही वास्तव में प्रशंसनीय हैं। जो कोई न तो परिश्रम करता है और न चेष्टा करता है, केवल भाग्य के भरोसे बैठा

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं शयेत् ।
अवसीदेत्स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ॥ १४ ॥
तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत् ।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ॥ १५ ॥
अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः ।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥ १६ ॥
यच्चापि किंचित्पुरुषो दिष्टं नाम भजत्युत ।
दैवेन विधिना पार्थ ! तद्दैवमिति निश्चितम् ॥ १७ ॥
यत्स्वयं कर्मणा किंचित्फलमाप्नोति पूरुषः ।
प्रत्यक्षमेतल्लोकेषु तत्पौरुषमिति श्रुतम् ॥ १८ ॥
स्वभावतः प्रवृत्तो यः प्राप्नोत्यर्थं न कारणात् ।
तत्स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुषसत्तम ! ॥ १९ ॥
एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात्कर्मणस्तथा ।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत्फलं पूर्वकर्मणाम् ॥ २० ॥
धाताऽपि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः ।
विदधाति विभाज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ॥ २१ ॥

रहता है, वह बिलकुल ही बुद्धि से रहित है, पानी में पड़े हुए कच्चे घड़े की तरह वह संकट में पड़ता है। वैसे ही जो कोई हठ-वाद में पड़कर, कार्य करने में समर्थ होकर भी, आलस्य के मारे कार्य नहीं करता तो वह अनाथ दुर्बल की तरह काल के मुँह में पड़ जाता है। मनुष्य संसार में अकस्मात् जो कुछ पा जाता है उसे हठ प्राप्त कहते हैं, क्योंकि वह किसी के वश में प्राप्त नहीं है। दैव वश जो कुछ प्राप्त होता है उसे भाग्य से प्राप्त कहते हैं। स्वयं कर्म करने से जो कुछ मिलता है वह पौरुष से प्राप्त कहलाता है। स्वभाव से प्रवृत्त होकर किसी अनिर्दिष्ट कारण वश जो कुछ पाते हैं वह स्वभावज फल कहलाता है। हे पुरुषोत्तम! इसी प्रकार हठ से, दैव से, स्वभाव से और कर्म से जो कुछ फल मिलता है सो वह सब पूर्वजन्म के किये कर्मों का फल है ॥११।२०॥

विधाता भी अपने कर्म के प्रभाव से, पूर्वोक्त अनिर्वचनीय कारणों के द्वारा सबका अधीश्वर होकर, मनुष्यों के पूर्वकृत कर्मों के विभाग के अनुसार फल देता है। मनुष्य शुभ और अशुभ, जो कुछ कर्म करता है सो सब विधाता के द्वारा विदित पूर्वकृत कर्मों के फलों का उदय माना गया है। देहधारियों की देह केवल विधाता के कामों के साधन का कारण स्वरूप है। शरीर स्वयं विवश है। विधाता

यद्ध्ययं पुरुषः किंचित्कुरुते वै शुभाशुभम् ।
तद्धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ २२ ॥
कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्माणि वर्तते ।
स यथा प्रेरयत्येनं तथाऽयं कुरुतेऽवशः ॥ २३ ॥
तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः ।
सर्वभूतानि कौन्तेय ! कारयत्यवशान्यपि ॥ २४ ॥
मनसाऽर्थान्विनिश्चित्य पश्चात्प्राप्नोति कर्मणा ।
बुद्धिपूर्वं स्वयं वीर ! पुरुषस्तत्र कारणम् ॥ २५ ॥
संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुषर्षभ ! ।
अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहेतुकी ॥ २६ ॥
तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः ।
धिया धीरो विजानीयादुपायं चाऽस्य सिद्धये ॥ २७ ॥
ततः प्रवर्तते पश्चात्कारणैस्तस्य सिद्धये ।
तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मजामिह जन्तवः ॥ २८ ॥
कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु स्वनुष्ठितम् ।
इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ॥ २९ ॥
इष्टापूर्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत् ।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ॥ ३० ॥

उसे जिस काम के लिये प्रेरित करता है उसी को वह किया करता है। हे कुन्तीपुत्र ! सब प्राणी विवश हैं। विधाता उन सबको विशिष्ट काम-काज में नियुक्त करता है। कर्मों का कारण स्वरूप पुरुष मन ही मन फल ठीक करके कर्म करता है और उस फल को पाता है। कर्म असंख्य हैं और अनेक प्रकार के हैं। बड़े-बड़े नगर और मकान जो तैयार होते हैं उसका कारण कर्म ही है। तिलों में तेल, गाय में दूध और लकड़ी में अग्नि है, इस बात को अपनी बुद्धि से जानकर धीर लोग उक्त वस्तुओं को निकालने या तैयार करने के उपाय खोज निकालते हैं। पश्चात् निश्चित उपाय से कार्य करके अपने अभिप्राय को सिद्ध करते हैं। सब जीव इसी प्रकार कर्म-सिद्धि के सहारे जीवित रहते हैं। करनेवाला यदि कार्यकुशल हो तो सभी काम अच्छी तरह पूरे होते हैं और उनका फल शुभ होता है। जो उसमें अन्तर पड़ जाता है तो फल में भी अन्तर पड़ जाता है। जो कर्म द्वारा साध्य

कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते ।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्मनाशात्कथं त्विह ॥ ३१ ॥
सर्वमेव हठेनैके दैवेनैके वदन्त्युत ।
पुंसः प्रयत्नजं केचित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ॥ ३२ ॥
न चैवैतावता कार्यं मन्यन्त इति चाऽपरे ।
अस्ति सर्वमदृश्यं तु दिष्टं चैव तथा हठः ॥ ३३ ॥
दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चाऽर्थस्य संततिः ।
किंचिद्दैवाद्धठात्किंचित्किंचिदेव स्वभावतः ॥ ३४ ॥
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नाऽत्र कारणम् ।
कुशलाः प्रतिजानन्ति ये वै तत्त्वविदो जनाः ॥ ३५ ॥
तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः ।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ॥ ३६ ॥
यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पूरुषः ।
तत्तत्सफलमेव स्याद्यदि न स्यात्पुरा कृतम् । ३७ ॥
त्रिद्वारामर्थसिद्धिं तु नाऽनुपश्यन्ति ये नराः ।
तथैवाऽनर्थसिद्धिं च यथैवाऽऽत्मा तथैव ते ॥ ३८ ॥

विषय में पौरुष व्यर्थ होता तो याग यज्ञ करने और तालाब आदि खुदवाने का कुछ भी फल न होता। गुरु और शिष्य भी कोई न होता ॥२९।३०॥

कर्म का कर्ता होने के कारण ही पुरुष कार्य सिद्ध होने पर प्रशंसा और सिद्ध न होने पर निन्दा का भागी होता है। फिर कर्म का नाश यहां कैसे हो सकता है? कई एक लोग कहते हैं कि सभी काम अकस्मात बन जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अकस्मात कर्म सम्पन्न होते हैं, कुछ की राय है कि दैव संयोग से कार्य सिद्ध हो जाते हैं और कुछ लोग पौरुष के द्वारा कर्मों का सिद्ध होना मानते हैं। कुछ लोग इन तीन कारणों में से किसी पर विश्वास करना नहीं चाहते। वे कहते हैं कि "दैव" या "अकस्मात" आदि सब कारण पूर्व जन्म के किये कर्मों के प्रकारान्तर मात्र हैं। जो लोग "अकस्मात्" और "दैव" को कार्यसिद्धि का कारण मानते हैं और जो तत्त्ववित् जानते हैं कि "दैव", "अकस्मात" और "स्वभाव", इन तीन के सिवाय मनुष्य के फल पाने का चौथा कारण नहीं है वे तत्त्व के ज्ञाता हैं। क्योंकि विधाता यदि सब प्राणियों को पूर्वजन्म संचित कर्मों के अनुसार फल न देता तो प्राणियों में कोई दीन न देख पड़ता—जो जिस उद्देश्य से जो काम करता वह उसका कार्य सिद्ध हो जाता। इसलिये यही सिद्धान्त ठीक है कि पूर्वोक्त

कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेप विनिश्चयः ।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ॥ ३९ ॥
कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर ! ।
एकान्तफलसिद्धिं तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ॥ ४० ॥
असंभवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तं तु लक्षयेत् ।
कृते कर्मणि राजेन्द्र ! तथाऽऽनृण्यमवाप्नुते ॥ ४१ ॥
अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥ ४२ ॥
अनर्थाः संशयावस्थाः सिध्यन्ते मुक्तसंशयाः ।
धीरा नराः कर्मरता ननु निःसंशयाः क्वचित् ॥ ४३ ॥
एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु सांप्रतम् ।
स तु निःसंशयं न स्यात्त्वयि कर्मण्यवस्थिते ॥ ४४ ॥
अथवाऽसिद्धिरेव स्यादभिमानं तदेव ते ।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ॥ ४५ ॥
अन्येपां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः ।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथा फलम् ॥ ४६ ॥

तीन कारणों पर ही काम का सिद्ध या असिद्ध होना अवलम्बित है—सिद्धि का प्रधान कारण पूर्वसञ्चित कर्म ही है। जिन्हें इसपर विश्वास नहीं वे निस्सन्देह मनुष्य के आकार में जड़ पदार्थ हैं। मनु ने भी स्वीकार किया है कि कर्म अवश्य करना चाहिये। इसलिये जो मनुष्य निश्चेष्ट होकर आलस्य में समय गँवाता है उसका सब जगह पराभव होता है। तात्पर्य यह है कि किया हुआ काम कभी निष्फल नहीं होता और आलस्य करने से फल सिद्धि की सम्भावना नहीं है ॥३९।४०॥

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि काम करने पर भी फल नहीं मिलता। इसका कारण अवश्य है। प्रायश्चित के द्वारा वह बाधा का कारण हटने पर अवश्य इच्छित फल मिलता है। काम में लगे न रहकर, आलस्य में समय व्यतीत करने से शरीर में अलक्ष्मी घुसती है। किन्तु जो मनुष्य मन लगाकर परिश्रम के साथ कर्म करता है वह निस्सन्देह कर्म फल प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होता है। सन्देह ही अनिष्ट की जड़ है। अतएव सन्देह से बचकर कर्म करने से वह सिद्ध हो जाता है। किन्तु इस संसार में संशयशून्य, कर्मनिरत, धीर पुरुष बहुत दुर्लभ है। हे महाराज! हमारी जो यह विषम दुर्दशा इस समय है वह यदि आप पौरुष का सहारा लें तो अवश्य बदल सकती है। कार्य न जाने सफल न

पृथिवीं लाङ्गलेनेह भित्त्वा बीजं वपत्युत ।
आस्तेऽथ कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम् ॥ ४७ ॥
वृष्टिश्चेन्नाऽनुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः ।
यदन्यः पुरुषः कुर्यात्तत्कृतं सकलं मया ॥ ४८ ॥
तच्चेदफलमस्माकमपराधो न मे क्वचित् ।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नाऽऽत्मानं तत्र गर्हयेत् ॥ ४९ ॥
कुर्वतो नाऽर्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत! ।
निर्वेदो नाऽत्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम् ॥ ५० ॥
सिद्धिर्वाऽप्यथवाऽसिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा ।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्मसिद्धयः ॥ ५१ ॥
गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव च ।
अनारम्भे हि न फलं न गुणो दृश्यते क्वचित् ॥ ५२ ॥
देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्तिवृद्धये ।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ ५३ ॥
अप्रमत्तेन तत्कार्यमुपदेष्टा पराक्रमः ।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु दृश्यमेव पराक्रमः ॥ ५४ ॥

हो, यह सोचकर जो आप, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव, सभी कुछ भी चेष्टा न करें तो फिर हम लोगों के राज्य पाने की आशा निरी दुराशा है। आपका यह क्षमा का सिद्धान्त समुचित नहीं है जब कि हम सबके उपायों को सफल होते देखते हैं तब हमारा ही कृतकार्य न हो सकना सम्भव नहीं। कर्म करने से वह, शीघ्र हो या देर से, अवश्य सिद्ध होता है। किसान लोग हल चलाकर पहले धरती को जोतते हैं, फिर बीज बोकर वर्षा की राह देखा करते हैं। उनकी इच्छा के अनुसार वर्षा न होने पर भी उन्हें उतना क्षोभ नहीं होता। वे सोचते हैं कि हमें जो करना था सो कर चुके, अब वर्षा न हो तो उसमें हमारा क्या दोष? इसी तरह बुद्धिमान् पण्डित को अपनी शक्ति भर कर्म करके फल न मिलने पर कभी अपनी निन्दा न करनी चाहिये। इस कारण "कर्म करने से वह सिद्ध न होगा" यह सोचकर आलस्य में समय व्यतीत करना किसी के लिये भी उचित नहीं। विरक्त न होना और पौरुष, यही दो फल सिद्धि के कारण हैं। सिद्ध हो या न हो, 'प्रवृत्ति' से विमुख होना किसी तरह योग्य नहीं है ॥४७।५०॥

सब कारणों के एकत्र होने पर कार्य की सिद्धि में कुछ भी संशय नहीं रहता। आरम्भ किये हुए काम का प्रधान अङ्ग जो सफल हुआ तो पूरा फल

यत्र धीमानवेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः ।
साम्नैवाऽर्थं ततो लिप्सेत्कर्म चाऽस्मै प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥
व्यसनं वाऽस्य काङ्क्षेत विवासं वा युधिष्ठिर ।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किं पुनर्मर्त्यधर्मिणः ॥ ५६ ॥
उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे ।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्याऽऽत्मन एव च ॥ ५७ ॥
न त्वेवाऽऽत्माऽवमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥ ५८ ॥
एवंसंस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत ! ।
तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ॥ ५९ ॥
ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम् ।
सोऽपि सर्वामिमां प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ! ॥ ६० ॥
नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन्मेऽग्राहयत्पुरा ।
तेषां सकाशादश्रौषमहमेतां तदा गृहे ॥ ६१ ॥
स मां राजन्कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन् ।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ! ॥ ६२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

नहीं मिलेगा, बल्कि काम का एकदम निष्फल हो जाना भी सम्भव है। किन्तु आरम्भ ही न करने से किसी प्रकार का फल नहीं देख पड़ता और न शूरता आदि गुण ही प्रकट होते हैं। कल्याण की चाह रखनेवाला प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार बुद्धिपूर्वक देश, समय, उपाय और मङ्गल आदि का प्रयोग करता है। इसलिये पराक्रम का सहारा लेकर सावधान चित्त से कर्म करना चाहिये। जो बुद्धिमान् पुरुष हैं वे बहुगुणी व्यक्ति के पास साम, दान, भेद, इन तीनों उपायों को जानकर कार्य-सिद्ध करने की इच्छा करें। हे राजन्! यदि अपकारी हो तो मनुष्य की कौन कहे, समुद्र और पर्वत को भी न छोड़ना चाहिये; उनके भी नाश का प्रयत्न करना चाहिये। जो कोई शत्रु के दोष देखने में लगातार लगा रहता है वह स्वयं और उसके मन्त्री आदि निर्दोष हो जाते हैं। "मैं बहुत ही असमर्थ हूँ" यह सोचकर मनुष्य को कभी अपना अपमान न करना चाहिये; क्योंकि अपना अपमान करनेवाला पुरुष कभी उन्नति नहीं कर सकता। हे भरतश्रेष्ठ! इसी प्रकार लोगों को स्वाभाविक फल सिद्धि प्राप्त होती है। समयानुसार उस फल-सिद्धि में यदि कुछ व्यतिक्रम देख पड़ता है तो इसका प्रधान कारण समय और अवस्था की

ही समझना चाहिये । समझना चाहिये कि या तो समय ठीक न था या अवस्था ही उसके उपयुक्त न थी ॥५१।५९॥

हे भरतश्रेष्ठ ! एक समय मेरे पिता ने एक ब्राह्मण पण्डित को कुछ दिनों तक अपने घर में टिकाया था । उन्होंने बृहस्पति की यह सब नीति पिता जी को सुनाई थी और मेरे भाइयों को सिखाई थी । उस समय मैं पिता के ही घर थी; इस कारण मैंने भी सब उपदेश सुना था । हे महाराज ! मैं जब किसी काम के लिये वहां जाती थी तब पिता की गोद में बैठ जाती थी । वे ब्राह्मण नीति का उपदेश किया करते थे; मैं भी सुना करती थी ॥६०।६२॥

वनपर्व का बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
निःश्वसन्नुपसंगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥ १ ॥
राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम् ।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥ २ ॥
नैव धर्मेण तद्राज्यं नाऽऽर्जवेन न चौजसा ।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥ ३ ॥
गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम् ।
आमिषं विघसाशेन तद्राज्यं हि नो हृतम् ॥ ४ ॥
धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः ।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन्दुःखेषु परितप्यसे ॥ ५ ॥

तैंतीसवां अध्याय ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय ! भीमसेन द्रौपदी के ये वचन सुनकर बहुत ही क्रोधित होकर, लम्बी सांस लेकर, युधिष्ठिर से बोले-हे राजन् ! सत्पुरुषों के योग्य धर्मसम्मत राजपदवी को ग्रहण कीजिए । धर्म, अर्थ और काम से हीन होकर हम इस तपोवन में क्या करेंगे ? दुरात्मा दुर्योधन ने धर्म के अनुसार, या सरलता के साथ अथवा बलपूर्वक हमारा राज्य नहीं लिया, उसने तो कपट का जुआ खेलकर आपका राज्य ले लिया है । दुर्बल गीदड़ जैसे बलवान सिंह के मांस को ले ले वैसे ही हमारा राज्य दुर्योधन ने ले लिया है । हे भरतश्रेष्ठ! आप साधारण धर्म की रक्षा के लिये क्यों 'धर्म'-'काम' करनेवाले राज्य-रूप महान् 'अर्थ' को छोड़कर ऐसा दुस्सह क्लेश भोग रहे हैं ? हे युधिष्ठिर! आपके प्रमाद के कारण से हमारा राज्य जिसको इन्द्र भी नहीं ले सकता था, हमारे देखते और इस गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन से रक्षित होने पर हर लिया गया । जैसे लूले के हाथ से बेल का फल या लंगड़े मनुष्य से गायें छिन जाती हैं वैसे ही हमारे होते हुए आपके कारण हमारा ऐश्वर्य छिन

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम् ।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥ ६ ॥
कुणीनामिव बिल्वानि पंगूनामिव धेनवः ।
हृतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ७ ॥
भवतः प्रियमित्येवं महद्व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ! ॥ ८ ॥
कर्षयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ! ॥ ९ ॥
यद्वयं न तदैवैतान्धार्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ॥ १० ॥
अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्यामिवाऽऽत्मनः ।
दुर्बलाचरितां राजन्नबलस्थैर्निषेविताम् ॥ ११ ॥
यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाऽभिमन्युर्न सृञ्जयाः ।
न चाऽहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ॥ १२ ॥
भवान्धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः ।
कच्चिद्राजन्ननिर्वेदादापन्नः क्लीवजीविकाम् ॥ १३ ॥

गया। हे निष्पाप ! आप धर्मात्मा हैं, आप का प्रिय करने के लिये ही हम इस प्रकार की विपत्ति में पड़ गये हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! हम लोग केवल आपकी आज्ञा से ही अपने को रोककर लगातार मित्रों का सन्ताप और शत्रुओं का आनन्द बढ़ाते हैं। आपके वाक्य को मानकर उस समय हमने धृतराष्ट्र के पुत्रों को नहीं मारा। यह बात इस समय स्मरण आने से हमको अत्यन्त कष्ट हो रहा है ॥१।१०॥

आप इस मृगचर्या अर्थात् वनवास के दुःख को भोग रहे हैं, यह वृत्ति बलवानों की नहीं है किन्तु दुर्बल जीवों की है। इस वृत्ति को मैं और अर्जुन अच्छा नहीं जानते हैं और श्रीकृष्ण, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव और सञ्जय भी बुरा कहते हैं। आप क्या सब जगह धर्म ही धर्म कहकर अपने को व्रतों से दुर्बल बनाकर, विषाद-पूर्ण हृदय से हिजड़ों की तरह समय बितावेंगे ? कायर लोग ही राजलक्ष्मी का उद्धार करने में असमर्थ होकर स्वार्थ के विरोधी और फल को मिटानेवाले वैराग्य का आसरा लेते हैं। आप ज्ञानी होकर भी कार्य सिद्ध करने के लिये अपने कुल के योग्य पौरुष का प्रयोग क्यों नहीं करते ? आप हमारे बाहुबल को भी अच्छी तरह जानते हैं; किन्तु केवल शान्ति और क्षमा के कारण ही इस अनर्थ की ओर आप ध्यान नहीं देते। यद्यपि हम लोग मन ही मन आपको परम पराक्रमी

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं स्वार्थघातकम् ।
अशक्ताः श्रियमाहर्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम् ॥ १४ ॥
स भवान्दृष्टिमाञ्छक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम् ।
आनृशंस्यपरो राजन्नाऽनर्थमवबुद्ध्यसे ॥ १५ ॥
अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः ।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद्दुःखं नाऽऽहवे वधः ॥ १६ ॥
तत्र चेद्युध्यमानानामजिह्ममनिवर्तिनाम् ।
सर्वशो हि वधः श्रेयान्प्रेत्य लोकाँल्लभेमहि ॥ १७ ॥
अथवा वयमेवैतान्निहत्य भरतर्षभ ! ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ॥ १८ ॥
सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
काङ्क्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ॥ १९ ॥
आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे ।
अन्यैरपि हृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ॥ २० ॥
कर्षणार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद्राजन्न धर्मः स कुधर्म*तत् ॥ २१ ॥

जानते हैं किन्तु इस समय, क्षमा का सहारा लेने से, दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र आपको अत्यन्त अशक्त के सिवाय और क्या समझते होंगे ? मैं तो यही कहूँगा, कि इस दुर्दशा की अपेक्षा युद्ध भूमि में मर जाना अच्छा था। धर्म युद्ध में मारे जाने से दूसरे जन्म में सम्पत्ति मिलने की सम्भावना रहती है। अथवा दुर्योधन आदि को मारकर जो हम अपना भाग राज्य पा सकें तो इसमें भी यश प्राप्त होने की आशा है। सो हाँ, अपने धर्म के पालन, अपरिमित यश की प्राप्ति और बदला चुकाने के लिये युद्ध में प्रवृत्त होना हमारे लिये सब तरह अच्छा है। अधिक क्या कहूँ, इस समय यदि हम कर्त्तव्य समझकर शत्रुओं के साथ युद्ध करके हार जायँ तो वह भी हमारे लिये प्रशंसा की बात होगी ॥१४।२०॥

जिस धर्म का आचरण करने से अपने सगे, भाई-बन्धु आदि सबको कष्ट हो, उसे व्यसन कहते हैं। व्यसन कभी धर्म नहीं गिना जाता, वह तो कुधर्म का बीज है। जैसे मृत व्यक्ति के पास सुख और दुःख नहीं रहता वैसे ही जो कोई लगातार धर्म में लगा रहता है उस धर्मात्मा को धर्म और अर्थ नहीं मिलता। जो व्यक्ति धर्म के लिये ही धर्म का आचरण करता है उसे अनेक प्रकार के क्लेश

* कुधर्मं मतोऽन्य तु कुधर्मं तत्, कुमार्गदारिद्र्यम् ।

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात ! धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ॥ २२ ॥
यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ् न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदाऽर्थं सूर्यस्याऽन्धः प्रभामिव ॥ २३ ॥
यस्य चाऽऽत्मार्थमेवाऽर्थः स च नाऽर्थस्य कोविदः।
रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः ॥ २४ ॥
अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥ २५ ॥
सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते ॥ २६ ॥
तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाऽम्भसः क्षये ॥ २७ ॥
तस्माद्धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्याऽरणिर्यथा ॥ २८ ॥
सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥ २९ ॥

भोगने पड़ते हैं। जैसे अन्धा मनुष्य सूर्य की प्रभा को नहीं जान सकता वैसे ही वह अपण्डित व्यक्ति धर्म के प्रयोजन को नहीं समझ सकता। जिस मनुष्य का द्रव्य केवल अपनी आवश्यकता की वस्तुओं में ही चुक जाता है उसके विषय में समझना चाहिये कि वह धन कमाने के प्रयोजन को नहीं जानता। जङ्गल में चरानेवाले जैसे गायों की रक्षा किया करते हैं वैसे ही इस संसार के वन में उक्त अधम जन केवल धन की रक्षा में ही लगा रहकर अपना जीवन गँवा देता है। जो कोई धर्म और काम को त्यागकर केवल तुच्छ धन के कमाने और एकत्र करने में ही लगा रहता है वह दुरात्मा ब्रह्महत्या करनेवाले के समान सब के लिये मारने योग्य है। ऐसे ही जो कोई धर्म और अर्थ की ओर से लापरवाही करके लगातार काम के सेवन में ही समय बिताता है उसके मित्र नष्ट हो जाते हैं और वह सदा धर्म और अर्थ से हीन रहता है। जैसे तालाब का जल सूख जाने पर मछलियाँ तड़प-तड़पकर मर जाती हैं, वैसे ही धर्म और अर्थ से हीन पुरुष भी कुछ दिन तक मनमाना काम-भोग करके अन्त में उसके अभाव में नष्ट हो जाता है। इस कारण धर्म और अर्थ का सञ्चय करने में विवेकी लोग लापरवाही नहीं करते। जैसे अरणि से अग्नि उत्पन्न होती है वैसे धर्म और अर्थ से काम की प्राप्ति होती है। धर्म और अर्थ,

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नाऽस्य दृश्यते ॥ ३० ॥
अर्थार्थी पुरुषो राजन्! बृहन्तं धर्ममिच्छति ।
अर्थमिच्छति कामार्थी न कामादन्यमिच्छति ॥ ३१ ॥
न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत् ।
उपयोगात्फलस्यैव काष्ठाद्भस्मेव पण्डितैः ॥ ३२ ॥
इमाञ्छकुनकान्राजन्हन्ति वैतंसिको यथा ।
एतद्रूपमधर्मस्य भूतेषु हि विहिंसता ॥ ३३ ॥
कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रकृतिं यो न पश्यति ।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ॥ ३४ ॥
व्यक्तं ते विदितो राजन्नाऽर्थो द्रव्यपरिग्रहः ।
प्रकृतिं चाऽपि वेत्थाऽस्य विकृतिं चापि भूयसीम् ॥ ३५ ॥
तस्य नाशे विनाशे वा जरया मरणेन वा ।
अनर्थ इति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्तते ॥ ३६ ॥
इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ॥ ३७ ॥

परस्पर एक दूसरे की जड़ है और मेघ तथा समुद्र की तरह दोनों परस्पर एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। माला चन्दन वस्त्र आभूषण धन आदि के मिलने से जो असीम आनन्द होता है उसी का नाम काम है। काम या कामना केवल मन में ही उठती है, वास्तव में उसका कोई निर्दिष्ट आकार नहीं है ॥२१।३०॥

धर्म से अर्थ प्राप्त होता है। अर्थ से काम की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु काम से कुछ पाने की आशा नहीं की जा सकती। जैसे लकड़ी जलने पर जो भस्म हो जाती है उससे अन्य भस्म नहीं बन सकती, वैसे काम से अन्य काम की प्राप्ति होना असम्भव है। काम स्वयं प्रीति उत्पन्न करनेवाला फल है। जैसे चिड़ीमार पक्षियों के प्राण हर लेता है वैसे ही अधर्म सब प्राणियों की हिंसा करता है। जो पुरुष इस लोक में धर्म से विमुख होकर काम और लोभ में ही फँसा रहता है वह दुरात्मा इस लोक और परलोक में सब प्राणियों द्वारा मारे जाने योग्य है। हे महाराज! आप अच्छी तरह जानते हैं कि स्त्री, धन, गाय, हाथी, घोड़े आदि सब पदार्थों से ही काम प्राप्त होता है। उन सब पदार्थों की प्रकृति और विकृति को भी आप अच्छी तरह जानते हैं। वृद्धावस्था या मरण के द्वारा इन सब वस्तुओं का न देख पड़ना या बिछुड़ना अनर्थ कहलाता है। उसी महान् अनर्थ में इस समय हम

स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ।
एवमेव पृथग्दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च ॥ ३८ ॥
न धर्मपर एव स्यान्न चाऽर्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात्सर्वान्सेवेत सर्वदा ॥ ३९ ॥
धर्मं पूर्वे, धनं मध्ये, जघन्ये काममाचरेत् ।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४० ॥
कामं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत् ।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४१ ॥
धर्मं चाऽर्थं च कामं च यथावद्वदतां वर ! ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान्सेवेत पण्डितः ॥ ४२ ॥
मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् ! सुखार्थिनाम् ।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ! ॥ ४३ ॥
तद्वाऽऽशु क्रियतां राजन्प्राप्तिर्वाऽप्यधिगम्यताम् ।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः ॥ ४४ ॥
विदितश्चैव मे धर्मः सततं चरितश्च ते ।
जानन्तस्त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्मचोदनाम् ॥ ४५ ॥

लोग फंसे हुए हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! इन्द्रियाँ, मन और हृदय अपने-अपने विषय को पाकर जिस प्रीति का उपभोग करते हैं वही काम है। मेरी समझ में वही कर्म का उत्तम फल है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों पर अलग-अलग दृष्टि रखकर सबका यथासमय, यथोचित रूप से, सेवन करना उचित है। तीनों में से किसी एक में ही तत्पर हो जाना मूर्खता है। लगातार समभाव से उक्त त्रिवर्ग का सेवन करना चाहिये। शास्त्रकारों ने लिखा है कि प्रातःकाल धर्मकार्य करे, दोपहर को धनोपार्जन की चिन्ता में लगा रहे और तीसरे पहर काम-भोग में प्रवृत्त हो ॥३१।४०॥

इसी प्रकार किशोर अवस्था में काम भोग, युवा अवस्था के अन्त में धनोपार्जन और अवस्था ढलने पर धर्म का आचरण करना चाहिये। हे नरश्रेष्ठ ! समय का यथोचित विभाग करके मनुष्य जुदे जुदे समयों में धर्म अर्थ काम, इस त्रिवर्ग का उपयोग करे। हे कुरुनन्दन ! जो मनुष्य महान् ऐश्वर्य से प्राप्त सुख का भोग करके, मोक्ष के उपाय रूप ज्ञान का सहारा लेकर, सुख की इच्छा करता है उसके लिये मोक्ष ही श्रेयस्कर है। आप मोक्ष पाने का अथवा महान् ऐश्वर्य प्राप्त करने का विशेष रूप से यत्न कीजिए। जो कोई इन दोनों अवस्थाओं के बीच में पड़ा है—न मोक्ष पाने का यत्न करता है

दानं यज्ञाः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम् ।
एष धर्मः परो राजन्फलवान्प्रेत्य चेह च ॥ ४६ ॥
एष नाऽर्थविहीनेन शक्यो राजन्निषेवितुम् ।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र ! गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ॥ ४७ ॥
धर्ममूलं जगद्राजन्नाऽन्यद्धर्माद्विशिष्यते ।
धर्मश्चाऽर्थेन महता शक्यो राजन्निषेवितुम् ॥ ४८ ॥
न चाऽर्थो भैक्ष्यचर्येण नाऽपि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन् ! केवलं धर्मबुद्धिना ॥ ४९ ॥
प्रतिषिद्धा हि ते याञ्चा यया सिद्ध्यति वै द्विजः ।
तेजसैवाऽर्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ! ॥ ५० ॥
भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥ ५१ ॥
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून्समागतान् ।
धार्तराष्ट्रवनं पार्थ ! मया पार्थेन नाशय ॥ ५२ ॥
उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
उदारं प्रतिपद्यस्व नाऽवरे स्थातुमर्हसि ॥ ५३ ॥

और न ऐश्वर्य प्राप्ति की चेष्टा करता है—उसका जीवन रोगी के जीवन के समान क्लेशदायक हो उठता है। आप धर्म के मर्म को अच्छी तरह जानते हैं और लगातार धर्म का आचरण भी किया करते हैं, यह जानकर आपके सुहृद्गण आपको कर्म करने के लिये उत्तेजित करते हैं। दान, यज्ञ, सज्जनों की पूजा, वेदपाठ, हृदय की शुद्धता, यही प्रधान धर्म है। इस लोक और परलोक, दोनों लोकों में यह धर्म फलदायक है। हे पुरुषश्रेष्ठ ! और सब गुण चाहे हों, परन्तु यदि धन न हुआ तो मनुष्य इस धर्म का पालन नहीं कर सकता। धर्म ही इस जगत का मूल है। धर्म से बढ़कर और कुछ नहीं है। बहुत सा धन पास होने से ही धर्म का पालन किया जा सकता है, किन्तु कायरपन या भिक्षावृत्ति का सहारा लेने से किसी तरह धन का लाभ नहीं हो सकता। धर्म का आचरण करने से ही अर्थ की प्राप्ति होती है। मांगकर धन का संग्रह करना आपके लिये अनुचित है। भिक्षावृत्ति केवल ब्राह्मणों के लिये ही है। इस कारण आप तेज के द्वारा अर्थ प्राप्त करने का उद्योग कीजिए ॥४१।५०॥

भिक्षावृत्ति या वैश्य और शूद्रों की अन्य प्रकार की जीविका क्षत्रिय के लिये नहीं बतलाई गई है। बल और उत्साह प्रकट करना तो क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। इसलिये हे राजन् ! आप अपने धर्म का आश्रय

अनुबुध्यस्व राजेन्द्र ! वेत्थ धर्मान्सनातनान् ।
क्रूरकर्माऽभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥ ५४ ॥
प्रजापालनसंभूतं फलं तव न गर्हितम् ।
एष ते विहितो राजन् ! धात्रा धर्मः सनातनः ॥ ५५ ॥
तस्मादपचितः पार्थ ! लोके हास्यं गमिष्यसि ।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ॥ ५६ ॥
स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्यमास्थाय कौरव्य ! धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥ ५७ ॥
न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद्राजन्न भूतिं न पुनः श्रियम् ॥ ५८ ॥
जिह्वां दत्त्वा बहूनां हि क्षुद्राणां लुब्धचेतसाम् ।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ॥ ५९ ॥
भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः ।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पार्थिवर्षभ ! ॥ ६० ॥
एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ! ।

लेकर मेरी और अर्जुन की सहायता से सेनासहित धृतराष्ट्र के पुत्रों का नाश कीजिए। पण्डित लोग प्रभुत्व को ही धर्म कहते हैं। इसलिये आपको प्रभुता प्राप्त करने के लिये यत्न करना चाहिये। सङ्कट में पड़कर आलसी रहना किसी तरह उचित नहीं। सोचकर देखिए, लोग जिस हिंसा से डरते और घबराते हैं, उसी हिंसा-प्रधान क्षत्रियवंश में आपका जन्म हुआ है। अपने कुल के योग्य कर्म का करना ही आपका मुख्य कर्तव्य है। यही आपका सनातनधर्म है। आपको उसी धर्म की रक्षा करनी चाहिये। प्रजापालन के द्वारा जो फल होता है उसे प्राप्त करना आपके लिये निन्दनीय नहीं; क्योंकि वह वंश-परम्परा से चला आ रहा क्षत्रियों का सनातन धर्म है। प्रजापालन में असमर्थ होने से जन-समाज में आपकी निन्दा होगी; क्योंकि मनुष्य अपने धर्म से यदि डिग जाता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। इन सब बातों पर विशेष रूप से विचार करके आप अपने चित्त से सुस्ती को दूर कर दीजिए। क्षत्रियों के तेज को धारण करके सच्चे धुरन्धर की तरह पृथ्वी का भार सँभालिये। केवल धर्म का सहारा लेकर अब तक कोई कभी साम्राज्य नहीं पा सका। बहेलिये जैसे किसी खाने की वस्तु का लोभ दिखाकर वन में रहनेवाले मृगों को पकड़ते और उनको मार डालते हैं, वैसे ही जो बुद्धिमान् पुरुष हैं वे क्षुद्र विचारवाले, लालची, शत्रुपक्ष के लोगों को उत्कोच आदि देकर उनमें फूट डाल देते हैं और सहज ही उनका राज्य

जहि शत्रून्महाबाहो ! परां निकृतिमास्थितः ॥ ६१ ॥
न ह्यर्जुनसमः कश्चिद्युधि योधो धनुर्धरः ।
भविता वा पुमान्कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः ॥ ६२ ॥
सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन्! सुबलवानपि ।
न प्रमाणेन नोत्साहात्सत्त्वस्थो भव पाण्डव ! ॥ ६३ ॥
सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा ।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ॥ ६४ ॥
अर्थत्यागोऽपि कार्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।
बीजौपम्येन कौन्तेय ! मा ते भूदत्र संशयः ॥ ६५ ॥
अर्थेन तु समोऽनर्थो यत्र लभ्येत नोदयः ।
न तत्र विपणः कार्यः खरकण्डूयनं हि तत् ॥ ६६ ॥
एवमेव मनुष्येन्द्र ! धर्मं त्यक्त्वाऽल्पकं नरः ।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितम् ॥ ६७ ॥
अमित्रं मित्रसंपन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः ।
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं दुर्बलं कुरुते वशम् ॥ ६८ ॥
सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् ! सुबलवानपि ।

ले लेते हैं । असुरगण देवताओं के बड़े भाई और बहुत बली थे । किन्तु देवताओं ने फूट डालकर उन्हें हरा दिया ॥५१।६०॥

हे महाबाहो ! जो बली है, उसे किसी बात की कमी नहीं रहती । आप इन बातों पर विचार करके कौशल के साथ शत्रुओं का नाश कीजिए । मैं यह निश्चय से कहता हूँ कि इस पृथ्वी पर अर्जुन के समान धनुर्विद्या जाननेवाला और मेरे समान गदा-युद्ध में निपुण, दूसरा पुरुष न तो है और न होगा । बली लोग कभी अपने शत्रुपक्ष या अन्यपक्ष की किसी तरह की टोह लेने की चेष्टा नहीं करते; वे तो अपने बल के सहारे युद्धभूमि में उतर पड़ते हैं । इसलिये हे महाराज ! आप बल प्रकट कीजिए । बल ही अर्थ की जड़ कहा गया है । बल के बिना सब कुछ जाड़े की छाया के समान निष्फल है । जैसे अधिक अन्न प्राप्त करने की इच्छा से किसान लोग पहले थोड़ा बीज बोते हैं, वैसे ही अधिक अर्थ लाभ के मतलब से अर्थ की इच्छा रखने-वाले मनुष्य को थोड़ा सा धन व्यय करना चाहिये । किन्तु जहां पर धन व्यय करने से उतने या उतने से अधिक धन पाने की सम्भावना नहीं है वहां प्रतिज्ञा पूर्वक धन देना ठीक नहीं; क्योंकि वह ज़ोर से खुजलाने के समान परिणाम में दुःख जनक ही होता है । हे महाराज ! इसी प्रकार यदि थोड़े धर्म का त्याग करने से अधिकतर धर्म का लाभ होता

नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ॥ ६९ ॥
सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥ ७० ॥
यथा राजन्! प्रजाः सर्वाः सूर्यः पाति गभस्तिभिः।
अत्ति चैव तथैव त्वं सदृशः सवितुर्भव ॥ ७१ ॥
एतच्चाऽपि तपो राजन् ! पुराणमिति नः श्रुतम् ।
विधिना पालनं भूमेर्यत्कृतं नः पितामहैः ॥ ७२ ॥
न तथा तपसा राजँल्लोकान्प्राप्नोति क्षत्रियः ।
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ॥ ७३ ॥
अपेयात्किल भा सूर्याल्लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा ।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ॥ ७४ ॥
भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च ।
कथायुक्ताः परिषदः पृथग्राजन् ! समागताः ॥ ७५ ॥
इदमभ्यधिकं राजन् ! ब्राह्मणाः कुरवश्च ते ।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसन्धताम् ॥ ७६ ॥
यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्न भयादपि ।

हो तो वह आपके लिये अवश्य कर्त्तव्य है। ऐसा करनेवाला ही सावधान समझा जाता है। चतुर लोग बहुत मित्रोंवाले शत्रु को किसी न किसी तरह भेद-नीति का प्रयोग करके मित्रों से हीन कर देते हैं; क्योंकि मित्रों और भाई-बन्धुओं के त्याग करने पर शत्रु दुर्बल हो जाता है और फिर वह सहज ही वश में कर लिया जा सकता है । हे धर्मराज ! बलवान् पुरुष अनेक उद्यमों से या मीठे वचनों के द्वारा प्रजारञ्जन करने की चेष्टा नहीं करता, वह अपने बाहुबल की सहायता से युद्ध करके ही प्रजा को अपने वश में कर लेता है। छोटी-छोटी मधु-मक्षिकाएँ जैसे बहुत सी एक जगह मिलकर शहद उतारनेवाले को काट काटकर अधमरा कर डालती हैं वैसे ही बहुत से निर्बल लोग भी मिलकर बली शत्रु का नाश कर सकते हैं ॥६९।७०॥

सूर्य जैसे अपनी किरणों के द्वारा पृथ्वी से रस खींचकर और फिर उसे वर्षाऋतु में बरसाकर प्रजा को मारते और जराते हैं, वैसे ही आप भी युद्धभूमि में शत्रुओं का नाश करके अपनी प्रजा का प्रतिपालन कीजिए । हे राजन् ! मैंने सुना है कि विधिपूर्वक पृथ्वी का पालन करना भी तप है, जो कि हमारे पूर्वपुरुष कर गये हैं। हमको भी वही करना चाहिये। क्षत्रिय को युद्ध में लड़कर मरने या मारने में जो लोक मिलते हैं वे तप करने से नहीं मिलते। आप

अनृतं किंचिदुक्तं ते न कामान्नाऽर्थकारणात् ॥ ७७ ॥
यदेनः कुरुते किंचिद्राजा भूमिमवाप्नुवन् ।
सर्वं तन्नुदते पश्चाद्यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ७८ ॥
ब्राह्मणेभ्योऽददद् ग्रामान्गाश्च राजन् ! सहस्रशः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्य इव चन्द्रमाः ॥ ७९ ॥
पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन ! ।
सवृद्धबालसहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ! ॥ ८० ॥
श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा ।
सत्यं स्तेने बलं नार्यां राज्यं दुर्योधने तथा ॥ ८१ ॥
इति लोके निर्वचनं पुरश्चरति भारत ! ।
अपि चैताः स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमधिकुर्वते ॥ ८२ ॥
इमामवस्थां च गते सहाऽस्माभिररिन्दम ! ।
हन्त नष्टाः स्म सर्वे वै भवतोपद्रवे सति ॥ ८३ ॥
स भवान्रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम् ।
त्वरमाणोऽभिनिर्यातु विप्रेभ्योऽर्थविभावकः ॥ ८४ ॥
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम् ।

की ऐसी दशा देखकर लोगों ने निश्चय कर लिया है कि सूर्यमण्डल से उसका तेज और चन्द्रमण्डल से उसकी कामनीय कान्ति शीघ्र ही लुप्त हो जायगी। हे धर्मराज ! इस समय प्रायः सभी समाजों में आपकी बहुत प्रशंसा और धृतराष्ट्र के पुत्रों की निंदा सुन पड़ती है। आप मोह, कृपणता, लोभ, भय, काम या अर्थ के लिये कभी असत्य नहीं बोले। इसी कारण सब ब्राह्मण और कुरुवंश के लोग एकत्र होकर केवल आपकी ऐसी सत्यपरायणता की ही चर्चा किया करते हैं। राज्यलाभ के समय राजाओं को जिस पाप का भागी होना पड़ता है वह पाप राज्यलाभ के उपरान्त बहुत दक्षिणावाले यज्ञ करने से मिट जाता है। लोग ब्राह्मणों को बहुत से गाँव और सहस्रों गायें देकर राहु-मुक्त चन्द्रमा की तरह पाप से छुटकारा पा जाते हैं। हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! नगर के रहनेवाले बालक-वृद्ध-स्त्री आदि सब आपकी बारम्बार बहुत प्रशंसा किया करते हैं ॥७१।८०॥

कुत्ते के चमड़े में दूध, शूद्र के मुख में वेद, चोर के मुख में सत्य वचन और स्त्री जाति में बल होना जैसा है वैसा ही दुराचारी दुर्योधन को राज्य प्राप्त होना है। हे भरतश्रेष्ठ ! सब नगरनिवासी प्रजा इसी बात का आन्दोलन कर रही है। हाय, आप अपनी बुद्धि के दोष से इस प्रकार हम लोगों-सहित दारुण दुर्दशा में पड़े हैं। हम सबकी यह

अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ॥ ८५ ॥
आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा ।
अमित्रांस्तेजसा मृद्नन्नसुरानिव वृत्रहा ।
श्रियमादत्स्व कौन्तेय ! धार्तराष्ट्रान्महाबल ! ॥ ८६ ॥
न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम् ।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥ ८७ ॥
न स वीरो न मातङ्गो न च सोऽश्वोऽस्ति भारत ! ।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ८८ ॥
सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च ।
कथंस्विद्युधि कौन्तेय ! न राज्यं प्राप्नुयामहे ॥ ८९ ॥
शत्रुहस्तगतां राजन् ! कथंस्विन्नाऽऽहरेर्महीम् ।
इह यत्नमुपाहृत्य बलेन महताऽन्वितः ॥ ९० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इन्द्रसा आपकी ही बदौलत है। हे शत्रुओं के नाश करनेवाले ! आप ब्राह्मणों से आशीर्वाद पाकर उन्हें धन देने के लिये शीघ्र ही सब युद्ध की सामग्रियों से पूर्ण रथ पर सवार हूजिए और परम-पराक्रमी महावली इन भाइयों के साथ इसी समय हस्तिनापुर को चल दीजिए। जैसे देवराज इन्द्र ने मरुत् नामक देवताओं को साथ लेकर प्रचण्ड दानवों को हराकर स्वर्ग का राज्य पाया था वैसे ही आप भी भाइयों के साथ जाकर दुर्योधन से राज्य छीन लीजिए। ऐसा कौन है जो युद्धभूमि में महावीर अर्जुन के गाण्डीव धनुष से निकले हुए विचित्र पंखवाले बाणों को सह सके ? मैं भी क्रुद्ध होकर युद्धभूमि में जब गदा घुमाऊँ तब उसके वेग को रोकने की शक्ति रखनेवाला कोई वीर पुरुष, घोड़ा या हाथी अभी तक पृथ्वी पर पैदा नहीं हुआ। हे भरतश्रेष्ठ ! यदि सब सञ्जय और केकयगण तथा वृष्णिवंश-चूड़ामणि श्रीकृष्ण हमारे सहायक हों और सब सामन्त लोग बहुत सी सेना सहित हमारे साथ हों तो हमें विश्वास है कि हम लोग युद्ध करके शत्रु के हाथ से अपने राज्य का उद्धार अवश्य कर लेंगे ॥८१।९०॥

वनपर्व का तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच स एवमुक्तस्तु महानुभावः सत्यव्रतो भीमसेनेन राजा ।
अजातशत्रुस्तदनन्तरं वै धैर्यान्वितो वाक्यमिदं बभाषे ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच-असंशयं भारत ! सत्यमेतद्यन्मां तुदन्वाक्यशल्यैः क्षिणोषि ।

न त्वां विगर्हे प्रतिकूलमेव ममाऽनयाद्धि व्यसनं व आगात् ॥ २ ॥
अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन्राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात् ।
तन्मां शठः कितवः प्रत्यदेवीत्सुयोधनार्थं सुबलस्य पुत्रः ॥ ३ ॥
महामायः शकुनिः पार्वतीयः सभामध्ये प्रवपन्नक्षपूगान् ।
अमायिनं मायया प्रत्यजैषीत्ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन ! ॥ ४ ॥
अक्षांश्च दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत्कामानुकूलानयुजो युजश्च ।
शक्यं नियन्तुमभविष्यदात्मा मन्युस्तु हन्यात्पुरुषस्य धैर्यम् ॥ ५ ॥
यन्तुं नाऽऽत्मा शक्यते पौरुषेण मानेन वीर्येण च तात नद्धः ।
न ते वाचो भीमसेनाऽभ्यसूये मन्ये तथा तद्भवितव्यमासीत् ॥ ६ ॥
स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न्यपातयद्व्यसने राज्यमिच्छन् ।
दास्यं च नोऽगमयद्भीमसेन ! यत्राऽभवच्छरणं द्रौपदी नः ॥ ७ ॥
त्वं चापि तद्वेत्थ धनञ्जयश्च पुनर्द्यूतायाऽऽगतांस्तां सभां नः ।
यन्माऽब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम् ॥ ८ ॥

चौंतीसवाँ अध्याय ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! भीमसेन की उक्त बात को सुनकर वह सत्यवादी और धैर्यधारी राजा युधिष्ठिर उसी समय कहने लगे-हे भीमसेन ! तुम्हारे वाक्य रूपी बाणों के लगने से मैं बहुत दुःखी हुआ हूँ, किन्तु इसके लिये मैं तुमको दोष नहीं दे सकता। क्योंकि मेरे ही बिना सोचे-विचारे काम करने के दोष से तुम लोगों को यह कठिन वनवास का कष्ट भोगना पड़ा है। जुए में दुर्योधन को हराने और उससे राज्य प्राप्त करने के विचार से ही मैंने जुआ खेला था; किन्तु दुष्ट शकुनि इस बात को जानकर प्रतिनिधि बनकर मुझसे खेलने लगा। दगाबाजी या कपट का कुछ भी करतब मैं नहीं जानता; किन्तु शकुनि तो धूर्तों का शिरोमणि है। सभा में उसने कपट के पासे फेंककर मुझे जीत लिया। मैंने जब देखा कि शकुनि की इच्छा के अनुसार ही सम और विषम पासे पड़ रहे हैं तब उस दुरात्मा का कपट कुछ-कुछ मुझे मालूम हो गया था। मुझे उसी समय खेल बन्द कर देना था; किन्तु पुरुष के धैर्य को मिटानेवाले क्रोध के आ जाने से मैं किसी तरह खेल से अपने को नहीं रोक सका। इसमें सन्देह नहीं कि धैर्य का लोप होने पर पौरुष, अभिमान या वीरता, किसी से आत्मा का संयम नहीं किया जा सकता। मुझे विश्वास है कि ऐसी दुर्घटना होनी ही थी, और इसी से मैं तुम्हें किसी तरह दोष नहीं दे सकता। दुर्योधन ने जुए में हराकर हम लोगों को दास बना लिया था और राज्य की इच्छा से हमें सङ्कट में डाल दिया था। उस समय उस सङ्कट से द्रौपदी ने ही हम लोगों को बचाया। इसके बाद फिर जुआ खेलने के लिये जब मैं सभा में बुलाया गया, तब दुर्योधन ने सब भरत-

वने समा द्वादश राजपुत्र ! यथाकामं विदितमजातशत्रो ! ।
अथाऽपरं चाऽविदितं चरेथाः सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः ॥ ९ ॥
त्वां चेच्छ्रुत्वा तात ! तथा चरन्तमवभोत्स्यन्ते भारतानां चराश्च ।
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्तथा त्वं निश्चित्य तत्प्रतिजानीहि पार्थ ! ॥ १० ॥
चरैश्चेन्नो विदितः कालमेतं युक्तो राजन्मोहयित्वा मदीयान् ।
ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह तवैव ता भारत ! पञ्च नद्यः ॥ ११ ॥
वयं चेद्भारत ! सर्व एव त्वया जिताः कालमपास्य भोगान् ।
वसेम इत्याह पुरा स राजा मध्ये कुरूणां स मयोक्तस्तथेति ॥ १२ ॥
तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं तस्मिञ्जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे ।
इत्थं तु देशाननुसंचरामो वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः ॥ १३ ॥
सुयोधनश्चाऽपि न शान्तिमिच्छन्भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत् ।
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान्ये चाऽस्य केचिद्वशमन्वगच्छन् ॥ १४ ॥
तं सन्धिमास्थाय सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः ।
आर्यस्य मन्ये मरणाद्गरीयो यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत् ॥ १५ ॥

वंशियों के सामने मुझसे कहा—हे युधिष्ठिर ! अब की यदि तुम जुए में हारे तो तुम्हें अपने भाइयों-सहित बारह वर्ष वन में रहना पड़ेगा और फिर एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़ेगा । उस अज्ञातवास में यदि हमें तुम्हारा पता लग गया तो तुम्हें फिर बारह वर्ष वनवास करना पड़ेगा ॥९।१०॥

किन्तु जो तुम हमारे जासूसों से छिपकर अज्ञातवासवाला वर्ष बिता सकोगे और तुम्हारा पता हमारे जासूस न लगा सकेंगे तो पञ्चनद का राज्य तुम फिर पा जाओगे । मैं कुरु-सभा में यह सच-सच कह रहा हूँ । और जो हम लोग जुए में हार जायँगे तो हम भी यों ही वनवास और अज्ञातवास करेंगे । इस बार खेल में हम लोगों का यही प्रण रहा । तुमने या अर्जुन ने इसका कुछ विरोध नहीं किया और मैंने भी यह शर्त मान ली । फिर हम लोगों का जुआ हुआ । उसमें हारने के कारण हम लोग वनवासी हुए । तब से हम लोग अत्यन्त हीन वेष से देश-देश और वन-वन में मारे-मारे फिरते हैं । शान्ति की इच्छा न रखनेवाले दुर्योधन ने क्रोधवश हमको फिर यों विपत्ति में डाल दिया और जो कुरुवंशी लोग उसके अनुगत हुए उन्हें देशशासक, दुर्गरक्षक आदि के ऊँचे पद देकर प्रसन्न किया । हे भीमसेन ! पहले सज्जनों के आगे सभा-मण्डप में हारने पर बारह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा करके अब मैं उसे तोड़कर कैसे राज्य पाने की चेष्टा कर सकता हूँ ? ऐसा कौन सज्जन करेगा ? मैं समझता हूँ कि धर्म को छोड़कर पृथ्वी का राज्य करने की अपेक्षा मर जाना ही आर्य पुरुष के लिये

तदैव चेद्वीरकर्माऽकरिष्यो यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः ।
बाहू दिधक्षन्वारितः फाल्गुनेन किं दुष्कृतं भीम ! तदाऽभविष्यत् ॥ १६ ॥
प्रागेव चैवं समयक्रियायाः किं नाऽब्रवीः पौरुषमाविदानः ।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात्किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ॥ १७ ॥
भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन ! दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा ।
यद्याज्ञसेनीं परिक्लिश्यमानां संदृश्य तत्क्षान्तमिति स्म भीम ! ॥ १८ ॥
न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर ! कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये ।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य पक्तिं फलानामिव बीजवापः ॥ १९ ॥
यदा हि पूर्वं निकृतो निकृन्तेद्वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा ।
महागुणं हरति हि पौरुषेण तदा वीरो जीवति जीवलोके ॥ २० ॥
श्रियं च लोके लभते समग्रां मन्ये चाऽस्मै शत्रवः संनमन्ते ।
मित्राणि चैनमचिराद्भजन्ते देवा इवेन्द्रमुपजीवन्ति चैनम् ॥ २१ ॥
मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्mममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति — ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३४ ॥

भरा है। हे भीमसेन ! तुमने जब उस द्यूत सभा में बेलन उठाकर मेरे दोनों हाथों को जला देना चाहा था तब अर्जुन ने तुमको रोका था। उस समय तुमने अर्जुन का कहा न मानकर वीरता क्यों नहीं प्रकट की ? जो ऐसा कर डालते तो इतना क्लेश न सहना पड़ता। जुआ खेलने के समय प्रतिज्ञा करने और हारने से पहले ही तुमने मुझसे ऐसे वचन क्यों नहीं कहे ? तुम तो अपने पौरुष को अच्छी तरह जानते थे। तुम उस समय ऐसे वचन कहते तो शायद यह अनर्थ न होता। इस समय काल-तुल्य विपत्ति को स्वीकार करने के पश्चात् मुझसे यों सताने से क्या फल होगा ? हे भीमसेन ! हम लोग उस समय द्रौपदी की वैसी दुर्दशा देखकर भी चुप रहे, यह बात इस समय स्मरण आने पर पिये हुए विष की तरह मेरे हृदय और सारे शरीर को पीड़ा पहुँचा रही है। हे भरतश्रेष्ठ ! तुमने कुरुवंश के वीरों के बीच में जो दुर्योधन और दुःशासन को मारने आदि की प्रतिज्ञा की है उसको अभी पूर्ण करने की इच्छा किसी तरह ठीक नहीं। किसान लोग जैसे बीज बोकर उसके फलने के समय की राह देखते हैं वैसे ही तुम भी अपने सुख और अभ्युदय के समय की प्रतीक्षा करो। जिसको धोखा दिया गया है वह यदि धोखा देनेवाले को, सब तरह पुष्ट पाकर, नष्ट करता है—बदला लेता है—तो उसके पौरुष की बड़ी प्रशंसा होती है और उसका जगत् में जीना सार्थक होता है ॥१९।२०॥

वह संसार में साम्राज्यलक्ष्मी प्राप्त करता है। सब शत्रु उसे सिर झुकाते और उससे दबते हैं। जैसे देवगण इन्द्र की सेवा किया करते हैं वैसे ही मित्र-गण अत्यन्त अनुराग के साथ उसको मानते हैं। हे वीर! तुम निश्चय जानो कि मेरी प्रतिज्ञा कभी मिथ्या नहीं हो सकती। मैं देवभाव और जीवन की अपेक्षा भी सत्य को प्रिय समझता हूँ। राज्य, धन, पुत्र या यश, कुछ भी सत्य-धर्म की एक कला के भी समान नहीं है ॥२१।२२॥

वनपर्व का चौंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

भीम उवाच--सन्धिं कृत्वैव कालेन ह्यन्तकेन पतत्रिणा ।
अनन्तेनाऽप्रमेयेण स्रोतसा सर्वहारिणा ॥ १ ॥
प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन्कालबन्धनः ।
फेनधर्मा महाराज ! फलधर्मा तथैव च ॥ २ ॥
निमेषादपि कौन्तेय यस्याऽऽयुरपचीयते ।
सूच्येवाऽञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥
यो नूनममितायुः स्यादथ वाऽपि प्रमाणवित् ।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४ ॥
प्रतीक्ष्यमाणः कालो नः समा राजंस्त्रयोदश ।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ॥ ५ ॥
शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम् ।

पैंतीसवां अध्याय ॥ ३५ ॥

भीमसेन ने कहा—हे महाराज! फेने के समान शीघ्र मिट जानेवाले और फल के समान गिर पड़नेवाले 'काल' के अधीन मनुष्य 'काल' को प्रत्यक्ष ज्ञात सा समझा करते हैं। किन्तु वह अनन्त, अप्रमेय और सबका अन्त करनेवाला 'काल' बाण की तरह शीघ्रगामी और जल की धारा की तरह नित्य चलायमान है। इसी कारण ऐसे काल की प्रतीक्षा करके फल पाने की सम्भावना कहां है? जैसे बहुत महीन सलाई भी कुछ न कुछ अञ्जन खर्च कर देती है वैसे ही पल-पल करके जिसकी आयु क्षीण होती है उस मनुष्य के लिये अनन्त काल की प्रतीक्षा करना कभी सम्भव नहीं। जिसका जीवन का समय बहुत बड़ा है, अथवा जो सब बातों को पहले से ही प्रत्यक्ष की तरह देखता है, या अपने जीवन काल के परिमाण को जानता है वही समय की प्रतीक्षा करे। यह कौन कह सकता है कि हम लोग तेरह वर्ष की बाट जोहते-जोहते बीच में ही काल के मुँह का कौर न बन जायँगे? जब कि मृत्यु हर घड़ी हरएक

प्रागेव मरणात्तस्माद्राज्यायैव घटामहे ॥ ६ ॥
यो न याति प्रसंख्यानमस्पृष्टो भूमिवर्धनः ।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ॥ ७ ॥
यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान् ।
अफलं जन्म तस्याऽहं मन्ये दुर्जातजायिनः ॥ ८ ॥
हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिवी ।
हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुङ्क्ष्व बाह्वर्जितं वसु ॥ ९ ॥
हत्वा वै पुरुषो राजन्! निकर्तारमरिन्दम ।
अह्नाय नरकं गच्छेत्स्वर्गेणाऽस्य स संमितः ॥ १० ॥
अमर्षजो हि संतापः पावकाद्दीप्तिमत्तरः ।
येनाऽहमतिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये ॥ ११ ॥
अयं च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे ।
आस्ते परमसंतप्तो नूनं सिंह इवाऽऽशये ॥ १२ ।
योऽयमेको न मनुते सर्वांल्लोके धनुर्भृतः ।
सोऽयमात्मजमूष्माणं महाहस्तीव यच्छति ॥ १३ ॥
नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसू ।
तवैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ॥ १४ ॥

मनुष्य के शरीर के साथ लगी हुई है तब हमें उससे पहले ही राज्य पाने की चेष्टा क्यों न करनी चाहिये? जो पुरुष शूरता आदि गुणों से अपने को प्रसिद्ध करके शत्रुओं से बदला लेकर, श्रेष्ठ कीर्ति नहीं प्राप्त करता वह पृथ्वी का भार बनकर हल खींचनेवाले बैल की तरह कष्ट पाता है। थोड़े बल और उद्यमवाला जो पुरुष वैरियों से बदला चुकाने में विमुख होता है, उसके जन्म को मैं निष्फल समझता हूँ। हे महाराज! आपकी भुजाएँ सुवर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी हैं और कीर्ति भी राजा पृथु की सी है। इसलिये आप युद्ध में शत्रुओं का नाश करके अपने बाहुबल से उपार्जित ऐश्वर्य का भोग कीजिए। अपने को धोखा देनेवाले पुरुष को उसी समय मारकर यदि नरक भोगना पड़े तो वह नरक भी स्वर्ग के समान है। ॥९।१०॥

हे भरतश्रेष्ठ! क्रोध की आग आग से भी बढ़कर होती है। मैं हर घड़ी उसी आग में जलता रहता हूँ। मेरा खाना-पीना छूट गया है। अद्वितीय धनुर्धर महावीर अर्जुन समर में वीरों के लिये अजेय होकर भी दिन-रात हृदय में सन्ताप से तपते हुए, गजराज की तरह, अपने क्रोध को आप रोके हुए हैं। अकेले ही सब वीरों का नाश कर सकनेवाले

सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः।
अहमेकश्च संतप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ॥ १५ ॥
प्रियमेव तु सर्वेषां यद्ब्रवीम्युत किंचन ।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ १६ ॥
नाऽतः पापीयसी काचिदापद्राजन्! भविष्यति ।
यन्नो नीचैरल्पबलै राज्यमाच्छिद्य भुज्यते ॥ १७ ॥
शीलदोषाद् घृणाविष्ट आनृशंस्यात्परन्तप! ।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन्नाऽन्यः कश्चित्प्रशंसति ॥ १८ ॥
श्रोत्रियस्येव ते राजन्! मन्दकस्याऽविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १९ ॥
घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेषु जायथाः ।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ॥ २० ॥
अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान्यथा वै मनुरब्रवीत् ।
क्रूरान्निकृतिसंपन्नान्विहितानशमात्मकान् ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रान्महाराज! क्षमसे किं दुरात्मनः ।
कर्तव्ये पुरुषव्याघ्र! किमास्से पीठसर्पवत् ॥ २२ ॥

अर्जुन लाचार होकर अत्यन्त क्लेश भोग रहे हैं। नकुल, सहदेव और कुन्ती, सभी आपका प्रिय करने के लिये जड़ और गूँगों की तरह समय व्यतीत कर रहे हैं; कुछ नहीं कहते। मैं और राजकुमार प्रतिविन्ध्य की माता द्रौपदी, दोनों अत्यन्त सन्ताप के साथ वनवास का क्लेश सह रहे हैं। मैं जो आप से कह रहा हूँ यही आपके सब स्वजनों को प्रिय है। हम सब भाई वीर और संग्राम-प्रिय हैं तो भी हम इस प्रकार के कष्ट में पड़े है। हे महाराज! हमसे कम बलवाले नीच-बुद्धि पुरुष हमारे राज्य को छीनकर सुख से उसका उपभोग कर रहे हैं। इससे बढ़कर और बुरी आपत्ति और कोई नहीं हो सकती। हे राजन्! आप अपने स्वभाव के दोष से शत्रुओं पर दया करके यह क्लेश भोग रहे हैं। आपके इस काम को कोई अच्छा नहीं कहता। हे धर्मपरायण! आपकी बुद्धि, अर्थज्ञान से रहित और वेदों के अक्षर-मात्र को रटनेवाले अत्यन्त निन्दित श्रोत्रिय की तरह, केवल गुरु के उपदेश की अनुगामिनी है; यथार्थ तत्त्व को विचारपूर्वक देखने में असमर्थ है। आप ब्राह्मणों की तरह दयालु हैं। क्षत्रियवंश में आप कैसे उत्पन्न हुए? क्षत्रियवंश में तो प्रायः क्रूर स्वभाववाले पुरुष ही जन्म लेते हैं॥११।२०॥

हे भरतनन्दन! आप भगवान् मनु के कहे राजधर्म को विशेष रूप से जानते हैं। उन्होंने क्रूर

बुद्ध्या वीर्येण संयुक्तः श्रुतेनाऽभिजनेन च ।
तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तं च पर्वतम् ॥ २३ ॥
छिन्नमिच्छसि कौन्तेय ! योऽस्मान्संवर्तुमिच्छसि ।
अज्ञातचर्यां गूढेन पृथिव्यां विश्रुतेन च ॥ २४ ॥
दिवीव पार्थ ! सूर्येण न शक्या चरितुं त्वया ।
बृहच्छाल इवाऽनूपे शाखापुष्पपलाशवान् ॥ २५ ॥
हस्ती श्वेत इवाऽज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ।
इमौ च सिंहसङ्काशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ॥ २६ ॥
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ ! चरिष्यतः ।
पुण्यकीर्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ॥ २७ ॥
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ ! चरिष्यति ।
मां चापि राजन् ! जानन्ति ह्याकुमारमिमाः प्रजाः । २८ ॥
नाऽज्ञातचर्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ।
तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ॥ २९ ॥
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ।

छली पुरुषों के साथ क्षमा का व्यवहार करने को नहीं कहा है । फिर आप क्यों क्रूर, छली, दुरात्मा दुर्योधन आदि का नाश करने को कटिबद्ध नहीं होते ? हे कुन्तीपुत्र ! अजगर की तरह बिना हाथ-पाव हिलाये रहना ही क्या आप कर्तव्य समझते हैं ? आप तो बड़े बुद्धिमान् और परमपराक्रमी है। सोचिए तो, आप इस तरह रहकर कैसे हम लोगों की रक्षा कर सकेंगे ? मुट्ठीभर घास-फूस के द्वारा कहीं हिमालय पर्वत ढका जा सकता है ? परन्तु मैं देखता हूँ, आप यही करना चाहते हैं । आकाश-मार्ग में सूर्य का छिपा रहना जैसे असम्भव है वैसे ही बुद्धि, बल, शास्त्र-ज्ञान और कुलीनता आदि गुणों से प्रसिद्ध जो आप हैं उनका कपट-वेष से छिपकर रहना सम्भव नहीं । ऐरावत के समान अर्जुन का शरीर विविध शाखा-पुष्प पूर्ण शाल वृक्ष के समान लम्बा-चौड़ा है । वही कैसे छिपकर रह सकेंगे ? सिंह के समान पराक्रमी नकुल और सहदेव ही कैसे अज्ञातवास करेंगे ? वीर पुत्रों की माता, ये द्रौपदी भी अपने रूप और गुणों के कारण जगत् भर में विख्यात है । यही कैसे अज्ञातवास में छिप-कर रह सकेंगी ? मुझे भी सब प्रजा के लोग बचपन से पहचानते हैं । घास फूस आदि के द्वारा जैसे कोई सुमेरु पर्वत को छिपाना चाहे वैसे मै ही किस तरह अपने को छिपा सकूँगा ? पहले हमने अनेक राजाओं को राज्य से भ्रष्ट कर दिया है । वे सब इस समय अवश्य दुर्योधन के साथी बन गये होंगे। पहले

न हि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृता वा निराकृताः ॥ ३० ॥
अवश्यं तैर्निकर्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ।
तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन्प्रच्छन्नान्सुबहूंश्चरान् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा ततः स्यात्सुमहद्भयम् ॥ ३१ ॥
अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान्पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥ ३२ ॥
अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतीकानिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥ ३३ ॥
अथवाऽनडुहे राजन्! साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेतस्मादेनसः प्रतिमुच्यते ॥ ३४ ॥
तस्माच्छत्रुवधे राजन्! क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नाऽन्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

हमने उन्हें हराया था। उनके राज्य से उन्हें निकाल बाहर किया है, इसलिये अब वे भी न चूकेंगे। दुर्योधन के साथी और हितैषी होकर वे हमें सताने की चेष्टा करेंगे ॥२१।३०॥

वे भी हमारा पता लगाने के लिये अज्ञातवास के समय बहुत से जासूस नियत करेंगे। वे हमारा पता लगाकर यदि हमारे शत्रुओं को सूचित कर देंगे तो अवश्य हमें फिर बारह वर्ष बनवास का कष्ट उठाना पड़ेगा। हे महाराज! इस समय हमको वन में रहते तेरह मास हो गये हैं। आप इनको तेरह वर्ष के समान समझ सकते हैं। शास्त्रकारों का कहना है कि 'पूतिका' जैसे 'सोमलता' की जगह पर यज्ञ में काम दे सकती है वैसे ही एक मास एक वर्ष का प्रतिनिधि हो सकता है। आप तेरह महीनों को तरह वर्ष मानकर शत्रुओं का नाश करने के लिये तैयार हो जाइए। यदि आप इस प्रतिज्ञाभङ्ग में कोई पाप समझते हों तो, धर्मशास्त्र के कथनानुसार, बोझ ढोनेवाले बैल को पेटभर भोजन देकर उसका प्रायश्चित कर डालिएगा। इस प्रकार उस पाप से आप छुटकारा पा सकते हैं। इसलिये अब आप शत्रुओं को मारने के लिये निश्चय कर लीजिए, क्योंकि युद्ध ही क्षत्रियों का सनातन धर्म है ॥३१।३५॥

वनपर्व का पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
निःश्वस्य पुरुषव्याघ्रः सम्प्रदध्यौ परन्तपः ॥ १ ॥

श्रुता मे राजधर्माश्च वर्णानां च विनिश्चयाः ।
आयत्यां च तदात्वे च यः पश्यति स पश्यति ॥ २ ॥
धर्मस्य जानमानोऽहं गतिमग्र्यां सुदुर्विदाम् ।
कथं बलात्करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम् ॥ ३ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच–एवमेतन्महाबाहो ! यथा वदसि भारत ! ।
इदमन्यत्समाधत्स्व वाक्यं मे वाक्यकोविद ! ॥ ५ ॥
महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात् ।
आरभ्यन्ते भीमसेन ! व्यथन्ते तानि भारत ! ॥ ६ ॥
सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो ! दैवं चाऽत्र प्रदक्षिणम् ॥ ७ ॥
यत्तु केवलचापल्याद्बलदर्पोत्थितः स्वयम् ।
आरब्धव्यमिदं कार्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ॥ ८ ॥
भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसन्धश्च वीर्यवान् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्योधनपुरोगमाः ।

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन के ये वचन सुनकर, एक लम्बी सांस लेकर कुछ देर तक सोचते रहे। वे सोचने लगे कि मैंने सब वर्णों के, और राजाओं के, धर्म सुने हैं। जो कोई अच्छी तरह आगा-पीछा सोचकर वर्तमान पर विचार कर सकता है वही सच्चा जानकार है। मैं धर्म के मर्म को अच्छी तरह जानकर भी कैसे उसके विपरीत चल सकता हूँ ! महाराज युधिष्ठिर कुछ देर तक ध्यानमग्न होकर यों सोचकर और अपना कर्तव्य ठीक करके भीमसेन से बोले–हे महाबाहो ! तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। मुझे इस विषय में कुछ और भी कहना है। यह मेरा कथन एकाग्र होकर सुनो। हे वीर ! जो कर्म केवल साहस के भरोसे किये जाते हैं वे निस्सन्देह पापपूर्ण हैं। उनके करने से पीछे अन्तःकरण को चोट लगती है। आगे-पीछे अच्छी तरह सोचकर युक्ति-पूर्वक जो काम किये जाते हैं वे ही ठीक-ठीक सिद्ध होते हैं। उन कामों की सिद्धि में दैव भी सहायता करता है। तुम आगे-पीछे सोचे बिना बल और घमण्ड के मारे बिलकुल नासमझ की तरह जिस साहस के काम में लगना चाहते हो, उसके विषय में जो कुछ मुझे कहना है सो सुनो। भूरिश्रवा, शल, जलसन्ध, भीष्म, द्रोण,

सर्वे एव कृतास्त्राश्च सततं चाऽऽततायिनः ॥ १० ॥
राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः ।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च तं प्रति ॥ ११ ॥
दुर्योधनहिते युक्ता न तथाऽस्मासु भारत ! ।
पूर्णकोशबलोपेताः प्रयतिष्यन्ति सङ्गरे ॥ १२ ॥
सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः ।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः ॥ १३ ॥
दुर्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति संग्राम इति मे निश्चिता मतिः ॥ १४ ॥
समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च ।
द्रोणस्य च महाबाहो ! कृपस्य च महात्मनः ॥ १५ ॥
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः ।
तस्मात्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ॥ १६ ॥
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ॥ १७ ॥
अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः ।

पराक्रमी अश्वत्थामा और दुर्योधन आदि दुर्द्धर्ष धृतराष्ट्र के पुत्र, ये सभी अस्त्रविद्या में बड़े निपुण हैं और सदा युद्ध के लिये कटिबद्ध रहते हैं ॥१।१०॥

विशेषकर जिन राजाओं को हराकर हमने नीचा दिखाया है वे सब इस समय दुर्योधन के पक्ष में हो गये हैं। दुर्योधन ने भी उनको बहुत सा धन और सैन्य सामग्री देकर और भी अधिक अपने अनुकूल तथा आज्ञाकारी बना लिया है । युद्ध आरम्भ होने पर वे कभी हमारी सहायता नहीं करेंगे । दुर्योधन ने तरह-तरह के वस्त्र, आभूषण, धन आदि देकर सैनिकों को सन्तुष्ट कर रक्खा है । स्वयं दुर्योधन वीर पुरुषों से नम्र रहकर उनका जैसा सम्मान करता है उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कभी दुर्योधन के विरुद्ध कुछ करेंगे । मुझे तो निश्चय है कि आवश्यकता पड़ने पर वे युद्ध में दुर्योधन के लिये अपने प्राण तक दे सकते हैं । यह अवश्य है कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य दोनों पक्षों (कौरवों और पाण्डवों) पर बराबर स्नेह रखते हैं; किन्तु वे इस समय दुर्योधन से ही अन्न-वस्त्र और अनेक प्रकार के भोग पाते हैं । इसके लिये वे उसके ऋणी हैं । उस ऋण को चुकाने के लिये वे अवश्य दुर्योधन की ओर से, प्राणों की ममता छोड़कर, युद्ध करेंगे । वे सब धीर, अस्त्रविद्या में निपुण और युद्धकला में अद्वितीय हैं ।

सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ॥ १८ ॥
अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान्पुरुषसत्तमान् ।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया ॥ १९ ॥
न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर ! ।
अतिसर्वान्धनुर्ग्राहान्सूतपुत्रस्य लाघवम् ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच–एतद्वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किंचन ॥ २१ ॥
तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः ।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः । २२ ।
सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ २३ ॥
व्यास उवाच–युधिष्ठिर ! महाबाहो ! वेद्मि ते हृदयस्थितम् ।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ ! ॥ २४ ॥
भीष्माद् द्रोणात्कृपात्कर्णाद् द्रोणपुत्राच्च भारत ! ।
दुर्योधनान्नृपसुतात्तथा दुःशासनादपि ॥ २५ ॥
यत्ते भयममित्रघ्न ! हृदि संपरिवर्तते ।

अस्त्र विद्या में निपुण महारथी कर्ण का शरीर सदा कवच से सुरक्षित रहता है। वह कवच किसी प्रकार से काटा नहीं जा सकता। युद्धभूमि में कुपित कर्ण का सामना करना कोई सहज काम नहीं है। तुम सहाय हीन हो। फिर किस तरह इन सब महापराक्रमी वीर पुरुषों को हरा सकोगे? पहले इन वीरों को हराये बिना किसी तरह तुम दुर्योधन को मार नहीं सकोगे। भाई भीम, दुर्धर्ष कर्ण की युद्ध-निपुणता का स्मरण करके मुझे खाना पीना या सोना नहीं अच्छा लगता ॥११।२०॥

क्रोधी भीमसेन अपने बड़े भाई युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर उदास भाव से उत्तर चुप हो। रहे। दोनों पाण्डव इस तरह बात चीत कर ही रहे थे कि महर्षि वेदव्यास वहां पर आ पहुँचे। पाण्डवों ने उनका यथोचित सत्कार किया। इसके उपरान्त व्यासदेव जी ने युधिष्ठिर से कहा हे नरश्रेष्ठ ! मैं अपने तपोबल से तुम्हारे हृदय के भाव को जानकर शीघ्रता से यहां आया हूँ। हे महाराज ! तुम्हें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, दुर्योधन और दुःशासन से जो भय लग रहा है उसी को दूर करने मैं तुम्हारे समीप आया हूँ। जिस उपाय से तुम्हारी यह दशा दूर होगी वह मैं कहता हूँ। सुनकर उसी के अनुसार कार्य करो। उस उपाय के अनुसार कार्य करने से फिर तुम्हें यह व्यर्थ चिन्ता न करनी

तत्तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २६ ॥
तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय ।
प्रतिपाद्य तु राजेन्द्र ! ततः क्षिप्रं ज्वरं जहि ॥ २७ ॥
तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम् ।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः ॥ २८ ॥
श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम ! ।
येनाऽभिभविता शत्रून्रणे पार्थो धनञ्जयः ॥ २९ ॥
गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ॥ ३० ॥
यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाऽभिगच्छतु ॥ ३१ ॥
वरुणं च कुबेरं च धर्मराजं च पाण्डव ! ।
शक्तो ह्येष सुरान्द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥ ३२ ॥
ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान् ।
पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः ॥ ३३ ॥
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च ।
समादाय महाबाहुर्महत्कर्म करिष्यति ॥ ३४ ॥
वनादस्माच्च कौन्तेय ! वनमन्यद्विचिन्त्यताम् ।

होगी। इसके पश्चात् व्यासदेव धर्मराज को बुलाकर एकान्त में ले गये। वहां पर व्यासदेव जी ने कहा—हे भरतश्रेष्ठ! मैं तुमको प्रतिस्मृति नाम की विद्या देता हूँ, इसको तुम ग्रहण करो। इस विद्या के पा जाने से अर्जुन युद्ध में शत्रुओं को ले डालेंगे॥२१।३०॥

महाबाहु अर्जुन इस विद्या के प्रभाव से अस्त्र पाने के लिये तप करेंगे तो देवाधिदेव महादेव और देवराज इन्द्र की प्रसन्नता प्राप्त कर लेंगे। महावीर अर्जुन तपस्या और पराक्रम के प्रभाव से वरुण, कुबेर और धर्म आदि देवताओं के भी दर्शन पावेंगे। अर्जुन महातेजस्वी प्राचीन ऋषि हैं। भगवान् नारायण इनके सहायक हैं। इनको कोई जीत नहीं सकता। ये अर्जुन इन्द्र, रुद्र, वरुण आदि लोकपालों से अनेक प्रकार के अस्त्र पाकर बड़ा भारी काम करेंगे। हे धर्मराज युधिष्ठिर, अब तुम रहने के योग्य और एक वन निश्चित करो, क्योंकि बहुत समय तक एक ही स्थान रहना अच्छा नहीं लगता। वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता बहुत से ब्राह्मण आपके साथ हैं। आपके

निवासार्थाय यद्युक्तं भवेद्वः पृथिवीपते ! ॥ ३५ ॥
एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत् ।
तापसानां च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ॥ ३६ ॥
मृगाणामुपयोगश्च वीरुदोषधिसंक्षयः ।
बिभर्षि च बहून्विप्रान्वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान्प्रभुः ।
प्रोवाच लोकतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम् ॥ ३८ ॥
धर्मराजाय धीमान्स व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ ३९ ॥
युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद्ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाऽभ्यसन् ॥ ४० ॥
स व्यासवाक्यमुदितो वनाद् द्वैतवनात्ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम काननम् ॥ ४१ ॥
तमन्वयुर्महाराज ! शिक्षाक्षरविशारदाः ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ॥ ४२ ॥
ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभाः ।
न्यविशन्त महात्मानः सामात्याः सपरिच्छदाः ॥ ४३ ॥
तत्र ते न्यवसन्राजन् ! किंचित्कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वन्तो वेदमुत्तमम् ॥ ४४ ॥

बहुत दिनों तक एक जगह रहने से, लोगों की भीड़ भाड़ से, शान्त तपस्वियों के तप में बाधा पड़ सकती है। लता और ओषधियों का नाश हो सकता है और मृगों की संख्या भी कम हो जायगी। योग-तत्त्व के जाननेवाले भगवान् व्यास प्रसन्नचित्त से धर्मराज को यह श्रेष्ठ विद्या देकर उनसे विदा हुए और अन्तर्धान हो गये। धर्मात्मा युधिष्ठिर भी पवित्र हृदय से महर्षि की दी हुई उस मन्त्रमयी विद्या को प्राप्त करके समय समय पर एकाग्र चित्त से उसका अभ्यास करने लगे ॥३१।४०॥

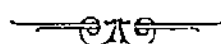
इसके पश्चात् महर्षि की आज्ञा स्मरण करके, द्वैतवन को छोड़कर, वे सरस्वती के तट पर स्थित काम्यक वन के लिये चल दिये। वेद-वेदाङ्ग के जानने-वाले ब्राह्मण लोग भी उनके साथ साथ चले। काम्यक वन में पहुँचकर वहां सब पाण्डव रहने लगे। वे प्रतिदिन वेद सुनते, शिकार खेलते, और देवताओं

चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

तथा पितरों की विधिपूर्वक पूजा करते हुए कुछ समय तक उसी वन में रहे ॥४१।४५॥

वनपर्व का छत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥



अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच कस्यचित्त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसंदेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्जुनं पुरुषर्षभ ! ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ॥ २ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिन्दमः ।
धनञ्जयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच-भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ! ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥
दैवं ब्राह्मं मानुषं च सयत्नं सचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च तेऽभिजानन्ति कृत्स्नशः ॥ ५ ॥
ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत्तेषु वर्तते ॥ ६ ।

सैंतीसवां अध्याय ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसी तरह कुछ समय के व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन महाराज युधिष्ठिर ने वनवास के क्लेश का तनिक विचार किया और फिर महर्षि वेदव्यास के उपदेश को स्मरण करके बुद्धिमान् अर्जुन को एकान्त में बुलाया और स्नेहपूर्वक उसकी पीठ पर हाथ फेरकर मुस्कराते हुए कहा—हे अर्जुन ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा, ये पांचों धनुर्वेद के चारों अङ्गों को अर्थात् लेना, चढ़ाना, छोड़ना और लौटाना अच्छी तरह से जानते हैं ॥१।४॥ ब्राह्म, दैव, और मानुष आदि सब अस्त्रों के प्रयोग और शत्रुओं के चलाये इन अस्त्रों के उपसंहार में भी ये लोग सुशिक्षित हैं । दुर्योधन नम्रता के साथ बहुत सा धन देकर इन सबको प्रसन्न रखता है और सबका गुरु के समान सम्मान करता है। सब योद्धा उससे प्रसन्न रहते हैं । द्रोण आदि आचार्य भी

सर्वयोधेषु चैवाऽस्य सदा प्रीतिरनुत्तमा ।
आचार्या मानितास्तुष्टाः शान्तिं व्यवहरन्त्युत ॥ ७ ॥
शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ।
अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा ॥ ८ ॥
सग्रामनगरा पार्थ ! ससागरवनाकरा ।
भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ॥ ९ ॥
अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिन्दम ! ।
कृष्णद्वैपायनात्तात ! गृहीतोपनिषन्मया ॥ १० ॥
तया प्रयुक्तया सम्यग्जगत्सर्वं प्रकाशते ।
तेन त्वं ब्रह्मणा तात ! संयुक्तः सुसमाहितः ॥ ११ ॥
देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ।
तपसा योजयाऽऽत्मानमुग्रेण भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥
धनुष्मान्कवची खड्गी मुनिः साधुव्रते स्थितः ।
न कस्यचिद्ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम् ॥ १३ ॥
इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनञ्जय ! ।
वृत्राद्भीतैर्बलं देवैस्तदा शक्रे समर्पितम् ॥ १४ ॥
तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे ।
शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ॥ १५ ॥

सम्मानित और सन्तुष्ट रहकर सदा उसके दोषों को ढकने की चेष्टा किया करते हैं। समय के आने पर दुर्योधन के द्वारा पूजित होकर वे अवश्य अपने योग्य बल और विक्रम प्रकट करेंगे। हे अर्जुन ! इस समय गाँव, नगर, वन, समुद्र खान आदि सहित यह सब पृथ्वी दुर्योधन के वश में ही है। हम सब को तुम अत्यन्त प्रिय हो। तुम्हारे ही ऊपर हमारा भार है। इसलिये हे शत्रुओं के नाश करनेवाले ! अब इस समय के योग्य जो कर्तव्य मैंने ठीक किया है, सो सुनो। हे अर्जुन ! व्यास जी ने हमको एक रहस्य विद्या बतलाई है ॥५।१०॥

उस विद्या का ठीक-ठीक प्रयोग करने से सब जगत प्रकाशित हो सकता है। तुम उस विद्या को लेकर सावधानी से उसका प्रयोग करके देवताओं को प्रसन्न करो और अपना मन उग्र तपस्या में लगाओ। अब तुम धनुष, कवच और खड्ग धारण करके साधुओं का व्रत लेकर मुनि के स्वरूप में सीधे उत्तर दिशा को चले जाओ। वृत्रासुर के डर के मारे सब देवताओं ने दिव्य अस्त्र इन्द्र को दे दिये थे। अब वे सब अस्त्र एक इन्द्र ही के पास

दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरन्दरम् ।
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः ॥ १६ ॥
दीक्षितं विधिनाऽनेन धृतवाक्कायमानसम् ।
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ॥ १७ ॥
निदेशाद्धर्मराजस्य द्रष्टुकामः पुरन्दरम् ।
धनुर्गाण्डीवमादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ॥ १८ ॥
कवची सतनुत्राणो बद्धगोधांगुलित्रवान् ।
हुताग्निर्ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः ॥ १९ ॥
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः ।
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम् ।
अब्रुवन्ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ॥ २१ ॥
क्षिप्रमाप्नुहि कौन्तेय ! मनसा यद्यदिच्छसि ।
अब्रुवन्ब्राह्मणाः पार्थमिति कृत्वा जयाशिषः ॥ २२ ॥
संसाधयस्व कौन्तेय ! ध्रुवोऽस्तु विजयस्तव ।
तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ॥ २३ ॥
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत् ।

है इससे तुम इन्द्र ही को प्रसन्न करो वही तुमको सब अस्त्र देगा ॥११।१५॥

तुम इस विद्या की दीक्षा लेकर इन्द्र से मिलने के लिये अभी चल दो। यह कहकर युधिष्ठिर ने अर्जुन को वह मन्त्र बतला दिया। अब अर्जुन ने इस प्रकार से अपने बड़े भाई से दीक्षा पाकर उसकी आज्ञा के अनुसार इन्द्र के दर्शनों की इच्छा से गाण्डीव धनुष, दो अक्षय तर्कस और कवच धारण किये। इसके पश्चात् अग्निहोत्र किया। फिर ब्राह्मणों को बहुत सा धन देकर स्वस्तिवाचन का पाठ कराया अर्जुन ने मन में दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों के मारने का विचार करके एक लम्बी सांस लेकर आकाश की ओर देखा ॥१६।२०॥

उस समय अर्जुन को देखकर सिद्ध, ब्राह्मण और गुप्त प्राणियों ने कहा-हे कुन्तीपुत्र ! बहुत शीघ्र तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा। तुम्हारी विजय निश्चित है। जाओ, अपने सब कार्य सिद्ध करो। सब ब्राह्मण आशीर्वाद देते हुए कहने लगे-हे अर्जुन ! तुम निडर होकर जाओ, तुम्हें जय प्राप्त होगी। अब अर्जुन को जाने के लिये तैयार देखकर दयावती द्रौपदी करुण रस से सबके मन को विगलित करती हुई कहने लगी-हे वीर ! तुम्हारे जन्म के समय

कृष्णोवाच—यत्ते कुन्ती महाबाहो ! जातस्यैच्छद्धनञ्जय ! ॥ २४ ॥
तत्तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय ! यथा च स्वयमिच्छसि ।
माऽस्माकं क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ॥ २५ ॥
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां भैक्षेण जीविका ।
इदं मे परमं दुःखं यः स पापः सुयोधनः ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा मां गौरिति प्राह प्रहसन्राजसंसदि ।
तस्माद् दुःखादिदं दुःखं गरीय इति मे मतिः ॥ २७ ॥
यत्तत्परिषदो मध्ये वह्वयुक्तमभाषत ।
नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभि प्रजागरे ॥ २८ ॥
रंस्यन्ते वीर ! कर्माणि कथयन्तः पुनः पुनः ।
नैव नः पार्थ ! भोगेषु न धने नोत जीविते ॥ २९ ॥
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि ।
त्वयि नः पार्थ ! सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते । ३० ॥
जीवितं मरणं चैव राज्यमैश्वर्यमेव च ।
आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय ! स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ! ॥ ३१ ।
बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्यमेतत्त्वयाऽनघ ! ।

कुन्ती ने जो इच्छा की थी, और तुम्हारे मन में जो अभिलाषा है, सो सब सफल हों। मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि हम लोगों में से कोई फिर क्षत्रिय-कुल में न उत्पन्न हो ॥२४।२५॥

मैं भिक्षा से ही अपनी जीविका चलानेवाले ब्राह्मणों को नमस्कार करती हूँ। पहले पापी दुर्योधन ने राजसभा में "गाय गाय" (अनेक पुरुषों की स्त्री) कहकर बारम्बार मेरा उपहास किया था। इसी से मुझे अत्यन्त दुःख हुआ था। किन्तु इस समय मैं देखती हूँ कि तुम्हारे वियोग का दुःख उससे भी बढ़कर पीड़ा पहुँचा रहा है। हे पार्थ! तुम्हारे भाई तुम्हारे चले जाने पर रात्रि को जागते समय तुम्हारे कामों का वर्णन करके तुम्हारी चर्चा करके—अपना दिल बहलावेंगे। हे नाथ ! तुम यह निश्चय जानो कि तुम्हारे बहुत दिन के वियोग के दुःख से अत्यन्त व्याकुल होकर हम लोग आहार, विहार और जीवन में तनिक भी सन्तोष न प्राप्त करेंगे ॥२६।३०॥

क्योंकि हम सब के सुख, दुःख, जीवन, मरण, राज्य और ऐश्वर्य तुम्हारे ही आश्रय है। मैं हृदय से प्रार्थना करती हूँ कि तुम्हारा मङ्गल हो। हे नाथ! तुमने जिस कार्य के करने का निश्चय किया है वह वीर पुरुष के ही योग्य है। तुम जय-प्राप्त करने के लिये शीघ्र जाओ। तुम्हारे सब विघ्न दूर हों। मैं तुम्हारी कुशल और कल्याण के लिये धाता और

प्रयाह्यविघ्नेनैवाऽऽशु विजयाय महाबल ! ।
नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ॥ ३२ ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिर्द्युतिः पुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती ।
इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनञ्जय ! ॥ ३३ ॥
ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः ।
प्रपद्येऽहं वसून्रुद्रानादित्यान्समरुद्गणान् ॥ ३४ ॥
विश्वेदेवांस्तथा साध्याञ्छान्त्यर्थं भरतर्षभ ! ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत ! ॥ ३५ ॥
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चाऽन्ये परिपन्थिनः ।
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वाऽऽशिषः कृष्णा विरराम यशस्विनी ॥ ३६ ॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन्धौम्यं च पाण्डवः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ ३७ ॥
तस्य मार्गादपाक्रामन्सर्वभूतानि गच्छतः ।
युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः ॥ ३८ ॥
सोऽगच्छत्पर्वतांस्तात ! तपोधननिषेवितान् ।
दिव्यं हैमवतं पुण्यं देवजुष्टं परन्तपः ॥ ३९ ॥
अगच्छत्पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः ।
मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथाऽनिलः ॥ ४० ॥
हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च ।

विधाता को नमस्कार करती हूँ; वे तुम्हारा भला करें। ह्री, श्री, कीर्त्ति, द्युति, पुष्टि, उमा, लक्ष्मी, सरस्वती, ये सदा विदेश में तुम्हारी रक्षा करें। तुम बड़े भाई की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करते हो। इसी कारण मैं तुम्हारे भले की इच्छा से वसु, रुद्र, आदित्य, मरुद्गण, विश्वेदेवा, साध्यगण आदि की आराधना करूँगी। वे शान्ति देवें। दिव्य, पृथ्वी के, आकाशचारी और अन्यान्य प्रकार के विघ्नों से तुम्हारा बचाव रहे ॥३१।३५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार द्रौपदी जब आशीर्वाद दे चुकी तब सुन्दर धनुष हाथ में लिये हुए अर्जुन ने अपने भाइयों की और पुरोहित धौम्य की प्रदक्षिणा की। इन्द्र योग से युक्त पराक्रमी और कान्तिशाली महाबली अर्जुन जब चले तब सब प्राणी मार्ग में उनके सामने से हटने लगे। तपस्वियों के आश्रमों से सुशोभित अनेकानेक

अत्यक्रामत्स दुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रित· ॥ ४१ ॥
इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद्धनञ्जयः ।
अन्तरिक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा ॥ ४२ ॥
तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः ।
अथाऽपश्यत्सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम् ॥ ४३ ॥
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम् ।
सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः ॥ ४४ ॥
कस्त्वं तातेह संप्राप्तो धनुष्मान्कवची शरी ।
निबद्धासितलत्राण क्षत्रधर्ममनुव्रत· ॥ ४५ ॥
नेह शस्त्रेण कर्तव्य शान्तानामेष आलयः ।
विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ॥ ४६ ॥
नेहाऽस्ति धनुषा कार्यं न सङ्ग्रामोऽत्र कर्हिचित् ।
निक्षिपैतद्धनुस्तात ! प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ ४७ ॥
ओजसा तेजसा वीर ! यथा नाऽन्य· पुमान्कचित् ।
तथा हसन्निवाऽभीक्ष्ण ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत ।
न चैनं चालयामास धैर्यात्सुधृतनिश्चयम् ॥ ४८ ॥
तमुवाच ततः प्रीत· स द्विज· प्रहसन्निव ।

पर्वतों को लांघते हुए अर्जुन एक ही दिन में दिव्य अति पवित्र और देवताओं के रहने के स्थान हिमालय पर्वत पर पहुँच गये ॥३९।४०॥

मन और वायु के समान वेग से जाते हुए अर्जुन हिमालय और गन्धमादन पर्वत को लाँघकर रातदिन चलकर इन्द्रकील पर्वत पर पहुंचे। वहां पहुंचते ही उन्हें "ठहरो" शब्द सुन पड़ा। अर्जुन इस बात को सुनकर इधर उधर देखने लगे। उन्होंने पास ही वृक्ष के नीचे एक तपस्वी ब्राह्मण को देखा। वह ब्राह्मण तेजस्वी और बहुत ही दुबला था। वह पिङ्गल वर्ण का था। उसके सिर पर जटाएं थीं। उस तपस्वी ने अर्जुन को देखकर कहा—हे धनुषबाण और तलवार के रखनेवाले और क्षत्रिय धर्म पर चलने वाले! तुम कौन हो? क्षत्रियवेष से इस शान्तिपूर्ण आश्रम में क्यों आये हो? यहां शस्त्र और धनुष आदि का क्या प्रयोजन? यहां तो ऐसे तपस्वी ब्राह्मण रहते हैं जिनमें न हर्ष है न क्रोध ॥४१।४६॥

यहां युद्ध करनेवाला भी कोई नहीं है। इसलिये तुम धनुष को और बाणों को फेंक दो। तुम भाग्य से ही परम गति को प्राप्त हुए हो। यद्यपि उस ब्राह्मण ने ये उक्त बातें अर्जुन से हंसकर कहीं पर अर्जुन अपने धैर्य से नहीं डिगाया। तब उस

वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन ! ॥ ४९ ॥
एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनञ्जयः ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः ॥ ५० ॥
ईप्सितो ह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे ।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५१ ॥
प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव ।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनञ्जय ! ॥ ५२ ॥
कामान्वृणीष्व लोकांस्त्वं प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनञ्जयः ॥ ५३ ॥
न लोभान्न पुनः कामान्न देवत्वं पुनः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप ! ॥ ५४ ॥
भ्रातृंस्तान्विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च ।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥ ५५ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम् ।
सान्त्वयंश्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ५६ ॥
यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम् ।
दाताऽस्मि ते तदा तात ! दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर हंसकर कहा कि तुम्हारा कल्याण हो । हे शत्रुओं के नाश करनेवाले ! मुझसे जो चाहो वह वर मांग लो मैं इन्द्र हूँ । उस समय उस शूरवीर अर्जुन ने दोनों हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहा ॥४९।५०॥

मैं यहां आपके दर्शनों के निमित्त ही आया था । हे भगवन् ! मैं आपसे सम्पूर्ण अस्त्र-विद्या सीखने आया हूँ । यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरी यह इच्छा पूरी कीजिए । तब इन्द्र ने प्रसन्न होकर हंसकर कहा-हे अर्जुन ! तुम जब यहां पहुंच गये तब अस्त्र लेकर क्या करोगे ? तुम तो परम गति के स्थान पर आ पहुँचे हो जो कुछ तुमको भोगने की इच्छा हो वह हमसे मांगो । यह सुनकर अर्जुन ने उत्तर दिया—हे देवेन्द्र ! मैं तुच्छ और असार सुख-भोग या देवत्व पाने की इच्छा से यहां नहीं आया । मैं अपने भाइयों को वन में छोड़कर शत्रुओं से बदला चुकाने के लिये अस्त्र-विद्या सीखने आया हूं । यदि इस चेष्टा को छोड़कर मैं और कुछ चाहूँगा तो जगत में मेरी निन्दा हुआ करेगी ॥५१।५५॥

यह सुनकर उस वृत्रासुर के मारनेवाले और सब लोकों के पूज्य इन्द्र ने मधुर स्वर से कहा—हे अर्जुन ! तुम जब देवाधिदेव के जो सब प्राणियों

[illegible] नः ।
दर्शनात्तस्य कौन्तेय ! संसिद्धः स्वर्गमेष्यसि ॥ ५८ ॥
इत्युक्त्वा फाल्गुनं शक्रो जगामाऽदर्शनं पुनः ।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ॥ ५९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि इन्द्रदर्शने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

समाप्तं च अर्जुनाभिगमन पर्व

के ईश्वर त्रिशूलधारी और तीन नेत्र रखनेवाले है, दर्शन पाओगे तब मैं उसी समय वहा आकर तुमको सब दिव्य अस्त्र दूंगा। अब उनको प्रसन्न करने का यत्न करो। उनके दर्शन मिलने से ही तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा। यह कहकर इन्द्र तो वहीं अन्तर्द्धान हो गये और अर्जुन उसी स्थान पर ठहर गया ॥५८।५९॥

वनपर्व का सैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

अथ कैरात पर्व ।

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

जनमेजय उवाच—भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पार्थस्याऽक्लिष्टकर्मणः ।
विस्तरेण कथामेतां यथाऽस्त्राण्युपलब्धवान् ॥ १ ॥
यथा च पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनञ्जयः ।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ॥ २ ॥
किं च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम ! ।
कथं च भगवान्स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम ! ।
त्वं हि सर्वज्ञ ! दिव्यं च मानुषं चैव वेत्थ ह ॥ ४ ॥
अत्यद्भुततमं ब्रह्मँल्लोमहर्षणमर्जुनः ।

अड़तीसवां अध्याय ॥ ३८ ॥

यह सब वृत्तान्त सुनकर राजा जनमेजय ने वैशम्पायन जी से कहा—हे भगवन् ! महाबाहु अर्जुन ने किस तरह सब दिव्य अस्त्र प्राप्त किये, सो आप विस्तार के साथ कहिए। यह भी कहिए कि यह पुरुषोत्तम अर्जुन इस निर्जन वन में निर्भय होकर किस प्रकार से रहा और उसने क्या ऐसा काम किया जिससे उसपर शिवजी और इन्द्र प्रसन्न हुए ! हे सर्वज्ञ और ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ! आप देवताओं और मनुष्यों के सब वृत्तान्तों को अच्छीतरह जानते है। मैं आपके मुख से यह सब वृत्तान्त सुनना चाहता

भवेन सह संग्रामं चकाराऽप्रतिमं किल ॥ ५ ॥
पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः ।
यच्छ्रुत्वा नरसिंहानां दैन्यहर्षातिविस्मयात् ॥ ६ ॥
शूराणामपि पार्थानां हृदयानि चकम्पिरे ।
यद्यच्च कृतवानन्यत्पार्थस्तदखिलं वद ॥ ७ ॥
न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच कथयिष्यामि ते तात ! कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां पौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ॥ ९ ॥
गात्रसंस्पर्शसंबद्धां त्र्यम्बकेण सहाऽनघ ! ।
पार्थस्य देवदेवेन श्रृणु सम्यक्समागमम् ॥ १० ॥
युधिष्ठिरनियोगात्स जगामाऽमितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ॥ ११ ॥
दिव्यं तद्धनुरादाय खड्गं च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ॥ १२ ॥
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन् ! सर्वलोकमहारथः ॥ १३ ॥
त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः ।

हैं ॥१।४॥

मैंने सुना है उस अपराजित अर्जुन से और शिव जी से बड़ा अद्भुत, रोमहर्षण और अनूप युद्ध हुआ था जिसको सुनकर नाश होने के भय, हर्ष और विस्मय से पाण्डवों के हृदय भी कम्पित हो गये थे। इसके सिवाय और जो कुछ कर्म अर्जुन ने वहां किये वह सब भी कृपा करके मुझे सुनाइए। मैं जानता हूँ कि उस शूरवीर का कोई काम साधारण और निन्दित नहीं है ॥५।८॥

वैशम्पायन जी ने कहा, हे—राजा जनमेजय ! जिस तरह देवाधिदेव महादेव से अर्जुन की भेंट हुई और दोनों का घोर संग्राम हुआ, सो सब दिव्य कथा कहता हूँ सुनिए। वह पराक्रमी अर्जुन, कार्य की सिद्धि के लिये युधिष्ठिर की आज्ञा से, महादेव और इन्द्र के दर्शन करने के लिये, गाण्डीव धनुष और सुवर्ण की मूठवाला खड्ग लेकर, स्थिर मन होकर, अकेले शीघ्रतापूर्वक उत्तर दिशा की ओर चल दिये। महारथी अर्जुन उत्तर दिशा को जा करके, कार्यों में सं

वनं कण्टकितं घोरमेक एवाऽन्वपद्यत ॥ १४ ॥
नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ १५ ॥
ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम् ।
शङ्खानां पटहानां च शब्दः समभवद्दिवि ॥ १६ ॥
पुष्पवर्षं च सुमहन्निपपात महीतले ।
मेघजालं च विततं छादयामास सर्वतः ॥ १७ ॥
सोऽतीत्य वनदुर्गाणि सन्निकर्षे महागिरेः ।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ॥ १८ ॥
तत्राऽपश्यद् द्रुमान्फुल्लान्विहगैर्वल्गुनादितान् ।
नदीश्च विपुलावर्ता वैदूर्यविमलप्रभाः ॥ १९ ॥
हंसकारण्डवोद्गीताः सारसाभिरुतास्तथा ।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिता ॥ २० ॥
मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्ननिरथोऽर्जुनः ।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन्प्रीतमनाभवत् ॥ २१ ॥
रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।

और विविध फल-फूलों तथा तरह-तरह के पक्षियों से शोभित वन को लाँघकर, अन्त को हिमालय पर्वत के पास पहुँच गये ॥१२।१४॥

वहाँ सिद्ध और चारण लोग रहते थे। उस वन में मनुष्य नहीं जा सकता था। जब अर्जुन वहाँ पहुँचे तब स्वर्ग में शङ्ख और नगाड़े बजने लगे। पृथ्वी पर दिव्य फूलों की वर्षा हुई और चारों ओर से बादल उमड़ आये। गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन उस वन में दुर्गम स्थानों को लाँघकर हिमालय की उपत्यका भूमि में पहुँचे। उन्होंने देखा, फूलों और पत्तों के बोझ से झुकी हुई वृक्षों की कतारें पर्वत शिखर पर परम शोभा पा रही हैं। विविध प्रकार के पक्षी वृक्षों की डालियों पर बैठे मधुर स्वर से बोल रहे हैं। बड़ी बड़ी चक्कर खाती हुई नदियाँ बह रही हैं। उनका जल अत्यन्त पवित्र और वैडूर्य मणि के समान निर्मल है। नदियों के तटों पर फूले फले वृक्ष लगे हैं। जिन पर हंस, कारण्डव, सारस, क्रौञ्च, कोकिला, मोर आदि जल और स्थल के पक्षी चारों ओर कलोल कर रहे हैं। महाबाहु अर्जुन उस मनोहर वन और शीतल पवित्र जलवाली नदियों को देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥१५।२०॥

महामनस्वी अर्जुन वल्कल, दण्ड, मृगछाला आदि धारण करके वृक्षों से आप ही गिरे हुए सूखे पत्ते खाकर अत्यन्त कठिन तप करने लगे। उन्होंने

तपस्युग्रे वर्तमान उग्रतेजा महामनाः ॥ २२ ॥
दर्भचीरं निवस्याऽथ दण्डाजिनविभूषितः ।
शीर्णं च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ॥ २३ ॥
पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः ।
द्विगुणेन हि कालेन द्वितीयं मासमत्ययात् ॥ २४ ॥
तृतीयमपि मासे स पक्षेणाऽऽहारमाचरत् ।
चतुर्थे त्वथ संप्राप्ते मासे भरतसत्तमः ॥ २५ ॥
वायुभक्षो महाबाहुरभवत्पाण्डुनन्दनः ।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादांगुष्ठाग्रधिष्ठितः ॥ २६ ॥
सदोपस्पर्शनाच्चाऽस्य बभूवुरमितौजसः ।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ॥ २७ ॥
ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ।
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रे समास्थितम् ॥ २८ ॥
तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ।
एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमास्थितः ॥ २९ ॥
उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन्दिशः ।
तस्य देवेश ! न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ॥ ३० ॥
संतापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्यताम् ।

पहले मास में तीन-तीन दिन के बाद, दूसरे मास में छः छः दिन के बाद और तीसरे मास में पन्द्रह-पन्द्रह दिन के बाद केवल फल खाकर ही तप किया था ॥२१।२५॥

और चौथे मास में उन्होंने केवल वायुभक्षी रहकर ऊपर को हाथ उठाये हुए बिना सहारे पाँव के अंगूठों के बल से खड़े होकर तपस्या की। उनकी जटाएँ सदा जल में स्नान करने से बिजली और कमल की मानिन्द चमकती हुई देख पड़ती थीं। सब महर्षि अर्जुन की इस प्रकार कठिन तपस्या करने का कारण जानने के लिए पिनाकधारी शिवजी के पास गये। उनको प्रणाम करके उन्होंने कहा—हे महाराज ! हिमालय की पृष्ठ पर अर्जुन दिशाओं को भस्म करनेवाली इस तपस्या कर रहे हैं हम नहीं जानते हैं कि ऐसी तपस्या करने से उनका क्या प्रयोजन है ? ॥२६।३०॥

उनकी तपस्या के तेज से हम सब लोग तप्त हो गये हैं। आप यदि उनको तप करने से हटावें

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ३१ ॥
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ।
महादेव उवाच—न वो विषादः कर्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः ॥ ३२ ॥
शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः ।
अहमस्य विजानामि संकल्पं मनसि स्थितम् ॥ ३३ ॥
नाऽस्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्यस्य तथाऽऽयुषः ।
यत्त्वस्य काङ्क्षितं सर्वं तत्करिष्येऽहमद्य वै ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः ।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथा स्वान्पुनरालयान् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कैरातपर्वणि मुनिशंकरसंवादे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

तो बहुत श्रेष्ठ होगा। यह सुनकर प्राणियों के ईश्वर महादेव जी ने उन शुद्ध अन्तःकरण मुनियों से कहा—तुम लोग प्रसन्न होकर अब शीघ्र अपने-अपने आश्रमों को चले जाओ। अर्जुन से तुम लोग किसी प्रकार का भय मत करो। मै उनके मनोरथ को अच्छी तरह जानता हूँ। उनको स्वर्ग, ऐश्वर्य और आयु की इच्छा नहीं है। अब मैं उनके मनोरथ को पूरा करूँगा। वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! यह सब ऋषि लोग महादेव के वचनों को सुनकर प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने आश्रमों को चले आये ॥३१।३५॥

वनपर्व का अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

अथ एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच—गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान्सर्वपापहरो हरः ॥ १ ॥
कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम् ।
विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवाऽपरः ॥ २ ॥

उन्तालीसवाँ अध्याय ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! जब वह सब महात्मा तपस्वी चले गये तब शिव जी महाराज ने जो पर् ऐश्वर्य के स्वामी और पापों के दूर करनेवाले हैं सुनहले वृक्ष के समान किरात का स्वरूप धारण किया। उनके शरीर की कान्ति मेरु पर्वत के समान झलकती थी। उस देह को धारण करके शिव जी धनुष और सर्पों के समान बाणों को लिये हुए अग्नि के तुल्य वेग से चल दिये। और पार्वती सहित जिनके पीछे-पीछे बहुत से अनेक वेषधारी पार्षद थे सहस्रों स्त्रियों को साथ लिये हुए



किरातरूपधारी शिव जी का वन में स्त्रियों सहित अर्जुन की परीक्षा लेने के लिये आना।

श्रीमद्धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव ॥ ३ ॥
देव्या सहोमया श्रीमान्समानव्रतवेषया ।
नानावेषधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा ॥ ४ ॥
किरातवेषसंछन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।
अशोभत तदा राजन्! स देशोऽतीव भारत! ॥ ५ ॥
क्षणेन तद्वनं सर्वं निःशब्दमभवत्तदा ।
नादः प्रस्रवणानां च पक्षिणां चाऽप्युपारमत् ॥ ६ ॥
स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याऽक्लिष्टकर्मणः ।
मूकं नाम दनोः पुत्रं ददर्शाऽद्भुतदर्शनम् ॥ ७ ॥
वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवाऽर्जुनम् ।
हन्तुं परमदुष्टात्मा तमुवाचाऽथ फाल्गुनः ॥ ८ ॥
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ॥ ९ ॥
यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहाऽऽगतम् ।
तस्मात्त्वां पूर्वमेवाऽहं नेताऽद्य यमसादनम् ॥ १० ॥
दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शंकरः ॥ ११ ॥

उस वन में आ पहुचे जिसमें अर्जुन कठिन तपस्या कर रहे थे। शिव जी के आने से वह वन अत्यन्त सुशोभित हो गया। चारों ओर से पक्षियों की चहचहाहट और झरनों का अर्राटा बन्द हो गया और वह वन सूनसान सा दीखने लगा ॥१।६॥

जब शिव जी अर्जुन के पास पहुंचे तब उन्होंने मूक नामी दैत्य को जो वाराह का स्वरूप धरकर अर्जुन को मारने आया था देखा। अर्जुन उस दैत्य को देखकर धनुष को चढ़ाकर टंकारने लगे और सर्प के समान बाणों को हाथ में धारण करके कहने लगे— अरे दुष्ट! मैंने तेरी कुछ बुराई नहीं की, तो भी तू यहां पर स्थित मुझे मार डालने की ताक में है। इसलिये मैं तुझे, अपने ऊपर आक्रमण करने के पहले ही, यमलोक को पहुंचाये देता हूँ ॥७।१०॥

किरातरूपधारी शिव जी ने अर्जुन को दैत्य के ऊपर बाण चलाने के लिये उद्यत देखकर, उन्हें रोकते हुए, कहा—हे मुनि! इस श्याम मेघ के समान प्रभाववाले वाराह को मैं पहले से ही अपना निशाना बना चुका हूँ। अनादर का भाव दिखाते हुए अर्जुन ने किरात के कहने पर ध्यान न देकर उस वाराह

मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रनीलसमप्रभः ।
अनादृत्य च तद्वाक्यं प्रजहाराऽथ फाल्गुनः ॥ १२ ॥
किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाऽशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥ १३ ॥
तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः ।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ॥ १४ ॥
यथाऽशनेर्विनिर्घोषो वज्रस्येव च पर्वते ।
तथा तयोः संनिपातः शरयोरभवत्तदा ॥ १५ ॥
स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव ।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ॥ १६ ॥
स ददर्श ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम् ।
किरातवेषसंछन्नं स्त्रीसहायममित्रहा । १७ ॥
तमब्रवीत्प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
को भवानटते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ॥ १८ ॥
न त्वमस्मिन्वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ ! ।
किमर्थं च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ॥ १९ ॥
मयाऽभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहाऽऽगतः ।

रूपी दैत्य पर ज्योंही बाण चलाया त्योंही किरातरूपी महादेव ने भी उस वाराह के ऊपर वज्र के समान घोर अग्नि शिखा-युक्त एक बाण चलाया ॥११।१३॥

दोनों के धनुषों से छूटे हुए दोनों बाण प्रबल वेग से आकर एक साथ उस वाराह के शरीर में लगे। पत्थर पर बिजली गिरने से या पर्वत पर इन्द्र का वज्र गिरने से जैसा विकट शब्द होता है वैसा ही शब्द उस वाराह के शरीर में बाणों के लगने से हुआ। दोनों वीरों ने और भी बहुत से बाण उस शूकर पर चलाये। इस प्रकार बहुत से बाणों का निशाना बनकर वह वाराह पृथ्वी पर गिरकर मर गया। मरते समय उसका वही असली राक्षस का रूप हो गया ॥१४।१६॥

इसके पश्चात् अर्जुन उन स्त्रियों-सहित सुवर्ण की सी प्रभा रखनेवाले किरातरूपधारी शिव जी को देखकर हँसते हुए प्रसन्नतापूर्वक बोले-हे पुरुष! तुम कौन हो जो इस निर्जन वन में स्त्रियों को साथ लिये हुए बेखटके फिर रहे हो? ऐसे वन में क्या आपको भय नहीं लगता है? मैं इस वाराह को पहले ही अपने बाण का निशाना बना चुका था। तुमने इसपर बाण चलाकर क्यों मृगया (शिकार) के धर्म के विरुद्ध काम किया? अब मैं बिना तुम्हारे प्राण

कामात्परिभवाद्वापि न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ॥ २० ॥
न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाऽद्य कृतो मयि ।
तेन त्वां नाशयिष्यामि जीवितात्पर्वताश्रयम् ॥ २१ ॥
इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ॥ २२ ॥
न मत्कृते त्वया वीर! भीः कार्या वनमन्तिकात् ।
इयं भूमिः सदाऽस्माकमुचिता वसतां वने ॥ २३ ॥
त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः ।
वयं तु बहुसत्त्वेऽस्मिन्निवसामस्तपोधन! ॥ २४ ॥
भवांस्तु कृष्णवर्त्माभः सुकुमारः सुखोचितः ।
कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ॥ २५ ॥
अर्जुन उवाच—गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाऽग्निसंनिभान् ।
निवसामि महारण्ये द्वितीय इव पावकिः ॥ २६ ॥
एष चापि मया जन्तुर्मृगरूपं समाश्रितः ।
राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चाऽऽगतः ॥ २७ ॥
किरात उवाच-मयैष धन्वनिर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥ २८ ॥

लिये बिलकुल न छोडूंगा ॥१७।२०॥

अर्जुन के ये वचन सुनकर किरातरूपधारी शिव जी ने हंसकर मधुर वाणी से कहा–हे वीर! तुमको मुझसे बिलकुल नहीं डरना चाहिये। इस वन के पास ही मेरा रहने का स्थान है। हे तपोधन! हम बहुत जीव-जन्तुओं से भरे वन में हम लोग रहते हैं। यह स्थान हम लोगों के ही रहने योग्य है। हमें यहां किस बात का भय है! किन्तु तुम अग्नि के समान तेजस्वी, सुख के योग्य और सुकुमार होकर भी किस लिये इस सूनसान दुर्गम वन में अकेले विचरते और रहते हो! यह सुनकर अर्जुन ने कहा–

मैं गाण्डीव धनुष और अग्नि के तुल्य बाणों के आश्रय से इस महावन में दूसरे कार्तिकेय के समान रहता हूँ ॥२१।२६॥

यह राक्षस घोर बाराह का रूप धारण करके मुझे मारने आ रहा था। मैंने अपनी रक्षा करने के लिये बाण चलाकर इसको मार डाला। किरात-रूपधारी शिव जी ने कहा हे तपस्वी! इस राक्षस को मारने के लिये मैंने तुम से पहले ही धनुष पर बाण चढ़ाया था। मेरे ही बाण से यह बाराह मारा गया है। हे मन्दमते! तुम अपने बल के घमण्ड से अपने दोष को दूसरे पर डालते हो। मैं अभी तुमको अपने

ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः ।
ममैव च प्रहारेण जीविताद्व्यपरोपितः ॥ २९ ॥
दोषान्स्वान्नाऽर्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।
अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन्न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ॥ ३० ॥
स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीनिव ।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ॥ ३१ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा किरातस्याऽर्जुनस्तदा ।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥ ३२ ॥
ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान् ।
भूयो भूय इति प्राह मन्द ! मन्देत्युवाच ह ॥ ३३ ॥
प्रहरस्व शरानेतान्नाराचान्मर्मभेदिनः ।
इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसाऽर्जुनः ॥ ३४ ॥
ततस्तौ तत्र संरब्धौ गर्जमानौ मुहुर्मुहुः ।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ ३५ ॥
ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत् ।
तत्प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शङ्करः ॥ ३६ ॥
मुहूर्तं शरवर्षं तत्प्रतिगृह्य पिनाकधृक् ।

पने बाणों से यमपुरी को भेज दूँगा ॥२७।३०॥

सम्भल जाओ ! मैं तुमपर वज्र सदृश बाण चलाता हूँ । तुम भी अपनी शक्ति का प्रयोग करने में कुछ कमी न रक्खो और यथाशक्ति मुझपर अपने बाणों की चोट करो। शिव जी के ऐसे कठोर वचन सुनकर महावीर अर्जुन बहुत ही क्रोध में आ गये और उसपर बाणों की वर्षा करने लगे । शिव जी ने प्रसन्न होकर उनके छोड़े हुए बाणों को पकड़ लिया और कहा रे निर्बुद्धि ! रे निर्बुद्धि ! तू और भी बाण चला, और भी बाण चला । तेरे पास जितने मर्मभेदी बाण हैं, सब मुझ पर चला । शिव जी के इन वचनों से और भी कुपित होकर अर्जुन उनके ऊपर लगातार लाखों बाण बरसाने लगे । अब वे दोनों वीर क्रोध के मारे बारम्बार गरजते हुए परस्पर एक दूसरे के ऊपर ढेर के ढेर साँप सदृश बाण बरसाने लगे ॥३१।३५॥

किरातरूपधारी शिव जी पर अर्जुन ने जितने बाण चलाये उन्हें उन्होंने हँसते-हँसते सह लिया। दमभर तक खड़े रहकर शिव जी ने अर्जुन की बाण-वर्षा अपने शरीर पर होने दी। उन बाणों की वर्षा से उनके शरीर में कहीं घाव नहीं लगा, वे पर्वत की तरह अचल खड़े रहे । अपने भयानक बाणों

अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ ३७ ॥
स दृष्ट्वा बाणवर्षं तु मोघीभूतं धनञ्जयः ।
परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाऽब्रवीत् ॥ ३८ ॥
अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखराश्रयः ।
गाण्डीवमुक्तान्नाराचान्प्रतिगृह्णात्यविह्वलः ॥ ३९ ॥
कोऽयं देवो भवेत्साक्षाद्रुद्रो यक्षः सुरोऽसुरः ।
विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः ॥ ४० ॥
न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।
शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥ ४१ ॥
देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ ४२ ॥
ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान्मर्मभेदिनः ।
व्यसृजच्छतधा राजन्! मयूखानिव भास्करः ॥ ४३ ॥
तान्प्रसन्नेन मनसा भगवाँल्लोकभावनः ।
शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाऽचलः ॥ ४४ ॥
क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा ।
भीश्चैनमाविशत्तीव्रा तं दृष्ट्वा शरसंक्षयम् ॥ ४५ ॥

की वर्षा को इस तरह निष्फल होते देखकर महाबाहु अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ; वे शिव जी के पौरुष की सराहना करने लगे। अर्जुन यह विचार करने लगे कि इस हिमालय पर्वत पर विचरनेवाले सुकुमार-शरीर पुरुष ने हँसते हँसते गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाणों को सह लिया है! यह कौन है? कहीं यह शिव जी अथवा यक्ष या और कोई देवता तो नहीं है। इस पर्वत पर देवताओं का आना-जाना तो रहता ही है ॥३६।४०॥

मेरे मारे हुए सहस्रों बाणों को सिवाय शिव जी के दूसरे की सामर्थ्य सहने की नहीं है। सो जो यह किरात शिव जी के सिवाय और कोई यक्ष या देवता है तो अभी मैं इसको तीक्ष्ण बाणों से मारकर यमलोक में भेज देता हूँ। यह विचारकर अर्जुन ने सैकड़ों प्रकार से अनेक मर्मस्थानों को छेदनेवाले बाण मारे परन्तु उन लोकों के नाथ शिव जी महाराज ने उन सब बाणों को इस प्रकार से ग्रहण कर लिया जैसे पहाड़ पत्थरों की वर्षा को ग्रहण कर लेता है ॥४१।४४॥

दमभर में अर्जुन के सब बाण समाप्त हो गये। महाबाहु अर्जुन अपने बाणों को समाप्त होते देखकर मन ही मन बहुत डरे। उस समय अर्जुन ने अग्नि-

चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम् ।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनाऽस्य खाण्डवे ॥ ४६ ॥
किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः ।
अयं च पुरुषः कोऽपि बाणान्ग्रसति सर्वशः ॥ ४७ ॥
हत्वा चैनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम् ।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ॥ ४८ ॥
प्रगृह्याऽथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेनाऽवकृष्य च ।
मुष्टिभिश्चाऽपि हतवान्वज्रकल्पैर्महाद्युतिः ॥ ४९ ॥
संप्रयुद्धो धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा ।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः ॥ ५० ॥
ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत ।
युद्धस्याऽन्तमभीप्सन्वै वेगेनाऽभिजगाम तम् ॥ ५१ ॥
तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि ।
मुमोच भुजवीर्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ॥ ५२ ॥
तस्य मूर्धानमासाद्य पफालाऽसिवरो हि सः ।
ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फाल्गुनः ॥ ५३ ॥
तदा वृक्षान्महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः ।

देव को याद किया उन्होंने खाण्डव वन को जलाने के समय अर्जुन को दो अक्षय तर्कस अर्थात् ऐसे तर्कस जिन में वाण कभी न घटें दिये थे । और विचार करने लगे कि मेरे सब बाण समाप्त हो गये; अब मैं क्या चलाऊँ । और भला यह मनुष्य ही कौन है ? जो मेरे बाणों को निगलता चला जाता है । जो हो, जैसे अंकुश के द्वारा हाथी का दमन किया जा सकता है, वैसे ही इस धनुष के अग्रभाग से मैं अभी इसे यमपुरी को भेजूंगा । यह विचारकर अर्जुन ने एक हाथ में धनुष और दूसरे में उसकी ज्या अर्थात् डोरी पकड़ ली और उसके बीच में किरातरूपी शिव जी को खींचकर मुक्का मुक्की करने लगा । थोड़ी देर तक तो अर्जुन ने अच्छा युद्ध उस खाली धनुष से भी किया उपरान्त किरातरूपी शिव जी ने वह धनुष अर्जुन से छीन लिया ॥४६।५०॥

धनुष को शत्रु के हाथ में जाते देख अर्जुन ने खड्ग लिया । हाथ में खड्ग लेकर किरातरूपी शिव जी के मस्तक पर प्रहार करने के लिये झपटे यद्यपि वह खड्ग ऐसा था कि पर्वत पर भी मारने से उसकी धार नहीं जाती थी परन्तु शिव जी के मस्तक पर लगते ही वह टुकड़े-टुकड़े हो गया । खड्ग के भी निष्फल होने पर अर्जुन वृक्षों और शिलाओं को हाथ

किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ॥ ५४ ॥
मुष्टिभिर्वज्रसंकाशैर्धूममुत्पादयन्मुखे ।
प्रजहार दुराधर्षे किरातसमरूपिणि ॥ ५५ ॥
ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः ।
किरातरूपी भगवानर्दयामास पाण्डवम् ॥ ५६ ॥
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समपद्यत ।
पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युद्ध्यतः ॥ ५७ ॥
सुमुहूर्तं तु तद्युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ॥ ५८ ॥
जघानाऽथ ततो जिष्णुः किरातमुरसा बली ।
पाण्डवं च विचेष्टन्तं किरातोऽप्यहनद्बली ॥ ५९ ॥
तयोर्भुजविनिष्पेषात्संघर्षेणोरसोस्तथा ।
समजायत गात्रेषु पावकोऽङ्गारधूमवान् ॥ ६० ॥
तत एनं महादेवः पीड्य गात्रैः सुपीडितम् ।
तेजसा व्यक्रमद्रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ॥ ६१ ॥
ततोऽभिपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवाऽऽबभौ ।
फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ! ॥ ६२ ॥
निरुच्छ्वासोऽभवच्चैव संनिरुद्धो महात्मना ।

में ले-लेकर युद्ध करने लगे। किरातरूपी शिव जी ने अर्जुन की चलाई हुई शिलाओं और वृक्षों को भी उसी तरह सह लिया। क्रोध के मारे अर्जुन के मुख से धुआं निकलने लगा तब वे आगे बढ़कर शिव जी की छाती पर वज्र के समान घूंसे लगाने लगे॥५४।५५॥

देवादिदेव महादेव भी अर्जुन के वक्षःस्थल पर वज्र के समान कठोर घूंसे लगाने लगे। फिर कुछ देर तक दोनों परस्पर बाहुयुद्ध करने लगे। उन दोनों के शरीरों पर, दोनों के हाथ पड़ने से चटाक-पटाक शब्द होने लगा। दो घड़ी तक ऐसा ही युद्ध इस प्रकार से हुआ जैसे इन्द्र और वृत्रासुर का हुआ था और उस युद्ध के देखने से रोम खड़े हो जाते थे। इसके पीछे अर्जुन ने किरातरूपी शिव जी को अपनी छाती से रेला दिया और शिव जी ने भी वैसा ही किया। उन दोनों की भुजा से भुजा और छाती से छाती लगने और घिसने से धुआँ लिये हुए अग्नि प्रकट हो गई॥५६।६०॥

तब शिव जी ने क्रोधित होकर अर्जुन के सब अङ्गों को तोड़ डाला और उन्हें बल से दबा लिया। उसके कारण से अर्जुन पिण्डाकार हो गये और

पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाऽभवत् ॥ ६३ ॥
स मुहूर्तं तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः ।
रुधिरेणाऽऽप्लुताङ्गस्तु पाण्डवो भृशदुःखितः ॥ ६४ ॥
शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम् ।
मृन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनाऽपूजयद्भवम् ॥ ६५ ॥
तच्च माल्यं तदा पार्थः किरातशिरसि स्थितम् ।
अपश्यत्पाण्डवश्रेष्ठो हर्षेण प्रकृतिं गतः ॥ ६६ ॥
पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद्भवः ।
उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः ।
जातविस्मयमालोक्य ततः क्षीणाङ्गसंहतिम् ॥ ६७ ॥
भव उवाच—भो भो फाल्गुन ! तुष्टोऽस्मि कर्मणाऽप्रतिमेन ते ।
शौर्येणाऽनेन धृत्या च क्षत्रियो नाऽस्ति ते समः ॥ ६८ ॥
समं तेजश्च वीर्यं च ममाऽद्य तव चाऽनघ ! ।
प्रीतस्तेऽहं महाबाहो ! पश्य मां भरतर्षभ ! ॥ ६९ ॥
ददामि ते विशालाक्ष ! चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।
विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान्दिवौकसः ॥ ७० ॥
प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ।

चेष्टा रहित अर्थात् अचेत होकर निर्जीव के समान पृथ्वी पर गिर पड़े ॥६१।६३॥

उनकी देह लोहू से लथ-पथ हो गई। दम-भर में मूर्च्छा दूर होने पर वे फिर उठ खड़े हुए और अत्यन्त दुःखित चित्त से शरणागत-रक्षक भगवान् महादेव की पार्थिव मूर्ति का पूजन करके उसपर माला चढ़ाई। बाद में उन्होंने क्या देखा कि वही माला उस किरात के सिर पर शोभा दे रही है। यह देखकर अर्जुन के ज्ञाननेत्र खुल गये। उन्हें यह विश्वास हो गया कि ये किरातरूपधारी साक्षात् महादेव हैं। उनके हृदय में भक्तिभाव उमड़ आया वे किरात-वेषधारी महादेव के चरणों पर गिर पड़े। आशुतोष (शीघ्र प्रसन्न होनेवाले) महादेव ने तप से दुबले हो रहे अर्जुन पर प्रसन्न होकर अत्यन्त गम्भीर स्वर से कहा—हे अर्जुन! आज मैं तेरे इस अमानुष कर्म को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। तुम्हारे समान धैर्यवान् और शूरवीर कोई क्षत्रिय नहीं है। मेरा और तुम्हारा तेज और पराक्रम बराबर है। मैं तुमको दिव्य ज्ञान देता हूँ। तुम मेरे रूप को देखो। हे पाण्डव! तुम पूर्वजन्म के ऋषि हो। यदि देवता भी तुम्हारे शत्रु हों तो तुम उन्हें भी युद्ध में जीत सकोगे ॥६४।७०॥

त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फाल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ॥ ७२ ॥
स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरञ्जयः ॥ ७३ ॥

अर्जुन उवाच- कपर्दिन् ! सर्वदेवेश ! भगनेत्रनिपातन ! ।
देवदेव ! महादेव ! नीलग्रीव ! जटाधर ! ॥ ७४ ॥
कारणानां च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम् ।
देवानां च गतिं देव ! त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ॥ ७५ ॥
अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः सदेवासुरमानुषैः ।
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ॥ ७६ ॥
दक्षयज्ञविनाशाय हरिरुद्राय वै नमः ।
ललाटाक्षाय शर्वाय मीढुषे शूलपाणये ॥ ७७ ॥
पिनाकगोप्त्रे सूर्याय मार्जालीयाय वेधसे ।
प्रसादये त्वां भगवन् ! सर्वभूतमहेश्वर ! ॥ ७८ ॥
गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम् ।
प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ॥ ७९ ॥

मैं प्रसन्नता के कारण तुमको वह अस्त्र देता हूँ जिसको रोकनेवाला कोई अस्त्र नहीं है। तुम्हीं इस अस्त्र को धारण करने में समर्थ और योग्य हो। वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! इसके पीछे शिव जी महाराज ने अर्जुन को पार्वती-सहित अपने स्वरूप के दर्शन दिये। अर्जुन ने उस स्वरूप को देखते ही दोनों घुटनों से बैठकर सिर से शिव जी को दण्डवत की और स्तुति करने लगे। अर्जुन ने कहा—हे भगनेत्र, हे कपर्दी, हे देवदेव, हे महादेव, हे नीलकण्ठ, हे जटाधारी, हे विभो, हे त्रिलोचन! तुमको मैं सबका परम कारण समझता हूँ। तुम सब देवताओं की गति हो। तुम्हीं विश्व के रचनेवाले हो ॥७१।७५॥

तीनों लोकों में क्या देवता, क्या दानव और क्या मनुष्य, कोई तुमको जीत नहीं सकता। मैं विष्णु-रूपी शिव जी और शिवरूपी विष्णु को प्रणाम करता हूँ। तुम दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करनेवाले रुद्र और हरि हो। हे ललाटलोचन! हे सर्व, हे [illegible], हे शूलपाणि, हे पिनाकधारी, हे सूर्य, हे मार्जालीय, हे वेधा, हे भगवन्, हे सब प्राणियों के परम ईश्वर, मैं तुम्हें प्रसन्न करने के लिए प्रणाम करता हूँ। तुम्हीं गणेश, तुम्हीं जगत के कल्याण के कर्ता [illegible] के कारण के भी कारण [illegible]

व्यतिक्रमं मे भगवन्! क्षन्तुमर्हसि शंकर! ।
भगवद्दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ॥ ८० ॥
दयितं तव देवेश! तापसालयमुत्तमम् ।
प्रसादये त्वां भगवन्! सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ ८१ ॥
न मे स्यादपराधोऽयं महादेवाऽतिसाहसात् ।
कृतो मयाऽयमज्ञानाद्विमर्दो यस्त्वया सह ।
शरणं प्रतिपन्नाय तत्क्षमस्वाऽद्य शंकर! ॥ ८२ ॥
वैशम्पायन उवाच तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फाल्गुनम् ॥ ८३ ॥
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान्हरः ।
पुनः पार्थं सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः ॥ ८४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कैरातपर्वणि महादेवस्तवे एकोनचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ३९ ॥

श्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ और परम सूक्ष्म हो। हे देवेश! मैं केवल तुम्हारे ही दर्शन की इच्छा से तपस्वियों के रहने के दिव्य स्थान महापर्वत पर आया हूँ॥७६।८०॥

हे त्रिभुवननाथ! मैं हाथ जोड़कर तुमको मनाता हूँ। मैंने अत्यन्त साहस करके तुम्हारा बड़ा अपराध किया है। हे महाराज! आप कृपा करके मेरे उस अपराध को क्षमा कीजिए। हे उमाकान्त! मैंने बिना जाने तुमसे युद्ध किया है। हे शङ्कर! मैं इस समय तुम्हारी शरण में आया हूँ; मुझे क्षमा करो। वैशम्पायन कहते हैं—हे महाराज! शिव जी अर्जुन की उस स्तुति को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और हंसकर अर्जुन की बाहु पकड़कर कहने लगे कि मैंने तुम्हारे अपराध को क्षमा किया। अब अर्जुन को गले से लगाकर महादेव जी फिर कहने लगे ॥८१।८४॥

वनपर्व का उन्तालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४० ॥

देवदेव उवाच—नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान् ।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान्बहून् ॥ १ ॥

चालीसवां अध्याय ॥ ४० ॥

शिव जी ने कहा—हे अर्जुन! तुम पूर्वजन्म में नर नाम के ऋषि थे। तुमने नारायण के साथ बहुत वर्षों तक बदरिकाश्रम में तपस्या की है। तुममें और विष्णु में परम तेज विराजमान है। और तुम दोनों पुरुषोत्तमों के तेज से यह जगत् स्थित हो रहा है। तुमने और श्रीकृष्ण जी ने इन्द्र के अभिषेक के समय मेघके समान गरजनेवाला बड़ा भारी धनुष लेकर बहुत से दानवों का नाश किया था। हे पुरुषोत्तम! वह

त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे ।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत् ॥ २ ॥
शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ! ॥ ३ ॥
तदेतदेव गाण्डीवं तव पार्थ ! करोचितम् ।
मायामास्थाय यद् ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम ! ॥ ४ ॥
तूणौ चाऽप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ ! यथोचितौ ।
भविष्यति शरीरं च नीरुजं कुरुनन्दन ! ॥ ५ ॥
प्रीतिमानस्मि ते पार्थ ! भवान्सत्यपराक्रमः ।
गृहाण वरमस्मत्तः काङ्क्षितं पुरुषोत्तम ! ॥ ६ ॥
न त्वया पुरुषः कश्चित्पुमान्मर्त्येषु मानद ! ।
दिवि वा वर्तते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिन्दम ! ॥ ७ ॥
अर्जुन उवाच—भगवन् ! ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ! ।
कामये दिव्यमस्त्रं तद्घोरं पाशुपतं प्रभो ! ॥ ८ ॥
यत्तु ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम् ।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत् ॥ ९ ॥
कर्णभीष्मकृपद्रोणैर्भविता तु महाहवः ।
त्वत्प्रसादान्महादेव ! जयेयं तान्यथा युधि ॥ १० ॥
दहेयं येन संग्रामे दानवान्राक्षसांस्तथा ।

गाण्डीव नाम का धनुष ये ही था जिसको तुम्हारे हाथ मे लेकर मैंने अपनी माया से छीन लिया है। वह धनुष और अपने दोनों अक्षय तर्कसों को अब तुम ले लो तुम्हारा शरीर भी रोगरहित हो जायगा ॥१।५॥

हे अर्जुन ! तुम्हारा पराक्रम सच्चा है, मैं तुमपर अब प्रसन्न हूँ जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांग लो। हे शत्रुदमन ! मनुष्यलोक में तुम्हारे समान दूसरा पुरुष नहीं है। स्वर्ग में भी तुमसे बढ़कर कोई पुरुष नहीं देख पड़ता। यह सुनकर अर्जुन ने कहा-हे शिव जी महाराज ! जो आप प्रसन्नता से मुझको वर देना चाहते हैं तो ब्रह्मशिरा नाम का वही भीम पराक्रम दिव्य पाशुपत नाम का अस्त्र दीजिए, जो प्रलयकाल में सब जगत् का नाश कर देता है। क्योंकि मैं आपकी कृपा से युद्ध में कर्ण, भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि को युद्ध में परास्त करना चाहता हूँ ॥६।१०॥

और मेरी यह भी इच्छा है कि इस अस्त्र के प्रताप से मैं संग्राम में दानव, राक्षस, भूत, पिशाच,

भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान् ॥ ११ ॥
यस्मिञ्छूलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
शराश्चाऽऽशीविषाकाराः संभवन्त्यनुमन्त्रिते ॥ १२ ॥
युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा ॥ १३ ॥
एष मे प्रथमः कामो भगवन् ! भगनेत्रहन् ! ।
त्वत्प्रसादाद्विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा ॥ १४ ॥
भव उवाच—ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो ! ।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चाऽसि पाण्डव ! ॥ १५ ॥
नैतद्वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणोऽप्यथ वा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥ १६ ॥
न त्वेतत्सहसा पार्थ ! मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद्विनाशयेत्सर्वमल्पतेजसि पातितम् ॥ १७ ॥
अवध्यो नाम नाऽस्त्यस्य त्रैलोक्ये सचराचरे ।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपातयेत् ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
उपसंगम्य विश्वेशमधीष्वेत्यथ सोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

गन्धर्व, पन्नग आदि को भस्म कर सकूं। मैंने सुना है उस अस्त्र को, मन्त्र पढ़कर, धनुष पर चढ़ाने से हजारों शूल, उग्र रूपधारी गदा और विषैले साप-सदृश बाणों के ढेर के ढेर प्रकट होते हैं। हे भगवन्! यह पहला वरदान मैं आप से मांगकर कृतकृत्य और समर्थ होना चाहता हूँ। यह सुनकर महादेव ने कहा—हे विभो! मैं तुमको यही परमप्रिय पाशुपत नाम का अस्त्र देता हूँ। तुम्हारे लिये उसका धारण मोक्ष और उपसंहार सब सहज साध्य होगा ॥११।१५॥

मनुष्य की कौन कहे, इस अस्त्र को इन्द्र, यमराज, यक्षों का राजा कुबेर, वरुण और वायु भी नहीं जानते है। परन्तु तुमको यह अस्त्र बिना विचारे किसी मनुष्य पर छोड़ना उचित नहीं है क्योंकि थोड़े तेजस्वी पुरुष पर छोड़ने से यह अस्त्र सब जगत को भस्म कर देगा। त्रैलोक्य में ऐसा कोई नहीं जिसे यह अस्त्र नष्ट न कर सकता हो। मन से, नेत्र से, वाक्य से या धनुष से, किसी तरह इस अस्त्र का प्रयोग क्यों न किया जाय, यह सबको नष्ट कर सकता है ॥१६।१८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अर्जुन शिव जी महाराज की उक्त बात को सुनकर शीघ्र पवित्र और सावधान होकर शिव जी महाराज के

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ।
तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवाऽन्तकम् ॥ २० ॥
उपतस्थे च तत्पार्थं यथा त्र्यक्षमुमापतिम् ।
प्रतिजग्राह तच्चाऽपि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥ २१ ॥
ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ॥ २२ ॥
शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणां च सहस्रशः ।
तस्मिन्मुहूर्ते संप्राप्ते निर्घाताश्चाऽपतन्मुहुः ॥ २३ ॥
अथाऽस्त्रं जाज्वलद्घोरं पाण्डवस्याऽमितौजसः ।
मूर्तिमद्वै स्थितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ॥ २४ ॥
स्पृष्टस्य त्र्यम्बकेणाऽथ फाल्गुनस्याऽमितौजसः ।
यत्किंचिदशुभं देहे तत्सर्वं नाशमीयिवत् ॥ २५ ॥
स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेण तदाऽर्जुनः ।
प्रणम्य शिरसा राजन्! प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥ २६ ॥
ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी महाद्युतिर्गिरिश उमापतिः शिवः ।
धनुर्महद्दितिजपिशाचसूदनं ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥ २७ ॥
ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा सहोमया सिततटसानुकन्दरम् ।
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कैरातपर्वणि शिवप्रस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

समीप चले गये और कहने लगे—हे विश्वनाथ! कृपा करके मुझे उस अस्त्र की शिक्षा दीजिए। तब महादेव जी ने उसी समय संहार-प्रतिसंहार आदि के मन्त्रों-सहित वह अस्त्र अर्जुन को दिया। ॥१९।२०॥

तब वह दिव्य अस्त्र महादेव के समान अर्जुन की भी सेवा में उपस्थित हुआ। अर्जुन ने प्रसन्नता-पूर्वक उसे स्वीकार किया। उस समय पृथ्वी, पर्वत, वन, वृक्ष, समुद्र, ग्राम और नगर कांपने लगे और सहस्रों शङ्ख, दुन्दुभी और भेरियों के बजने का शब्द सुनाई देने लगा। बिजली कड़कने लगी। वह शिव जी का अस्त्र उसी समय प्रज्वलित हो गया और सब देवता और दानवों ने उस अस्त्र को अर्जुन के समीप स्थित देखा ॥२१।२४॥

महादेव जी ने अर्जुन के शरीर पर हाथ फेरकर उनकी सब व्यथा दूर कर दी। इसके पश्चात् उन्होंने

अर्जुन से स्वर्ग जाने के लिये कहा। वीर अर्जुन ने उनको प्रणाम किया। अर्जुन हाथ जोड़े हुए खड़े होकर उनकी ओर एकटक निहारने लगे। अब शिव जी ने दानव और पिशाच आदि को मारनेवाला गाण्डीव धनुष अर्जुन को दिया। फिर पार्वती सहित अर्जुन के देखते ही देखते उस रमणीक पर्वत को छोड़कर जिसके सुन्दर वन और श्वेत कन्दराओं में बड़े-बड़े तपस्वी रहते थे स्वर्ग को चले गये ॥२५।२८॥

वनपर्व का चालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

अथ एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच-तस्य संपश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः ।
जगामाऽदर्शनं भानुर्लोकस्येवाऽस्तमीयिवान् ॥ १ ॥
ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा ।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत! ॥ २ ॥
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः ।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना ॥ ३ ॥
कृतार्थं चाऽवगच्छामि परमात्मानमाहवे ।
शत्रूंश्च विजितान्सर्वान्निर्वृत्तं च प्रयोजनम् ॥ ४ ॥
इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्याऽमिततेजसः ।
ततो वैदूर्यवर्णाभो भासयन्सर्वतो दिशः ।
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः ॥ ५ ॥
नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः ।
वरुणो यादसां भर्ता वशी तं देशमागमत् ॥ ६ ॥

इकतालीसवां अध्याय ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे जनमेजय! शिव जी महाराज के इस प्रकार से अन्तर्द्धान होने पर मानों सूर्य अस्त हुआ है अर्जुन आश्चर्य करके कहने लगे कि अहो मैं कैसा भाग्यवान हूँ। मैंने साक्षात् महादेव जी के दर्शन किये। निस्सन्देह मुझपर भगवान् शङ्कर ने कृपा की है। मैंने उनके अङ्ग को स्पर्श किया आज मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो गये। इतने दिनों पर समझा कि अब मेरे शत्रु युद्ध में परास्त हुए और हम लोगों की इच्छा पूर्ण हुई। जिस समय अर्जुन यह विचार कर ही रहे थे उसी समय उस स्थान पर वरुण देवता जिनकी प्रभा वैदूर्यमणि की सी थी सब दिशाओं को प्रकाशित करते हुए, जल-जीवों सहित आन पहुँचे ॥१।५॥

और उनके साथ बड़े बड़े नाग, नद, छोटी नदियां, दैत्य, साध्य और देवता भी थे। यह धन के ईश्वर कुबेर देवता जिनकी प्रभा सुवर्ण के समान और

अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा ।
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः ॥ ७ ॥
विद्योतयन्निवाऽऽकाशमद्भुतोपमदर्शनः ।
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः ॥ ८ ॥
तथा लोकान्तकृच्छ्रीमान्यमः साक्षात्प्रतापवान् ।
मर्त्यमूर्तिधरैः सार्धं पितृभिर्लोकभावनैः ॥ ९ ॥
दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत् ।
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनाऽवभासयन् ॥ १० ॥
त्रींल्लोकान्गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान् ।
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते ॥ ११ ॥
ते भानुमन्ति चित्राणि शिखराणि महागिरेः ।
समास्थायाऽर्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम् ॥ १२ ॥
ततो मुहूर्ताद्भगवानैरावतशिरोगतः ।
आजगाम सहेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः ॥ १३ ॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिवाऽऽश्रितः ॥ १४ ॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ॥ १५ ॥
अथ मेघस्वनो धीमान्व्याजहार शुभां गिरम् ।

दर्शन बड़े अद्भुत थे यक्षों को साथ लिये हुए विमान में बैठकर आकाश को प्रकाशित करते हुए अर्जुन को देखने आये। थोड़ी देर पीछे सूर्य के पुत्र यमराज जो लोकों के नाश करनेवाले हैं हाथ में दण्ड लिये विमान में बैठे हुए पितर, गुह्यक, गन्धर्व और पन्नगों सहित तीनों लोकों को प्रकाशित करते हुए इस प्रकार से आ पहुचे जैसे प्रलयकाल पर सूर्य उदय होता है। ये तीनों देवता वहां आकर उस पर्वत के चित्र-विचित्र शिखरों पर खड़े होकर उस तपस्यायुक्त अर्जुन को देखने लगे ॥८।१२॥

इसी बीच में ऐरावत पर इन्द्राणी-सहित विराज-मान इन्द्र भी वहां पहुँच गये। उनके साथ सब देवगण थे। इन्द्र के सिर पर श्वेत छत्र शोभायमान था। जान पड़ता था, मानों श्वेत मेघ चन्द्रमण्डल के ऊपर घिरा हुआ है। तपोधन ऋषि और गन्धर्व उनकी स्तुति कर रहे थे। इस प्रकार हिमालय पर्वत पर उपस्थित होकर भगवान् इन्द्र आदित्य के समान शोभित हुए ॥१३।१५॥

यमः परमधर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ १६ ॥
अर्जुनाऽर्जुन ! पश्यास्माँल्लोकपालान्समागतान् ।
दृष्टिं ते वितरामोऽद्य भवानर्हति दर्शनम् ॥ १७ ॥
पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः ।
नियोगाद् ब्रह्मणस्तात ! मर्त्यतां समुपागतः ॥ १८ ॥
त्वया च वसुसंभूतो महावीर्यः पितामहः ।
भीष्मः परमधर्मात्मा संसाध्यश्च रणेऽनघ ! ॥ १९ ॥
क्षत्रं चाऽग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम् ।
दानवाश्च महावीर्या ये मनुष्यत्वमागताः ॥ २० ॥
निवातकवचाश्चैव दानवाः कुरुनन्दन ! ।
पितुर्ममांऽशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ॥ २१ ॥
कर्णश्च सुमहावीर्यस्त्वया वध्यो धनञ्जय ! ।
अंशाश्च क्षितिसंप्राप्ता देवदानवरक्षसाम् ॥ २२ ॥
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ।
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय ! यथास्वमरिकर्शन ! ॥ २३ ॥
अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फाल्गुन ! ।
त्वया साक्षान्महादेवस्तोपितो हि महामृधे ॥ २४ ॥

इसके पीछे यमराज जो बड़े बुद्धिमान् और धर्मज्ञ थे और दक्षिण दिशा की ओर खड़े थे बड़ी गम्भीर वाणी से कहने लगे हे पाण्डव ! हम सब लोकपाल तुम्हें देखने को यहां आये हैं। तुम योग्य-पात्र हो, इसलिये हम आज तुमको दिव्य ज्ञान देते हैं। हे अर्जुन ! तुम पूर्वजन्म में नर नाम के महापराक्रमी और तेजस्वी ऋषि थे। इस समय ब्रह्मा जी की आज्ञा के अनुसार तुमको मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है ॥१६।१८॥

हे निष्पाप ! तुम युद्ध में भीष्म पितामह को जो वसुओं के अंश में उत्पन्न हैं और बड़े पराक्रमी और धर्मात्मा हैं उनको परास्त करोगे; द्रोणाचार्य के द्वारा रक्षित क्षत्रियों को मारोगे और नर रूपधारी निवात कवच आदि अन्यान्य दानवों को मारोगे। हे अर्जुन ! सब लोकों को प्रकाशित करनेवाले मेरे पिता सूर्य देवता के अङ्ग से उत्पन्न महाबली कर्ण की मृत्यु तुम्हारे ही हाथ से होगी। जो देवों राक्षसों और दानवों के अंशों से मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए हैं, वे संग्राम में तुम्हारे बाणों से मरकर अपने-अपने कर्मों के फल के अनुसार गति पावेंगे। हे अर्जुन ! जगत् में तुम्हारी अक्षय कीर्त्ति रहेगी। तुमने साक्षात् देवाधिदेव महादेव जी को प्रसन्न किया है ॥१९।२४॥

लघ्वी वसुमती चाऽपि कर्तव्या विष्णुना सह ।
गृहाणाऽस्त्रं महाबाहो ! दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनाऽस्त्रेण सुमहत्त्वं हि कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच-प्रतिजग्राह तत्पार्थो विधिवत्कुरुनन्दनः ।
समन्त्रं सोपचारं च समोक्षविनिवर्तनम् ॥ २६ ॥
ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन्प्रभुः ॥ २७ ॥
पार्थ! क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष ! वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ॥ २८ ॥
मया समुद्यतान्पाशान्वारुणाननिवारितान् ।
प्रतिगृह्णीष्व कौन्तेय ! सरहस्यनिवर्तनान् ॥ २९ ॥
एभिस्तदा मया वीर ! संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ॥ ३० ॥
तस्मादिमान्महासत्त्व ! मत्प्रसादसमुत्थितान् ।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याननायिनः ॥ ३१ ॥
अनेन त्वं यदाऽस्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि ।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ॥ ३२ ॥

तुम विष्णुरूप कृष्ण की सहायता से पृथ्वी का भार उतारोगे। हे महाबाहो! मैं तुमको अपना दण्ड नाम का अस्त्र देता हूँ। यह कभी कहीं निष्फल नहीं जाता। तुम इस अस्त्र के द्वारा बड़े बड़े काम कर सकोगे। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पीछे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ने छोड़ने और खींचने के मन्त्रों-सहित वह यमराज का दिया हुआ दण्ड नाम का अस्त्र विधिपूर्वक ले लिया। इसके पीछे पश्चिम दिशा की ओर से जलजीवों के स्वामी वरुण देवता बोले—हे अर्जुन! मैं जल का स्वामी वरुण हूँ। तुम मुझे देखो। मैं तुमको संहार और प्रतिसंहार के मन्त्रों-सहित अपना यह अनिवार्य अस्त्र (पाश) देता हूँ। इसे ले लो। हे वीर! मैंने तारकासुर संग्राम के समय इसी पाश के द्वारा हज़ारों महाबली दैत्यों को बाँध लिया था। इसलिए हे महापराक्रमी अर्जुन! मैं प्रसन्न होकर तुमको यह अस्त्र देता हूँ। इसका जिस पर प्रयोग किया जाता है वह, यमराज ही क्यों न हो, इससे बच नहीं सकता है ॥२५-३१॥

इस पाश को लिये हुए जब तुम युद्धभूमि में खड़े हो जाओगे तब सारी पृथ्वी को भी क्षत्रियों से रहित कर सकोगे। अब कैलास पर रहनेवाले धनपति

वैशम्पायन उवाच ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत ।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ॥ ३३ ॥
प्रीतोऽहमपि ते प्राज्ञ ! पाण्डवेय ! महाबल ! ।
त्वया सह समागम्य अजितेन तथैव च ॥ ३४ ॥
सव्यसाचिन् ! महाबाहो ! पूर्वदेव ! सनातन ! ।
सहाऽस्माभिर्भवाञ्छ्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ॥ ३५ ॥
दर्शनात्ते त्विदं दिव्यं प्रदिशामि नरर्षभ ! ।
अमनुष्यान्महाबाहो ! दुर्जयानपि जेष्यसि ॥ ३६ ॥
मत्तश्चैव भवानाशु गृह्णात्वस्त्रमनुत्तमम् ।
अनेन त्वमनीकानि धार्तराष्ट्रस्य धक्ष्यसि ॥ ३७ ॥
तदिदं प्रतिगृह्णीष्व अन्तर्धानं प्रियं मम ।
ओजस्तेजोद्युतिकरं प्रस्वापनमरातिनुत् ॥ ३८ ॥
महात्मना शंकरेण त्रिपुरं निहतं यदा ।
तदैतदस्त्रं निर्मुक्तं येन दग्धा महासुराः ॥ ३९ ॥
त्वदर्थमुद्यतं चेदं मया सत्यपराक्रम ! ।
त्वमर्हो धारणे चाऽस्य मेरुप्रतिमगौरव ! ॥ ४० ॥
ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत्कुरुनन्दनः ।
कौबेरमभिजग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ॥ ४१ ॥

कुबेर ने अर्जुन से कहा—हे वीर पाण्डव ! कृष्ण जी के दर्शन से मुझे जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी ही प्रसन्नता इस समय तुम्हें देखकर हुई है। हे महाबाहु ! हे पूर्वजन्म के सनातन देवता ! पूर्वकल्प में तुमने हमारे साथ नित्य तपस्या की है ॥३२।३५॥

अब मैं तुम्हें अपना प्रस्वापन नाम का अन्तर्द्धान अस्त्र जो बल, तेज और कान्ति का बढ़ानेवाला और शत्रुओं को मारनेवाला है देता हूँ। तुम इस परमोत्कर्षी दिव्य अस्त्र को ग्रहण करो। इस अस्त्र के प्रताप से तुम दुर्योधन की सेना को दग्ध करोगे और उन शत्रुओं को भी जीत सकोगे जिनका जीतना दुर्लभ है। शिव जी ने जब त्रिपुर दैत्य को मारा था तब यही अस्त्र छोड़ा गया था इससे बड़े-बड़े दैत्यों को भस्म कर दिया। मैं तुमको योग्य जानकर यह अस्त्र देता हूँ ॥३६।४०॥

यह सुनकर अर्जुन ने कुबेर देवता से यह दिव्य अस्त्र विधिपूर्वक ले लिया। इसके पीछे मेघ और दुन्दुभी की सी गम्भीर वाणी से देवराज इन्द्र अर्जुन से कहने लगे—हे कुन्ती के पुत्र ! तुम पूर्वजन्म के ऋषि हो। तुमको बड़ी सिद्धि प्राप्त हो गई। इस समय

ततोऽब्रवीद्देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिस्वनः ॥ ४२ ॥
कुन्तीमातर्महाबाहो ! त्वमीशानः पुरातनः ।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद्देवगतिं गतः ॥ ४३ ॥
देवकार्यं तु सुमहत्त्वया कार्यमरिन्दम ! ।
आरोढव्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ! ॥ ४४ ॥
रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम् ।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव!॥ ४५ ॥
तान्दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान्गिरिमूर्धनि ।
जगाम विस्मयं धीमान्कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ ४६ ॥
ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान्समागतान् ।
पूजयामास विधिवद्वाग्भिरद्भिः फलैरपि ॥ ४७ ॥
ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिमान्य धनञ्जयम् ।
यथागतेन विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ॥ ४८ ॥
ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः ।
कृतार्थमथ चाऽऽत्मानं स मेने पूर्णमानसम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि कैरातपर्वणि देवप्रस्थाने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥
समाप्तं च कैरातपर्व ।

तुमने श्रेष्ठ दिव्य पद पाया है । हे शत्रुदमन ! तुम्हें देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिये स्वर्ग जाना पड़ेगा । इसलिये तैयार हो जाओ । मातलि सारथी तुम्हारे पास रथ लावेगा उसपर चढ़कर तुम स्वर्ग आना । वहां मैं तुम्हें सब दिव्य अस्त्र दूंगा ॥४१।४५॥

अर्जुन उन सब लोकपालों को पर्वत पर देखकर चकित हो गया । उन्होंने वाणी, जल और फलों के द्वारा लोकपालों की विधिपूर्वक पूजा की । इसके पीछे वे सब देवता अर्जुन का प्रतिमान करके अपनी अपनी इच्छा के अनुसार विमानों में बैठे हुए चले गये । उन अस्त्रों के प्राप्त हो जाने से अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए । उनका मनोरथ सिद्ध हो गया ॥४६।४९॥

वनपर्व का इकतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच-गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिवर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र ! देवराजरथं प्रति ॥ १ ॥
ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥ २ ॥
नभो वितिमिरं कुर्वञ्जलदान्पाटयन्निव ।
दिशः संपूरयन्नादैर्महामेघरवोपमैः ॥ ३ ॥
असयः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ॥ ४ ॥
तथैवाऽशनयश्चैव चक्रयुक्तास्तुलागुडाः ।
वायुस्फोटाः सनिर्घाता महामेघस्वनास्तथा ॥ ५ ॥
तत्र नागा महाकाया ज्वलितास्याः सुदारुणाः ।
सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च तथोपलाः ॥ ६ ॥
दश वाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम् ।
वहन्ति यं नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम् ।
ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ॥ ८ ॥

बयालीसवा अध्याय ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे जनमेजय ! लोकपालों के अपने-अपने स्थानों को चले जाने पर अर्जुन इन्द्र के रथ के आने की बाट देखने लगे। थोड़ी देर में वह प्रभाववान् अर्थात् चमकता हुआ रथ आकाश के अन्धेरे को दूर करता हुआ दिशाओं को अपने शब्द से झन्झनाता हुआ और बादलों को फाड़ता हुआ मातलि सारथी सहित आ पहुँचा। उस रथ में भयानक तलवार, शक्ति, गदा, प्रास, अस्त्र, बिजली, वज्र, चक्रयुक्त भांटगोलक अर्थात् वे आयुध जिनमे पत्थर और गोले चलाये जावें, वायुस्फोट अर्थात् वे अस्त्र जिनके वेग से वायु उत्पन्न हो जावे, मेघों के शब्द बड़े बड़े भयानक सर्प जिनके मुख से अग्नि निकलती थी और बड़े बड़े दृढ़ पत्थर जिनकी शिखरें बादल के समान श्वेत थीं रक्खे हुए थे ॥१।६॥

उस रथ में दश हजार हरी जाति के वह घोड़े जुत रहे थे जो उस मायामय रथ को ले चलते थे। और एक सुवर्ण की लाठी भी उसमें जड़ रही थी कि जिसमें महानीले कमल की सदृश श्याम रङ्ग की

तस्मिन्रथे स्थितं सूतं तप्तहेमविभूषितम् ।
दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवाऽन्वतर्कयत् ॥ ९ ॥
तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याऽथ मातलिः ।
संनतः प्रश्रितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥ १० ॥
मातलिरुवाच—भो भोः शक्रात्मज ! श्रीमाञ्छक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
आरोहतु भवाञ्छीघ्रं रथमिन्द्रस्य संमतम् ॥ ११ ॥
आह माममरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।
कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ॥ १२ ॥
एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥ १३ ॥
अस्माल्लोकाद्देवलोकं पाकशासनशासनात् ।
आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ॥ १४ ॥
अर्जुन उवाच—मातले ! गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम् ॥ १५ ॥
पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ॥ १६ ॥
नाऽतप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाऽप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च ॥ १७ ॥

वैजयन्त नामवाली ध्वजा लगी हुई थी। उस रथ में अर्जुन सारथी को बैठा हुआ देखकर जिसकी प्रभा तपाये हुए सुवर्ण के समान थी विचारने लगा कि यह कोई देवता है। उसी समय मातलि नाम का वह सारथी रथ से उतरकर अर्जुन के समीप आया और नम्रता के साथ कहने लगा—हे इन्द्र के पुत्र अर्जुन! आपको इन्द्र देखना चाहते हैं। आप शीघ्र इस रथ पर सवार हूजिए ॥७।११॥

मुझसे चलते समय आपके पिता इन्द्र ने यह कहा था कि देवताओं के दिव्य स्थानों को दिखाने के लिये तुम अर्जुन को यहाँ ले आओ। सो देवेन्द्र आपके दर्शनों की इच्छा से देवता, ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओं सहित आपकी बाट देख रहे हैं। आप मेरे साथ वहाँ चलिये और अस्त्र सीख कर फिर चले आइयेगा। यह सुनकर अर्जुन ने कहा—हे सारथि ! इस रथ की सवारी सैकड़ों राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करनेवालों को और बड़े-बड़े दानी राजा और दानवों को भी दुर्लभ है। इस रथ को तपस्या-रहित मनुष्य देख भी नहीं सकता छूना और सवार होना तो दरकिनार है। तुम पहले रथ पर चढ़कर घोड़ों की गम

त्वयि प्रतिष्ठिते साधो ! रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथाऽऽरोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच-तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान्येमे च रश्मिभिः ॥ १९ ॥
ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत्कुरुनन्दनः ॥ २० ॥
ततः पितॄन्यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥
साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम् ।
त्वं सदा संश्रयः शैल ! स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणाम् ॥ २२ ॥
त्वत्प्रसादात्सदा शैल ! ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्ति स्म देवैः सह गतव्यथाः ॥ २३ ॥
अद्रिराज ! महाशैल ! मुनिसंश्रय ! तीर्थवन् ! ।
गच्छाम्यामन्त्रयित्वा त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि ॥ २४ ॥
तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च ।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ॥ २५ ॥
फलानि च सुगन्धीनि भक्षितानि ततस्ततः ।
सुसुगन्धाश्च वार्योघास्त्वच्छरीरविनिःसृताः ॥ २६ ॥

पकड़ो। पुण्यात्मा पुरुष जिस प्रकार अच्छी राह पर पैर रखते हैं उसी प्रकार मैं पीछे से रथ पर चढ़ूँगा। ॥१२।१८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! अर्जुन के यों कहने पर मातलि ने रथ पर चढ़कर घोड़ों की रास थाम ली। अर्जुन पहले प्रसन्नतापूर्वक गङ्गा में स्नान करके पवित्र हो गया। फिर जप करके उसने विधिपूर्वक पितरों का तर्पण किया। इसके पश्चात् पर्वतराज मन्दराचल से कहने लगा—हे पर्वतराज ! तुम उन मुनियों के रहने के आश्रम हो जो पुण्यात्मा और सुकर्मी हैं और स्वर्ग जाने की अभिलाषा रखते हैं ॥१९।२२॥

तुम्हारी ही कृपा से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों ने स्वर्ग में सदा से वास किया है और आजतक निर्विघ्न देवताओं के साथ घूमते है। तुम मुनियों के आश्रम और अनेक तीर्थ हो। हे पर्वतराज ! मैंने तुम पर रहकर बड़ा सुख पाया है। अब तुमसे विदा होकर स्वर्गलोक को जाता हूँ। मैंने यहां रहकर तुम्हारी तीर्थरूपी चोटियों, घाटियां,नदियां और झरने देखे और सुन्दर सुन्दर फल खाये और झरनों का

अमृतास्वादनीया मे पीताः प्रस्रवणोदकाः ।
शिशुर्यथा पितुरङ्के सुसुखं वर्तते नग ! ॥ २७ ॥
तथा तवाऽङ्के ललितं शैलराज ! मया प्रभो ! ।
अप्सरोगणसंकीर्णे ब्रह्मघोषानुनादिते ॥ २८ ॥
सुखमस्म्युषितः शैल ! तव सानुषु नित्यदा ।
एवमुक्त्वाऽर्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ॥ २९ ॥
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ।
स तेनाऽऽदित्यरूपेण दिव्येनाऽद्भुतकर्मणा ॥ ३० ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान्प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ।
सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ॥ ३१ ॥
ददर्शाऽद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ।
न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ॥ ३२ ॥
स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया ।
तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै ॥ ३३ ॥
दीपवद्विप्रकृष्टत्वात्तनूनि सुमहान्त्यपि ।
तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः ॥ ३४ ॥
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्ति स्वयाऽऽर्चिषा ।
तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ॥ ३५ ॥

पवित्र जल पिया और जैसे बालक पिता की गोद में बड़े सुख से रहता है इसी प्रकार से मैंने तुम्हारी गोद में जो अप्सराओं से संकीर्ण और वेदवाणी से घोषित हो रही है रहकर परम सुख प्राप्त किया ॥२७।२८॥

इस प्रकार विनीत वचन कहकर, पर्वतराज से विदा होकर, अर्जुन उस महारथ पर सवार हुए। उनके सवार होते ही रथ का प्रकाश सूर्य की तरह और भी चमकने लगा। अर्जुन उसी रथ पर बैठकर आकाश-मार्ग में जाने लगे। देखते ही देखते वे मनुष्यों की दृष्टि से अदृश्य हो गये ॥२९।३१॥

राह में अर्जुन ने अनेक प्रकार के अद्भुत विमान देखे। वे स्थान सूर्य, चन्द्रमा या अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित नहीं हैं। किन्तु वे सुकृति मनुष्य अपने सुकृत मिले हुए तेज से प्रकाश कर रहे हैं। वे ही विमान इस लोक में दूर होने के कारण से दीपक के समान दिखाई देते हैं और तारागण कहलाते हैं। अर्जुन इन सब प्रकाशमान् और अपने तेज से अपने-अपने स्थान पर चमकते हुए तारागण और सैकड़ों ऋषि सिद्ध और ऐसे मनुष्यों को जिन्होंने अपने तप से अथवा युद्ध में सम्मुख मारे जाने के कारण से

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः संपूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ॥ १० ॥
आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ॥ ११ ॥
नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम् ।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥
तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाऽश्विनौ तथा ।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः ।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हाहाहूहूः ॥ १४ ॥
तान्सर्वान्स समागम्य विधिवत्कुरुनन्दनः ।
ततोऽपश्यद्देवराजं शतक्रतुमरिन्दमः ॥ १५ ॥
ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात् ।
ददर्श साक्षाद्देवेशं पितरं पाकशासनम् ॥ १६ ॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा ।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ॥ १७ ॥
विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैः स्तुतिवन्दिभिः ।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसंभवैः ॥ १८ ॥
ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाऽभ्यगमद्बली ।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ १९ ॥

तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥
नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥ ३ ॥
नाऽतप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नाऽनाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः ॥ ४ ॥
नाऽयज्वभिर्नाऽव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नाऽनाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥ ५ ॥
नाऽपि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥ ६ ॥
स तद्दिव्यं वनं पश्यन्दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥ ७ ॥
तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शाऽयुतशस्तदा ॥ ८ ॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चाऽनुवीजितः ॥ ९ ॥

तेंतालीसवां अध्याय ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! वह इन्द्रपुरी सिद्ध लोग और ऋषियों से सेवित और सुगन्धित पुष्प और मनोहर वृक्षों से शोभित थी। अर्जुन उसको देखता हुआ नन्दन वन के समीप पहुँचा जहां शीतल मन्द सुगन्ध वायु चल रही थी और ऐसे-ऐसे दिव्य फले फूले वृक्ष लग रहे थे मानों बोलना चाहते हैं और जहां तहां अप्सराओं के झुण्ड के झुण्ड विहार कर रहे थे। वह लोक पुण्यात्माओं का है और उसे वे मनुष्य कभी नहीं देख सकते है जिन्होंने न तपस्या की है और न अग्निहोत्र किये है अथवा जो युद्ध में विमुख हो गये हैं और मद्य पीनेवाले मांसाहारी, यज्ञ की क्रिया को बिगाड़नेवाले दुरात्मा नीच और यज्ञ तप दान न करनेवालों को तो उस लोक का दर्शन भी मिलना दुर्लभ है ॥१।६॥

अर्जुन उस वन की शोभा देखता और अप्सराओं के मनोहर गीतों को सुनता हुआ इन्द्र-भवन के पास जा पहुँचा। वहां उसने हजारों और लाखों विमान देखे जो इच्छा के अनुसार चलनेवाले और पृथ्वी के चारों ओर घूमनेवाले थे। उस समय देवता, गन्धर्व, सिद्ध और ऋषियों ने अर्जुन की पूजा की तब वह सुगन्धित पुष्पों से महकती हुई वायु को सूँघता हुआ गन्धर्व और अप्सराओं से स्तूयमान हो।

तपसा च जितं स्वर्गं संपेतुः शतसंघशः ।
गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलिततेजसाम् ॥ ३६ ॥
गुह्यकानामृषीणां च तथैवाऽप्सरसां गणान् ।
लोकानात्मप्रभान्पश्यन्फाल्गुनो विस्मयान्वितः ॥ ३७ ॥
पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाऽप्येनमुवाच ह ।
एते सुकृतिनः पार्थ ! स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः ॥ ३८ ॥
यान्दृष्टवानसि विभो ! तारारूपाणि भूतले ।
ततोऽपश्यत्स्थितं द्वारि शुभं वैजयिनं गजम् ॥ ३९ ॥
ऐरावतं चतुर्दन्तं कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ॥ ४० ॥
व्यरोचत यथा पूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ।
अभिचक्राम लोकान्स राजा राजीवलोचनः ॥ ४१ ॥
एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः ।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरींताममरावतीम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि अर्जुनप्रस्थाने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२॥

स्वर्ग जीत लिया था देखता हुआ और गन्धर्व, गुह्यक और अप्सराओं के गणों को जिनका तेज सूर्य की प्रभा के सदृश था और ऐसे लोकों को जो स्वय प्रकाशित थे निरखता हुआ ऊपर को चला गया और आश्चर्य करने लगा ॥३२।३७॥

उस समय अर्जुन ने मातलि से सब वृत्तान्त पूछा। मातलि ने कहा—हे अर्जुन ! तुमने पृथ्वी पर से जो तारों के झुण्ड के झुण्ड देखे हैं वे ये सब पुण्यात्मा साधु पुरुष है। वे अपने-अपने पुण्य के फल से यहां आकर, तारा-रूप धारण कर, अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान पर स्थित हो अपनी ज्योति से जगमगा रहे है। इसके पीछे जब अर्जुन इन्द्रपुरी के द्वार पर पहुँचा तब उसने ऐरावत हाथी देखा जो कैलास पर्वत के समान ऊँचा और चार दांत रखता था। इस प्रकार से अर्जुन राजा मान्धाता की तरह राजाओं के मार्ग को लांघता हुआ इन्द्रपुरी के भीतर गया और वहां की शोभा देखने लगा ॥३८।४२॥

वनपर्व का बयालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच स ददर्श पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ॥ १ ॥

तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥
नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥ ३ ॥
नाऽतप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नाऽनाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः ॥ ४ ॥
नाऽयज्वभिर्नाऽव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नाऽनाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥ ५ ॥
नाऽपि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥ ६ ॥
स तद्दिव्यं वनं पश्यन्दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥ ७ ॥
तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शाऽयुतशस्तदा ॥ ८ ॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चाऽनुवीजितः ॥ ९ ॥

तेंतालीसवां अध्याय ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! वह इन्द्रपुरी सिद्ध लोग और ऋषियों से सेवित और सुगन्धित पुष्प और मनोहर वृक्षों से शोभित थी। अर्जुन उसको देखता हुआ नन्दन वन के समीप पहुँचा जहां शीतल मन्द सुगन्ध वायु चल रही थी और ऐसे-ऐसे दिव्य फले फूले वृक्ष लग रहे थे मानों बोलना चाहते हैं और जहां तहां अप्सराओं के झुण्ड के झुण्ड विहार कर रहे थे। वह लोक पुण्यात्माओं का है और उसे वे मनुष्य कभी नहीं देख सकते हैं जिन्होंने न तपस्या की है और न अग्निहोत्र किये हैं अथवा जो युद्ध में विमुख हो गये हैं और मद्य पीनेवाले मांसाहारी, यज्ञ की क्रिया को बिगाड़नेवाले दुरात्मा नीच और यज्ञ तप दान न करनेवालों को तो उस लोक का दर्शन भी मिलना दुर्लभ है ॥१।६॥

अर्जुन उस वन की शोभा देखता और अप्सराओं के मनोहर गीतों को सुनता हुआ इन्द्र-भवन के पास जा पहुँचा। वहां उसने हजारों और लाखों विमान देखे जो इच्छा के अनुसार चलनेवाले और पृथ्वी के चारों ओर घूमनेवाले थे। उस समय देवता, गन्धर्व, सिद्ध और ऋषियों ने अर्जुन की पूजा की तब वह सुगन्धित पुष्पों से महकती हुई वायु को सूँघता हुआ गन्धर्व और अप्सराओं से स्तूयमान हो।

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः संपूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ॥ १० ॥
आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ॥ ११ ॥
नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम् ।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥
तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाऽश्विनौ तथा ।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः ।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हाहाहूहूः ॥ १४ ॥
तान्सर्वान्स समागम्य विधिवत्कुरुनन्दनः ।
ततोऽपश्यद्देवराजं शतक्रतुमरिन्दमः ॥ १५ ॥
ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात् ।
ददर्श साक्षाद्देवेशं पितरं पाकशासनम् ॥ १६ ॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा ।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ॥ १७ ॥
विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैः स्तुतिवन्दिभिः ।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसंभवैः ॥ १८ ॥
ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाऽभ्यगमद्बली ।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ १९ ॥

उस सुरवीथी नाम नक्षत्र मार्ग में पहुँचा जहा अनेक प्रकार के शङ्ख और दुन्दुभी बज रहे थे ॥७।१०॥

अर्जुन ने वहा पहुँचकर साध्यगण, विश्वेदेवा मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार, बारह सूर्य, आठों ही वसु, ग्यारहों रुद्र, ब्रह्मर्षिगण, दिलीप आदि बहुत से राजऋषि और तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू आदि गन्धर्वों को देख सबसे यथायोग्य मिलकर अपने पिता इन्द्र को देखा। इसके पश्चात् रथ से उतरकर अर्जुन ने देखा कि विश्वावसु आदि गन्धर्व और ऋक्-यजु-साम के जाननेवाले ब्राह्मण इन्द्र के चारों ओर बैठे उनकी स्तुति कर रहे हैं। उनके सिर पर सुवर्ण के दण्ड से मढ़ा हुआ श्वेत छत्र लगा हुआ है। इधर-उधर दिव्य गन्ध से सुवासित मनोहर चँवर डुलाये जा रहे हैं। तब अर्जुन ने अपने पिता

ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते ।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ॥ २० ॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा ।
अङ्कमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा ॥ २१ ॥
सहस्राक्षनियोगात्स पार्थः शक्रासनं गतः ।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः ॥ २२ ॥
ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम् ।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन् ॥ २३ ॥
प्रमार्जमानः शनकैर्बाहू चाऽस्याऽऽयतौ शुभौ ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरण्मयौ ॥ २४ ॥
वज्रग्रहणचिह्नेन करेण परिसान्त्वयन् ।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू चाऽऽस्फोटयच्छनैः ॥ २५ ॥
स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक् ।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चाऽतृप्यत वृत्रहा ॥ २६ ॥
एकासनोपविष्टौ तौ शोभयाञ्चक्रतुः सभाम् ।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम चतुर्दश्यामिवोदितौ ॥ २७ ॥
तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना ।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥ २८ ॥

इन्द्र के पास पहुँचकर सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। देवराज इन्द्र ने भी प्रणाम करते हुए पुत्र को गोद में लेकर उसका माथा सूँघा। फिर हाथ पकड़कर उसे अपने पवित्र आसन के कोने पर बिठा लिया ॥११।२०॥

देवराज की आज्ञा से उनके आधे आसन पर बैठकर अर्जुन भी दूसरे इन्द्र के समान जँचने लगा। उस समय इन्द्र ने अर्जुन के मुख पर प्यार से हाथ फेरा और सोने के खम्भों के समान उसकी दोनों भुजाओं को अपने वज्र रखनेवाले हाथ से बार बार झाड़ा और मन्द मन्द मुस्कराकर प्रेम से अपने पुत्र को देख देखकर तृप्त नहीं हुआ ॥२१।२६॥

वे दोनों पिता पुत्र एक आसन पर बैठे हुए ऐसे सुशोभित दीखते थे मानों चतुर्दशी के दिन सूर्य और चन्द्रमा दोनों आकाश में उदय हुए हैं। तुम्बुरु आदि सङ्गीत-विद्या विशारद गन्धर्व मधुर स्वर से साम और गाथाएँ गाने लगे। घृताची, मेनका, रम्भा, पूर्वचित्ति, स्वयम्प्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरूथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनि, प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा, और सहा आदि विशाल नेत्रों-

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा ।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥ २९ ॥
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा ।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वना ॥ ३० ॥
एताश्चाऽन्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥ ३१ ॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः ।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि इन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

वाली अप्सराएँ सिद्ध पुरुषों का मनोरञ्जन करती हुई सभामण्डप में स्थान-स्थान पर मधुर स्वर से गाती और नाचती थीं। उनके विशाल नितम्ब, उभरे हुए स्तन, मनोहर हाव-भाव, विलास और कटाक्ष देखकर सबके चित्त चञ्चल और मोहित हो गये ॥२७।३२॥

वनपर्व का तेतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायाऽर्घ्यमुत्तमम् ।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम् ।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ॥ २ ॥
एवं संपूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः ।
उपशिक्षन्महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥ ३ ॥
शक्रस्य हस्ताद्दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम् ।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥

चवालीसवां अध्याय ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात देवताओं और गन्धर्वों ने इन्द्र की आज्ञा से अर्घ्य देकर अर्जुन की पूजा की। पाद्य, आचमन आदि के लिये जल देकर वे अर्जुन को इन्द्रभवन के भीतर ले गये। विजयी अर्जुन इस प्रकार पूजा और सम्मान पाकर पिता के यहां रहने लगा। वहां उसने बहुत से महाअस्त्रों के प्रयोग और उपसंहार आदि की विधि सीखी। उसने महेन्द्र से वज्र, अशनि

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन्सस्मार पाण्डवः ।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत्सुखी ॥ ५ ॥
ततः शक्रोऽब्रवीत्पार्थं कृतास्त्रं काल आगते ।
नृत्यं गीतं च कौन्तेय ! चित्रसेनादवाप्नुहि ॥ ६ ॥
वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते ।
तदर्जयस्व कौन्तेय ! श्रेयो वै ते भविष्यति ॥ ७ ॥
सखायं प्रददौ चाऽस्य चित्रसेनं पुरन्दरः ।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥ ८ ॥
गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवाऽऽदिदेश ह ।
तथापि नाऽलभच्छर्म तरस्वी द्यूतकारितम् ॥ ९ ॥
दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च ।
ततस्तेनाऽतुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित्क्वचित् ॥ १० ॥
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् ।
स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान्वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान् ।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता भ्रातॄन्स्मरन्मातरं चैव कुन्तीम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि अर्जुनास्त्रादिशिक्षायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ४४

आदि प्रधान प्रधान अस्त्र प्राप्त किये; किन्तु बीच-बीच में भाइयों का स्मरण हो आने से उनका चित्त दुखी हो जाता था। इस प्रकार वहां अर्जुन ने पांच वर्ष व्यतीत किये ॥१-५॥

इन्द्र ने जब जाना कि अर्जुन सब अस्त्र-विद्या सीख चुके तब एक दिन उन्होंने अर्जुन से कहा— हे पुत्र! अब तुम चित्रसेन गन्धर्व से नाचना, गाना और स्वर्ग के बाजे बजाना सीखो। इससे आगे चलकर अवश्य तुम्हारा कुछ उपकार होगा। तब इन्द्र ने चित्रसेन को बुलाया और उससे अर्जुन की मित्रता करा दी। नये मित्र चित्रसेन को पाकर अर्जुन बड़े सुख से रहने लगा। इन्द्र ने अर्जुन को आज्ञा दी कि तुम सदा तत्पर रहकर सङ्गीत-विद्या सीखो परन्तु वह किसी तरह निश्चिन्त होकर सङ्गीत-विद्या न सीख सका; क्योंकि जुए से होनेवाले अनर्थ की कठिन यन्त्रणा सदा उसके मन में बनी रहती थी। कैसे शकुनि मारा जायगा, कैसे कर्ण और दुःशासन आदि दुरात्मा हराये जायँगे, यही चिन्ता सदा उसके मन में बनी रहती थी। बीच बीच में वह आमोद के साथ गन्धर्व विद्या के अनुपम सुख का अनुभव भी करता था। सङ्गीत विद्या में इस तरह विशेष जानकारी प्राप्त करके यद्यपि वह उसके मर्म को जाननेवाला हो गया; तो भी माता कुन्ती और युधिष्ठिर आदि भाइयों का स्मरण करके वह किसी तरह सुखी नहीं

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा ।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥ २९ ॥
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा ।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वना ॥ ३० ॥
एताश्चाऽन्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥ ३१ ॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः ।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि इन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

वाली अप्सराएँ सिद्ध पुरुषों का मनोरञ्जन करती हुई सभामण्डप में स्थान-स्थान पर मधुर स्वर से गाती और नाचती थीं। उनके विशाल नितम्ब, उभरे हुए स्तन, मनोहर हाव-भाव, विलास और कटाक्ष देखकर सबके चित्त चञ्चल और मोहित हो गये ॥२७।३२॥

वनपर्व का तेतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायाऽर्घ्यमुत्तमम् ।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम् ।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ॥ २ ॥
एवं संपूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः ।
उपशिक्षन्महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥ ३ ॥
शक्रस्य हस्ताद्दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम् ।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥

चवालीसवाँ अध्याय ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् देवताओं और गन्धर्वों ने इन्द्र की आज्ञा से अर्घ्य देकर अर्जुन की पूजा की। पाद्य, आचमन आदि के लिये जल देकर वे अर्जुन को इन्द्रभवन के भीतर ले गये। विजयी अर्जुन इस प्रकार पूजा और सम्मान पाकर पिता के यहां रहने लगा। वहां उसने बहुत से महाअस्त्रों के प्रयोग और उपसंहार आदि की विधि सीखी। उसने महेन्द्र से वज्र, अशनि

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन्सस्मार पाण्डवः ।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत्सुखी ॥ ५ ॥
ततः शक्रोऽब्रवीत्पार्थं कृतास्त्रं काल आगते ।
नृत्यं गीतं च कौन्तेय ! चित्रसेनादवाप्नुहि ॥ ६ ॥
वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते ।
तदर्जयस्व कौन्तेय ! श्रेयो वै ते भविष्यति ॥ ७ ॥
सखायं प्रददौ चाऽस्य चित्रसेनं पुरन्दरः ।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥ ८ ॥
गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवाऽऽदिदेश ह ।
तथापि नाऽलभच्छर्म तरस्वी द्यूतकारितम् ॥ ९ ॥
दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च ।
ततस्तेनाऽतुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित्क्वचित् ॥ १० ॥
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् ।
स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान्वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान् ।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता भ्रातॄन्स्मरन्मातरं चैव कुन्तीम् ॥ ११ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि अर्जुनास्त्रादिशिक्षायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ४४

आदि प्रधान-प्रधान अस्त्र प्राप्त किये; किन्तु बीच-बीच में भाइयों का स्मरण हो आने से उनका चित्त दुखी हो जाता था। इस प्रकार वहां अर्जुन ने पांच वर्ष व्यतीत किये ॥१-५॥

इन्द्र ने जब जाना कि अर्जुन सब अस्त्रविद्या सीख चुके तब एक दिन उन्होंने अर्जुन से कहा—हे पुत्र! अब तुम चित्रसेन गन्धर्व से नाचना, गाना और स्वर्ग के बाजे बजाना सीखो। इससे आगे चलकर अवश्य तुम्हारा कुछ उपकार होगा। अब इन्द्र ने चित्रसेन को बुलाया और उससे अर्जुन की मित्रता करा दी। नये मित्र चित्रसेन को पाकर अर्जुन बड़े सुख से रहने लगा। इन्द्र ने अर्जुन को आज्ञा दी कि तुम सदा तत्पर रहकर सङ्गीत-विद्या सीखो परन्तु वह किसी तरह निश्चिन्त होकर सङ्गीत-विद्या न सीख सका; क्योंकि जुए से होनेवाले अनर्थ की कठिन यन्त्रणा सदा उसके मन में बनी रहती थी। कैसे शकुनि मारा जायगा, कैसे कर्ण और दुःशासन आदि दुरात्मा हराये जायँगे, यही चिन्ता सदा उसके मन में बनी रहती थी। बीच बीच में वह आग्रह के साथ गन्धर्व-विद्या के अनुपम सुख का अनुभव भी करता था। सङ्गीत विद्या में इस तरह विशेष जानकारी प्राप्त करके यद्यपि वह उसके मर्म को जाननेवाला उस्ताद हो गया; तो भी माता कुन्ती और युधिष्ठिर आदि भाइयों को स्मरण करके वह किसी तरह सुखी नहीं

हो सका ॥६।११॥

वनपर्व का चवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच कदाचिदथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत् ।
पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः ॥ १ ॥
गन्धर्वराज ! गच्छाऽद्य प्रहितोऽप्सरां वराम् ।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्रं सोपतिष्ठतु फाल्गुनम् ॥ २ ॥
यथाऽर्चितो गृहीतास्त्रो विद्यया मन्नियोगतः ।
तथा त्वया विधातव्यः स्त्रीषु सङ्गविशारदः ॥ ३ ॥
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात् ।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ॥ ४ ॥
तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनाऽर्चितस्तया ।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
विदितं तेऽस्तु सुश्रोणि ! प्रहितोऽहमिहाऽऽगतः ।
त्रिदिवस्यैकराजेन त्वत्प्रसादाभिनन्दिना ॥ ६ ॥
यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातःसहजैर्गुणैः ।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ।
प्रख्यातो बलवीर्येण संमतः प्रतिभानवान् ॥ ७ ॥

पैंतालीसवा अध्याय ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जब इन्द्र को यह मालूम हुआ कि अर्जुन का चित्त उर्वशी पर चलायमान हुआ है, तब उन्होंने चित्रसेन को बुलाकर कहा- हे चित्रसेन ! तुम शीघ्र ही अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी के पास जाकर उससे कहो कि वह यहां आवे और अर्जुन की इच्छा पूरी करे । तुमने मेरी आज्ञा से अर्जुन को जैसे सङ्गीत विद्या में निपुण कर दिया है वैसे ही कामशास्त्र में भी उसे निपुण कर दो। इन्द्र की यह आज्ञा पाकर चित्रसेन 'ऐसा ही होगा' कहकर उर्वशी के पास गया । उर्वशी से मिलकर उसने कुशल प्रश्न किया । उसने भी उचित रूप से पूजा करके गन्धर्वराज चित्रसेन को सुखपूर्वक बिठलाया। अब गन्धर्वराज ने मुस्कराते हुए कहा-हे सुन्दरी ' इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है । शायद तुम यह जानती होओगी । जिसने स्वाभाविक अनेक गुणों, रूप और लावण्यता, सुशीलता, व्रतानुष्ठान और इन्द्रियसंयम के द्वारा देवलोक तथा मनुष्यलोक में बहुत नाम पाया है, जो शूरता, वीरता, पराक्रम और क्षमा

वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान्वीतमत्सरः ।
साङ्गोपनिषदान्वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ॥ ८ ॥
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाऽष्टगुणाश्रयाम् ।
ब्रह्मचर्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसाऽपि च ॥ ९ ॥
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ।
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः ॥ १० ॥
सुहृदश्चाऽन्नपानेन विविधेनाऽभिवर्षति ।
सत्यवाक्पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः ॥ ११ ॥
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसंगरः ।
प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः ॥ १२ ॥
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात् ।
तव शक्राऽभ्यनुज्ञातः पादावद्य प्रपद्यताम् ।
तदेवं कुरु कल्याणि ! प्रपन्नस्त्वां धनञ्जयः ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा स्मितं कृत्वा संमानं बहु मन्य च ।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीत्या चित्रसेनमनिन्दिता ॥ १४ ॥
यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम ।
तं श्रुत्वाऽव्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ॥ १५ ॥

के प्रभाव से जगत् में प्रसिद्ध हो रहा है, जो डाह नहीं करता है; जिसने वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद् आदि सब शास्त्र पढ़े हैं, जो भक्तिपूर्वक गुरुजन की सेवा किया करता है; आठ गुणों से युक्त मेधा जिसकी स्वाभाविक शक्ति है, जो इन्द्र के समान ब्रह्मचर्य, आलस्य रहित और अभिज्ञता के द्वारा सब लोगों की रक्षा और देख रेख किया करता है वह अर्जुन स्वर्ग-प्राप्ति के फल से वञ्चित न हो, यही इन्द्र की इच्छा है। जो तनिक भी अपने मुँह अपनी बड़ाई करना नहीं जानता; जो सबका यथायोग्य सम्मान करता है; जो सूक्ष्म अर्थों को अत्यन्त स्थूल अर्थों की तरह सहज ही समझ लेता है, ॥१।१०॥

जो अन्न, जल, आदि देकर अपने सुहृदों का पालन पोषण करता है, जो सत्यवादी, वक्ता, दृढ़ प्रतिज्ञावाला, सबका पूजनीय, शरणागत, आये हुए की रक्षा करनेवाला और प्रियदर्शन है, जो अपने गुणों में इन्द्र और वरुण के समान है, वह अर्जुन आज स्वर्ग-प्राप्ति के फल से वञ्चित न हो, यही देवराज इन्द्र की इच्छा और आज्ञा है। हे उर्वशी ! इन्द्र की आज्ञा के अनुसार ही तुमको यही करना उचित है जिसमें अर्जुन को तुम्हारा अङ्ग-सङ्ग प्राप्त हो, क्योंकि वह तुम पर अत्यन्त आसक्त है। यह सुनकर

महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः संप्रणयेन च ।
तस्य चाऽहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्मथा ।
गच्छ त्वं हि यथाकाममागमिष्याम्यहं सुखम् ॥ १६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चित्रसेनोर्वशीसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्याय ४५

उर्वशी प्रसन्न होकर मुस्कराती हुई चित्रसेन से कहने लगी–हे चित्रसेन ! तुमने अर्जुन के जिन गुणों का वर्णन किया है, वह सचमुच उसमें है। मैंने जब से लोगों के मुँह से अर्जुन के गुण सुने हैं तबसे मुझे कामदेव सता रहा है। अब उसके गुण तुम्हारी नम्रता और इन्द्र की आज्ञा से मेरा चित्त अर्जुन पर और भी मोहित हो गया है। तुम अब अपने स्थान को जाओ। मैं ठीक समय पर अर्जुन के पास जा पहुँचूँगी ॥११।१६॥

वनपर्व का पैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता ।
उर्वशी चाऽकरोत्स्नानं पार्थप्रार्थनलालसा ॥ १ ॥
स्नानालङ्करणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः ।
धनञ्जयस्य रूपेण शरैर्मन्मथचोदितैः ॥ २ ॥
अतिविद्धेन मनसा मन्मथेन प्रदीपिता ।
दिव्यास्तरणसंस्तीर्णे विस्तीर्णे शयनोत्तमे ॥ ३ ॥
चित्तसङ्कल्पभावेन सुचित्ताऽनन्यमानसा ।
मनोरथेन संप्राप्तं रमन्त्येनं हि फाल्गुनम् ॥ ४ ॥
निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे ।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥ ५ ॥

छयालीसवां अध्याय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! गन्धर्वराज को विदा करने के पीछे उर्वशी ने अर्जुन से प्रीति करने की इच्छा से स्नान किया और मनमाने सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनकर वह शृङ्गार करने लगी। उसने अङ्गों में अङ्गराग लगाया; शरीर में सुगन्धित चन्दन आदि लगा लिया। वह मन ही मन अर्जुन की मोहिनी मूर्ति का स्मरण कर कामदेव के बाणों से अत्यन्त पीड़ित होने लगी। दिव्य बिछौने जिस पर बिछे हुए हैं उस पलङ्ग पर लेटकर वह अनन्य-हृदय में कल्पना के द्वारा प्रियतम की मूर्ति का ध्यान करके सम्भोग सुख से अपनी इच्छा पूरी करने लगी। धीरे धीरे जब सायंकाल हो गया और चन्द्रमा उदय

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुसुमोत्करधारिणा ।
केशहस्तेन ललना जगामाऽथ विराजती ॥ ६ ॥
भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैःकान्त्या सौम्यतयाऽपि च ।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽऽह्वयन्तीव गच्छति ॥ ७ ॥
दिव्याङ्गरागौ सुमुखौ दिव्यचन्दनरूषितौ ।
गच्छन्त्या हाररुचिरौ स्तनौ तस्या ववल्गतुः ॥ ८ ॥
स्तनोद्वहनसंक्षोभान्नम्यमाना पदे पदे ।
त्रिवलीदामचित्रेण मध्येनाऽतीव शोभिता ॥ ९ ॥
अधोभूधरविस्तीर्णं नितम्बोन्नतपीवरम् ।
मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम् ॥ १० ॥
ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम् ।
सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ॥ ११ ॥
गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायततलाङ्गुली ।
कूर्मपृष्ठोन्नतौ चापि शोभेते किङ्किणीकिणौ ॥ १२ ॥
सीधुपानेन चाऽल्पेन तुष्ट्याऽथ मदनेन च ।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराऽभवत् ॥ १३ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी ।

हुआ तब विशाल नितम्बोंवाली वह अप्सरा पलङ्ग पर से उठकर अर्जुन के भवन की ओर चली ॥१-५॥

फूलों के गुच्छों से शोभित, सुकोमल, घूँघरवाली उसकी अलकें जाने के समय उसके मुखमण्डल की शोभा को बढ़ाने लगीं। कटाक्ष, मधुर भाषण और असाधारण रूप और लावण्यता से उसकी अपूर्व शोभा हुई। उसके रूप को देखकर चन्द्रमा भी लज्जित सा हो गया। वह अप्सरा दिव्य चन्दन लगे हुए हिल रहे हार से शोभित स्तनों के बोझ से पग-पग पर लचकती हुई जा रही थी। त्रिवली से शोभित नाभि और सोने की काञ्ची (करधनी) से भूषित उसकी कमर थी। शैल-शिखर सदृश ऊँचे चौड़े नितंब, करधनी की उज्ज्वल लड़ियों से शोभित होने के कारण कामदेव की क्रीड़ाभूमि से जान पड़ते थे ॥६-१०॥

बहुत ही बारीक रेशमी वस्त्र से ढकी हुई उसकी सुडौल मनोहर जाँघों को देखकर बड़े-बड़े ऋषियों के भी मन डिग जाते थे। उसके दोनों गुल्फ गूढ़ तलुए लाल लाल अँगुलियाँ लम्बी लम्बी और पाँव कछुए की पीठ के समान ऊँचे ऊँचे थे। वह अप्सरा थोड़ा मद्यपान किये हुए कामदेव के मद से भरी हुई होने के कारण से दर्शन करने के योग्य हो गई और ऊपर का वस्त्र पतला होने के कारण से वह स्वर्ग में

बहाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाऽऽकृतिः ॥ १४ ॥
सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता ।
तनुरभ्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छती ॥ १५ ॥
ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी ।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥ १६ ॥
तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता ।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ ! उर्वशी शुभलोचना ॥ १७ ॥
उपातिष्ठत तद्वेश्म निर्मलं सुमनोहरम् ।
स शङ्कितमना राजन् ! प्रत्युद्गच्छत तां निशि ॥ १८ ॥
दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः ।
तदाऽभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥
अर्जुन उवाच—अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे ! ।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ॥ २० ॥
फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी ।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ॥ २१ ॥
उर्वश्युवाच—यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम ! ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यथा चाऽहमिहाऽऽगता ॥ २२ ॥
उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्तमाने मनोरमे ।

भी दर्शनीय रूप रखनेवाली अप्सरा आकाशमार्ग से सिद्ध चारण और गन्धर्वों सहित जाती हुई ऐसी दीखती थी मानों पूर्णमासी का चन्द्रमा पतले बादल से ढका हुआ है ॥११।१५॥

इस प्रकार से वह मन और पवन के समान चलनेवाली अप्सरा एक क्षण में अर्जुन के भवन पर आ पहुची। तब शीघ्रता के साथ जाकर द्वारपालों ने उसके आने का वृत्तान्त अर्जुन को कह सुनाया। वह मन में शङ्का करके यद्यपि रात्रि थी तो भी उसके समीप चला गया और लज्जित हो नमस्कार कर बड़ों के समान उसका आदर सत्कार करके कहने लगा—हे श्रेष्ठ अप्सरा! मैं तुमको प्रणाम करता हूँ। हे देवी! मैं तुम्हारा सेवक हूँ; आज्ञा करो, मैं अभी उसे पूर्ण करूगा ॥१६।२०॥

अर्जुन के ऐसे विकार शून्य वचन सुनकर उर्वशी घबरा सी गई। वह गन्धर्वराज चित्रसेन का कहा सब वृतान्त विस्तार के साथ कहने लगी। अब उर्वशी ने कहा—हे नरश्रेष्ठ! मैं यहां चित्रसेन गन्धर्व के कहने से आई हूँ। उसने जो कुछ कहा है सो सब कहती हूँ, सुनिए। जब तुम इन्द्र की सभा में आये थे तब

तवाऽऽगमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ॥ २३ ॥
रुद्राणां चैव सांनिध्यमादित्यानां च सर्वशः ।
समागमेऽश्विनोश्चैव वसूनां च नरोत्तम! ॥ २४ ॥
महर्षीणां च संघेषु राजर्षिप्रवरेषु च ।
सिद्धचारणयक्षेषु महोरगगणेषु च ॥ २५ ॥
उपविष्टेषु सर्वेषु स्थानमानप्रभावतः ।
ऋद्ध्या प्रज्वलमानेषु अग्निसोमार्कवर्ष्मसु ॥ २६ ॥
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन! ।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन! ॥ २७ ॥
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह! ।
त्वं किलाऽनिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ॥ २८ ॥
तत्र चाऽवभृथे तस्मिन्नुपस्थाने दिवौकसाम् ।
तव पित्राऽभ्यनुज्ञाता गताः स्वं स्वं गृहं सुराः ॥ २९ ॥
तथैवाऽप्सरसः सर्वा विशिष्टाः स्वगृहं गताः ।
अपि चाऽन्याश्च शत्रुघ्न! तव पित्रा विसर्जिताः ॥ ३० ॥
ततः शक्रेण संदिष्टश्चित्रसेनो ममाऽन्तिकम् ।
प्राप्तः कमलपत्राक्ष! स च मामब्रवीदथ ॥ ३१ ॥
त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि! ।
प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवाऽऽत्मनश्च ह ॥ ३२ ॥

तुम्हारे आने के कारण स्वर्ग में बड़ा मनोहर उत्सव हुआ था। उस उत्सव में जिसमें सब रुद्र, द्वादश सूर्य, आठों वसु, दोनों अश्विनीकुमार, महाऋषि, राजऋषि, सिद्ध, चारण, यक्ष और महोरग जो सब के सब अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य के समान तेजस्वी हैं अपने-अपने योग्यस्थानों पर बैठे हुए थे। गन्धर्व लोग वीणा बजा-कर सुन्दर स्वर से मधुर गीत गा रहे थे। सब मुख्य-मुख्य अप्सराएँ नाच रही थीं। उस समय तुम भी उस सभा में बैठे थे, और बारम्बार मेरी ओर देख रहे थे ॥२३।२८॥

नाचना-गाना बन्द हो गया। तुम्हारे पिता ने देवताओं, अप्सराओं और अन्य सभासदों को विदा करके अन्त में चित्रसेन गन्धर्व को मेरे पास भेजा। वे तुम्हारे पिता की आज्ञा पाते ही मेरे पास आकर कहने लगा—हे सुन्दरी! इन्द्र की आज्ञा से मैं तुम्हारे पास आया हूँ। तुम शीघ्र महाबली पराक्रमी अर्जुन

शक्रतुल्यं रणे शूरं सदौदार्यगुणान्वितम् ।
पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि! त्वमित्येवं तदाऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥
ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ! ।
तवाऽन्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिन्दम! ॥ ३४ ॥
त्वद्गुणाकृष्टचित्ताऽहमनङ्गवशमागता ।
चिराभिलषितो वीर! ममाऽप्येष मनोरथः ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जावृतोऽर्जुनः ।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥ ३६ ॥
दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे! यन्मां वदसि भाविनि! ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने! ॥ ३७ ॥
यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणी नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥
यच्चेक्षिताऽसि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे! ।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते! ॥ ३९ ॥
इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति ह ।
त्वामहं दृष्टवांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ॥ ४० ॥
न मामर्हसि कल्याणि! अन्यथा ध्यातुमप्सरः! ।
गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम त्वं वंशवर्धिनी ॥ ४१ ॥

को पतिरूप से स्वीकार करो। तुम्हारे यह कार्य करने से इन्द्र और मैं, दोनों ही परम प्रसन्न होंगे। तुम भी अर्जुन के सङ्ग से अपने को कृतकृत्य समझोगी ॥२९।३३॥

सो हे अर्जुन! मैं तुम्हारे पास इन्द्र और उक्त गन्धर्व की आज्ञा से तुम्हारी सेवा करने आई हूँ। तुम्हारे गुणों ने मेरे मन को खींचकर कामासक्त कर दिया और मेरी यह इच्छा बहुत दिन पहले से भी थी। अर्जुन देवलोक में उस अप्सरा की उक्त बात सुनकर बहुत ही लज्जित हुआ और अपने कानों में उंगली डालकर कहने लगा—हे उर्वशी! तुमने जो कुछ मुझ से कहा, वह सुनना मेरे लिये सब तरह अनुचित है। मैं निश्चय तुमको अपनी गुरु की स्त्री के समान समझता हूँ ॥३४।३७॥

कुन्ती और इन्द्राणी जैसे मेरे लिये पूजनीय हैं वैसे ही तुम भी हो। हे शोभने! मैं यही सोचकर बार बार तुम्हारी ओर देख रहा था कि यही श्रेष्ठ अप्सरा हमारे पौरववंश की माता है ॥३८।४०॥

तात्पर्य यह है कि मेरा कोई बुरा विचार न था। इसमें तुमको मेरी ओर से और किसी प्रकार

उर्वश्युवाच—अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ! ।
गुरुस्थाने न मां वीर! नियोक्तुं त्वमिहाऽर्हसि ॥ ४२ ॥
पूरोर्वंशे हि ये पुत्रा नप्तारो वा त्विहाऽऽगताः ।
तपसा रमयन्त्यस्मान्न च तेषां व्यतिक्रमः ॥ ४३ ॥
तत्प्रसीद न मामार्तां विसर्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च संततां भक्तां च भज मानद ! ॥ ४४ ॥
अर्जुन उवाच—श्रृणु सत्यं वरारोहे ! यत्त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ! ।
श्रृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥ ४५ ॥
यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममाऽनघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥ ४६ ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ! ।
त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥ ४७ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्त्रा शशापाऽथ धनञ्जयम् ॥ ४८ ॥
उर्वश्युवाच—तव पित्राऽभ्यनुज्ञातां स्वयं च गृहमागताम् ।
यस्मान्मां नाऽभिनन्देथाः कामबाणवशंगताम् ॥ ४९ ॥
तस्मात्त्वं नर्तनः पार्थ ! स्त्रीमध्ये मानवर्जितः ।

का ध्यान करना उचित नहीं है । तुम्हीं से पुरुवंश उत्पन्न हुआ है । तुम मेरी बड़ी हो । यह सुनकर उर्वशी ने कहा—हे इन्द्र के पुत्र ! हम अनावृत किया हैं । तुम मुझे अपनी गुरु-पत्नी मत कहो । देखो पुरुवंश के बहुत से पुत्र और नाती तपस्या कर करके यहां आये हैं और वे सब हमारे साथ रमण करते हैं । उनको किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है । मैं काम से विह्वल हो रही हूँ । मैं भक्त और अनुरक्त होकर यहां आई हूँ । मुझ पर कृपा करके तुम मुझे स्वीकार करो । मुझे विमुख करना तुम्हें किसी तरह उचित नहीं है ॥४१।४४॥

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—हे अप्सरा ! मैंने जो तुमसे कहा है और कहता हूँ उसे तुम निश्चय सत्य जानो । मैं सब दिक्पालों को साक्षी करके कहता हूँ कि कुन्ती, माद्री और इन्द्राणी जैसे मेरे लिये पूजनीय और कुल की माता हैं वैसे ही तुम हो । मैं तुम्हारे चरणों में सिर रखकर प्रणाम करता हूँ । तुम जाओ ! तुम मेरे लिये माता की तरह पूजनीय हो और मैं तुम्हारे लिये पुत्र की तरह रक्षणीय हूँ॥४५।४७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अर्जुन के ऐसे वचन सुनकर उर्वशी क्रोधित हो गई । उसका शरीर कांपने लगा । भौंहें टेढ़ी हो गईं । क्रोध में आकर

अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद्विचरिष्यसि ॥ ५० ॥
एवं दत्वाऽर्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ ।
पुनः प्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशी गृहमात्मनः ॥ ५१ ॥
ततोऽर्जुनस्त्वरमाणश्चित्रसेनमरिन्दमः ।
संप्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथा तथा ।
निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः ॥ ५२ ॥
तत्र चैवं यथावृत्तं शापं चैव पुनः पुनः ।
अवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः ॥ ५३ ॥
तत आनाय्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः ।
सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ५४ ॥
सुपुत्राऽद्य पृथा तात ! त्वया पुत्रेण सत्तम ! ।
ऋषयोऽपि हि धैर्येण जिता वै ते महाभुज ! ॥ ५५ ॥
यत्तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद ! ।
स चाऽपि तेऽर्थकृत्तात ! साधकश्च भविष्यति ॥ ५६ ॥
अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ ! ।
वर्षे त्रयोदशे वीर ! तं तत्र क्षपयिष्यसि ॥ ५७ ॥
तेन नर्तनवेषेण अपुंस्त्वेन तथैव च ।

अर्जुन को शाप देते हुए उसने कहा–हे अर्जुन ! काम से विह्वल हुई हुई मैं तुम्हारे पिता की आज्ञा से तुम्हारे पास स्वयं आई, पर तुमने मुझे प्रसन्न नहीं किया; इस कारण तुमको मान रहित होकर स्त्रियों के बीच में नाचना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे। ॥४८।५०॥

इस तरह अर्जुन को शाप देकर उर्वशी अपने घर चली आई। उस समय भी उसके ओठ फड़क रहे थे और वह लम्बी सांसें ले रही थी। अप्सरा के शाप से अर्जुन बहुत व्याकुल हुआ। अब वह चित्रसेन के पास गया। वहां उसने उससे सब वृत्तान्त कहा। गन्धर्वराज उसको साथ लेकर इन्द्र के पास गया। उनको उसने आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त कह सुनाया। तब इन्द्र अपने पुत्र अर्जुन को एकान्त में ले जाकर कहने लगे–हे पुत्र ! तुमको गर्भ में धारण करने के कारण आज कुन्ती धन्य हुई। तुम, इसमें कोई सन्देह नहीं उनके सुयोग्य पुत्र हो ॥५१।५५॥

हे पुत्र ! तुमने अपने धैर्य से ऋषियों और देवताओं को भी जीत लिया और जो उर्वशी ने तुम को शाप दिया है उसका कुछ भी भय नहीं है। यह शाप भी आगे तुम्हारे बड़े काम आवेगा। क्योंकि तुमको तेरहवें वर्ष में गुप्तवास करना है। सो जब

वर्षमेकं विहृत्यैव ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि ॥ ५८ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा ।
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत् ॥ ५९ ॥
चित्रसेनेन सहितो गन्धर्वेण यशस्विना ।
रेमे स स्वर्गभवने पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः ॥ ६० ॥
इदं यः श्रृणुयाद्वृत्तं नित्यं पाण्डुसुतस्य वै ।
न तस्य कामः कामेषु पापकेषु प्रवर्तते ॥ ६१ ॥
इदममरवरात्मजस्य घोरं शुचि चरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य ।
व्यपगतमददम्भरागदोषास्त्रिदिवगताविरमन्ति मानवेन्द्राः ॥ ६२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि उर्वशीशापोनाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

वह समय आवे तब तुम एक वर्ष हिजड़े के स्वरूप में रहियो। तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होने पर फिर तुम ज्यों का त्यों पुरुष हो जाओगे ॥५६।५९॥

पिता के मुख से ऐसे वचन सुनकर अर्जुन बड़ा प्रसन्न हुआ। शाप के कारण उसको जो चिन्ता हुई थी वह सब दूर हो गई। वह निश्चिन्त होकर स्वर्ग में रहकर चित्रसेन गन्धर्व के साथ रमण करता रहा।

वैशम्पायन ने कहा-हे जनमेजय! पाण्डव अर्जुन के इस वृत्तान्त को सुननेवाले मनुष्य की इच्छा पाप-युक्त कामना से दूर रहती है। और राजा लोग इस पवित्र इतिहास को सुनकर राग, द्वेष, मद और भेद को छोड़कर स्वर्ग पाते हैं और वहा आनन्दपूर्वक रमण करते हैं ॥६०।६२॥

वनपर्व का छयालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः ।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ॥ १ ॥
स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः ।
ददर्शाऽर्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य हि ॥ २ ॥

सैंतालीसवां अध्याय ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे जनमेजय! एक समय लोमश ऋषि घूमते हुए इन्द्र को देखने की इच्छा से इन्द्रपुरी में आये और इन्द्र से मिलकर इन्द्र के दिये हुए आसन पर बैठ गये। उस समय वे अर्जुन को इन्द्रासन पर इन्द्र की बराबर बैठा हुआ देखकर विचार करने लगे कि कुन्ती का पुत्र अर्जुन क्षत्रिय होकर किस तरह देवताओं और ऋषियों के लिये भी दुर्लभ इन्द्र के आसन पर बैठ गया है। इसने

निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३ ॥
तस्य दृष्ट्वाऽभवद् बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम्।
कथं नु क्षत्रियः पार्थ ! शक्रासनमवाप्तवान् ? ॥ ४ ॥
किं त्वस्य सुकृतं कर्म के लोका वै विनिर्जिताः? ।
स एवमनुसंप्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ॥ ५ ॥
तस्य विज्ञाय संकल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
लोमशं प्रहसन्वाक्यमिदमाह शचीपतिः ॥ ६ ॥
ब्रह्मर्षे ! श्रूयतां यत्ते मनसैतद्विवक्षितम् ।
नाऽयं केवलमर्त्यो वै मानुषत्वमुपागतः ॥ ७ ॥
महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः ।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित्कारणान्तरात् ॥ ८ ॥
अहो ! नैनं भवान्वेत्ति पुराणमृषिसत्तमम् ।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन् ! योऽयं यच्चाऽस्य कारणम् ॥ ९ ॥
नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
ताविमावनुजानीहि हृषीकेशधनञ्जयौ ॥ १० ॥
विख्यातौ त्रिषु लोकेषु नरनारायणावृषी ।
कार्यार्थमवतीर्णौ तौ पृथ्वीं पुण्यप्रतिश्रयाम् ॥ ११ ॥

ऐसा कौन सा पुण्य किया है, अथवा ऐसा कौन श्रेष्ठ लोक जीता है कि ऐसा देव-पूजित स्थान प्राप्त कर लिया ! ॥१।५॥

उस मुनि को इस प्रकार सोचते देख उनके मन के भाव को जानकर इन्द्र हंसकर कहने लगे—हे ब्रह्मऋषि ! मैं आपके मन के संकल्प को जान गया हूँ। तुम इस अर्जुन को केवल मनुष्य ही मत समझो। किन्तु यह मेरा पुत्र है और कुन्ती से उत्पन्न हुआ है और यहां किसी कारण से अस्त्र विद्या सीखने आया है। बड़े ही आश्चर्य की बात है आप ऐसे ब्रह्मऋषि इस पुराने ऋषि को नहीं जानते हैं ! हे ब्रह्मन् ! जो नर और नारायण नाम से पुराने ऋषि विख्यात हैं उन्हीं दोनों ने पृथ्वी का भार दूर करने के लिये श्रीकृष्ण और अर्जुन के नाम से अवतार लिया है ॥६।१०॥

इन दोनों नर और नारायण का रहने का स्थान बदरिकाश्रम है जहां से गंगा जी निकलती हैं और जिसे देवता और महात्मा ऋषि नहीं देख सकते हैं। इन दोनों तेजस्वियों ने मेरी प्रेरणा से पृथ्वी पर अवतार लिया है और दोनों मिलकर पृथ्वी का भार

यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः ।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरीनाम विश्रुतम् ॥ १२ ॥
स निवासोऽभवद्विप्र ! विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च ।
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ॥ १३ ॥
तौ मन्नियोगाद् ब्रह्मर्षे ! क्षितौ जातौ महाद्युती ।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ॥ १४ ॥
उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति ।
विप्रियेषु स्थिताऽस्माकं वरदानेन मोहिताः ॥ १५ ॥
तर्कयन्ते सुरान्हन्तुं बलदर्पसमन्विताः ।
देवान्न गणयन्त्येते तथा दत्तवरा हि ते ॥ १६ ॥
पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः ।
सर्वदेवनिकाया हि नाऽलं योधयितुं हि तान् ॥ १७ ॥
योऽसौ भूमिगतः श्रीमान्विष्णुर्मधुनिषूदनः ।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः ॥ १८ ॥
येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम् ।
दर्शनादेव निहताः सगरस्याऽऽत्मजा विभो ! ॥ १९ ॥
तेन कार्यं महत्कार्यमस्माकं द्विजसत्तम ! ।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यां न संशयः ॥ २० ॥
सोऽसुरान्दर्शनादेव शक्तो हन्तुं सहानुगान् ।
निवातकवचान्सर्वान्नागानिव महाह्रदे ॥ २१ ॥

उतारेंगे। और जो निवातकवच नाम के दैत्य पाताललोक में रहते हैं वरदान पाने के कारण से बड़े बली और भयङ्कर हो रहे हैं और देवताओं को कुछ न समझकर मारने को उद्यत रहते हैं और देवता उनसे युद्ध नहीं कर सकते ॥ ११।१७॥

उनको यह अर्जुन मारकर फिर नरलोक को जायगा यद्यपि मधुदैत्य को मारनेवाले विष्णु भगवान् जिन्होंने पृथ्वी पर अवतार लिया है और जो कपिल-ऋषि का रूप हैं जिन्होंने राजा सगर के पुत्रों को रसातल खोदने पर दृष्टिमात्र से ही भस्म कर दिया था इन निवातकवच नाम के पक्षपातियों सहित देखकर ही भस्म कर सकते हैं परन्तु ऐसे छोटे से काम के लिये मैं उनसे कहना योग्य नहीं समझता हूँ क्योंकि जो उनको यह बात जितलाई जावे तो अपने

तेजसः सुमहाराशिः प्रबुद्धः प्रदहेज्जगत् ॥ २२ ॥
अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने ।
तान्निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ॥ २३ ॥
भवानस्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम् ।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥
स वाच्यो मम सन्देशाद्धर्मात्मा सत्यसंगरः ।
नोत्कण्ठा फाल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति ॥ २५ ॥
नाऽशुद्धबाहुवीर्येण नाऽकृतास्त्रेण वा रणे ।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ॥ २६ ॥
गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः ।
नृत्यवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमीयिवान् ॥ २७ ॥
भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर ! ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिन्दम ! ॥ २८ ॥
तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः ।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र ! सुखी विगतकल्मषः ॥ २९ ॥
भवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ ! पर्यटन्तं महीतलम् ।
त्रातुमर्हति विप्राग्र्य ! तपोबलसमन्वितः ॥ ३० ॥

तेज के समूह से जगत् को भस्म कर डालेंगे। इससे यह अर्जुन ही उनको मार डालने को समर्थ है इस अर्जुन और श्रीकृष्ण के मिलकर युद्ध करने से हमारा बड़ा काम निकलेगा ॥१८।२३॥

अब आप मेरी आज्ञा से पृथ्वी पर काम्यक वन में युधिष्ठिर के पास जाइये और उससे हमारा यह सन्देसा कह दीजिएगा कि तुम अर्जुन की ओर से किसी बात की चिन्ता मत करो। वह अस्त्र सीखकर शीघ्र ही तुम्हारे पास आवेगा। जो मनुष्य अस्त्र सीखा हुआ और पराक्रमी नहीं है वह भीष्म और द्रोणाचार्य को वश में नहीं कर सकता। सो अर्जुन अब सब अस्त्र सीखकर नाचने, गाने और बजाने में भी निपुण हो गया है ॥२४।२७॥

इससे तुम भी अपने छोटे भाइयों को साथ लेकर तीर्थ-यात्रा करो। तीर्थों में स्नान करने से तुम्हारे सब पाप दूर हो जायँगे और कल्मषरूपी रोग नष्ट हो जायगा। फिर तुम सुखपूर्वक राज्य करोगे। हे ब्रह्मण ! तपोबल के प्रभाव से आप तीर्थ-यात्रा के समय सब आपत्तियों से उन्हें बचाते रहियेगा। पहाड़ों पर और विषम स्थानों में भयङ्कर राक्षस रहते

... च सदा देशेषु विषमेषु च ।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षां विधास्यति ॥ ३१ ॥
एवमुक्ते महेन्द्रेण बीभत्सुरपि लोमशम् ।
उवाच प्रयतो वाक्यं रक्षेथाः पाण्डुनन्दनम् ॥ ३२ ॥
यथा गुप्तस्त्वया राजा चरेत्तीर्थानि सत्तम ! ।
दानं दद्याद्यथा चैव तथा कुरु महामुने ! ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच तथेति संप्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः ।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ॥ ३४ ॥
ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिन्दमम् ।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि लोमशगमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

हैं उनसे पाण्डवों की रक्षा करना ॥२८।३१॥ जब इन्द्र उक्त प्रकार से कह चुका तब अर्जुन बोला—हे महाराज! आप युधिष्ठिर की रक्षा अवश्य कीजिएगा जिससे वह आपसे रक्षित होकर तीर्थयात्रा कर सके और दान देवे। वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय! लोमश ऋषि उक्त बात को सुनकर 'बहुत अच्छा' कहकर पृथ्वी पर आये और काम्यक वन में पहुँचकर युधिष्ठिर के पास पहुँचे जो अपने भाइयों और तपस्वियों की मण्डली में बैठा हुआ था ॥३२।३५॥

वनपर्व का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

अथ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

जनमेजय उवाच—अत्यद्भुतमिदं कर्म पार्थस्याऽमिततेजसः ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः श्रुत्वा विप्र ! किमब्रवीत् ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाऽम्बिकासुतः ।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात्संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—श्रुतं मे सूत ! कार्त्स्न्येन कर्म पार्थस्य धीमतः ।

अड़तालीसवां अध्याय ॥ ४८ ॥

इस कथा को सुनकर राजा जनमेजय ने पूछा—हे महाराज! महाराज धृतराष्ट्र ने जब परम तेजस्वी अर्जुन के इस अद्भुत काम का वृत्तान्त सुना तब क्या कहा? वैशम्पायन जी ने कहा—हे जनमेजय! अम्बिका के पुत्र धृतराष्ट्र ने जब वेदव्यास के मुख से अर्जुन के इन्द्रलोक जाने का वृत्तान्त सुना तब उन्होंने सञ्जय से कहा—हे सञ्जय! मैंने अर्जुन के सब विचित्र कामों का हाल सुना है। क्या तुम्हें

कच्चित्त्वाऽपि विदितं याथातथ्येन सारथे ! ॥ ३ ॥
प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः ।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ४ ॥
यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद्योद्धा यस्य धनञ्जयः ॥ ५ ॥
अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान् ।
कोऽर्जुनस्याऽग्रतस्तिष्ठदपि मृत्युर्जरातिगः ॥ ६ ॥
मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशानुगाः ।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम् ॥ ७ ॥
तथैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः ।
अनिशं चिन्तयानोऽपि य एनमुदियाद्रथी ॥ ८ ॥
द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे ।
महान्स्यात्संशयो लोके तत्र पश्यामि नो जयम् ॥ ९ ।
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ।
अमर्षी बलवान्पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ॥ १० ॥
संभवेत्तुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम् ।

भी यह सब हाल मालूम है ? मै जानता हूँ कि यह मूढ़, दुष्ट, दुर्बुद्धि, और पापी मेरा पुत्र दुर्योधन केवल विषय-भोग में ही लगे रहकर समय गँवा रहा है । वह अवश्य अब सब पृथ्वी का नाश करेगा । क्योंकि जिस महात्मा की बात स्वतन्त्रता में भी कभी असत्य नहीं होती और जिसकी ओर अर्जुन सरीखा योद्धा है वह तीनों लोकों को भी जीत सकता है। तेज, नुकीले, कर्णी और नाराच नाम के बाणों को जब अर्जुन छोड़ेगा तब उनको कौन सहेगा ! यमराज में भी यह सामर्थ्य नहीं है जो अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों के सन्मुख ठहर सके ॥१।६॥

सो उन पाण्डवों से अब मेरे पुत्रों का युद्ध खड़ा हो गया मैं जानता हूँ कि मेरे पुत्र दुरात्मा और काल के वश में हैं । मैंने अभी तक ऐसे किसी वीर को नहीं देखा, जो गाण्डीव धनुष लिये खड़े अर्जुन के साथ युद्ध कर सके । मुझे जान पड़ता है कि कर्ण, द्रोण या भीष्म पितामह भी यदि दुर्योधन की ओर से युद्ध करेंगे तो भी युद्ध में हमारे पक्ष के जीतने की सम्भावना नहीं है; क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और द्रोणाचार्य तथा भीष्म दोनों वृद्ध हैं। ये अर्जुन से युद्ध नहीं कर सकते । अर्जुन क्रोधी, बलवान् और दृढ़पराक्रमी है ॥७।१०॥

पाण्डवों के साथ घोर संग्राम होना सम्भव है, किन्तु उन्हें परास्त करना अत्यन्त कठिन है । क्योंकि

सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद्यशः ॥ ११ ॥
अपि सर्वेश्वरत्वं हि ते वाञ्छन्त्यपराजिताः ।
वधे नूनं भवेच्छान्तिरेतेषां फाल्गुनस्य वा ॥ १२ ॥
न तु हन्ताऽर्जुनस्याऽस्ति जेता वाऽस्य न विद्यते ।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मां चैव प्रतिसंहितः ॥ १३ ॥
त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
जिगाय पार्थिवान्सर्वान्राजसूये महाक्रतौ ॥ १४ ॥
शेषं कुर्याद्गिरेर्वज्रो निपतन्मूर्ध्नि संजय ! ।
न तु कुर्युः शराः शेषं क्षिप्तास्तात ! किरीटिना ॥ १५ ॥
यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम् ।
तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मत्सुतान् ॥ १६ ॥
अपि तद्रथघोषेण भयार्ताः सव्यसाचिनः ।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमू ॥ १७ ॥
यदुद्वमन्प्रवपंश्चैव बाणान्स्थाताऽऽततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा भवेद्यथा तद्वदपारणीयः ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४८॥

सब पाण्डव शूरवीर, अस्त्र जाननेवाले और यशस्वी हैं। वे शत्रुओं को हराकर यश पाने की इच्छा रखते हैं। इस कारण सब पाण्डवों को, अथवा केवल अर्जुन को, मारे बिना किसी तरह युद्ध का भय नहीं मिट सकता। इस जगत् में ऐसा कोई नहीं देख पड़ता जो अर्जुन को मार सके या हरा सके। मेरे प्रति अर्जुन के मन में जो क्रोध उत्पन्न हुआ है वह किसी तरह नहीं मिट सकता। देखो, अर्जुन ने खाण्डव वन को जलाकर अग्निदेव को प्रसन्न किया और सब पृथ्वी के राजाओं को जीतकर राजसूय यज्ञ रचा उसका पराक्रम इन्द्र के समान है। चाहे इन्द्र के वज्र से पर्वत शेष बच रहे परन्तु अर्जुन के बाण ऐसे हैं कि उनसे कदापि कोई नहीं बच सकता है ॥११।१५॥

मेरे पुत्र उसके बाणों से इस प्रकार से तापित हैं जैसे सूर्य की किरणों से सब जगत् तप्त हो रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भरतवंशियों की सेना अर्जुन के रथ के चलने के शब्द से भयभीत और तितर बितर हो रही है और अर्जुन तर्कस से बाण निकाल निकालकर मृत्यु के समान रण में खड़े होकर मार रहा है और उसको कोई नहीं जीत सकता। ॥१६।१८॥

वनपर्व का अड़तालीसवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ४८ ॥

सञ्जय उवाच—यदेतत्कथितं राजंस्त्वया दुर्योधनं प्रति ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं नैतन्मिथ्या महीपते ! ॥ १ ॥
मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्ते महौजसः ।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ २ ॥
दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः ।
कर्णस्य च महाराज ! न स्वप्स्यन्तीति मे मतिः ॥ ३ ॥
श्रुतं हि मे महाराज ! यथा पार्थेन संयुगे ।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ॥ ४ ॥
कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फाल्गुनम् ।
जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान्स्वयम् ॥ ५ ॥
तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरच्युतम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ॥ ६ ॥
नैतदुत्सहते चाऽन्यो लब्धुमन्यत्र फाल्गुनात् ।
साक्षाद्दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ॥ ७ ॥
महेश्वरेण यो राजन् ! न जीर्णो ह्यष्टमूर्तिना ।
कस्तमुत्सहते वीरो युद्धे जरयितुं पुमान् ॥ ८ ॥
आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ॥ ९ ॥

उन्चासवां अध्याय ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्र की उक्त बातों को सुनकर सञ्जय ने कहा—हे महाराज ! आपने दुर्योधन के बारे में जो कुछ कहा है सो ठीक है । इसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है । वे तेजस्वी पाण्डव उस धर्मपत्नी द्रौपदी को सभा में लाये जाने के कारण से क्रोध में भरे हुए हैं और कर्ण और दुःशासन के कहे हुए दुर्वचनों से महाक्रोधित हो रहे हैं । मैंने यह सुना है कि अर्जुन ने धनुष से युद्ध करके महादेव जी को प्रसन्न किया है और महादेव जी ने उसे जानने के लिये किरात-रूप धरकर उससे युद्ध किया है ॥१।५॥

और यह भी सुना है कि अर्जुन अस्त्र मिलने के लिये तपस्या करने को गया था वहां उसको लोक-पालों ने अपने दर्शन दिये । सो सिवाय अर्जुन के इन साक्षात् ईश्वरों का दर्शन इस संसार में दूसरा कौन कर सकता है । भगवान् शङ्कर जिसे संग्राम में निर्बल नहीं कर सके उसे संग्राम में हरानेवाला

यत्र प्रस्फुरमाणोष्ठो भीमः प्राह वचोऽर्थवत् ।
दृष्ट्वा दुर्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ॥ १० ॥
ऊरू भेत्स्यामि ते पाप ! गदया भीमवेगया ।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ॥ ११ ॥
सर्वे प्रहरतां श्रेष्ठाः सर्वे चाऽमिततेजसः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसो देवैरपि सुदुर्जयाः ॥ १२ ॥
मन्ये मन्युसमुद्भूताः पुत्राणां तव संयुगे ।
अन्तं पार्थाः करिष्यन्ति भार्यामर्षसमन्विताः ॥ १३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— किं कृतं सूत ! कर्णेन वदता परुषं वचः ।
पर्याप्तं वैरमेतावद्यत्कृष्णा सा सभां गता ॥ १४ ॥
अपीदानीं मम सुतास्तिष्ठेरन्मन्दचेतसः ।
येषां भ्राता गुरुर्ज्येष्ठो विनये नाऽवतिष्ठते ॥ १५ ॥
ममापि वचनं सूत ! न शुश्रूषति मन्दभाक् ।
दृष्ट्वा मां चक्षुषा हीनं निर्विचेष्टमचेतसम् ॥ १६ ॥
ये चाऽस्य सचिवा मन्दा कर्णसौबलकादयः ।
ते तस्य भूयसो दोषान्वर्धयन्ति विचेतसः ॥ १७ ॥
स्वैरमुक्ता ह्यपि शराः पार्थेनाऽमिततेजसा ।

और कौन संसार में होगा ? सभा में द्रौपदी को लाकर पाण्डवों का कोप बढ़ाने से ही यह घोर अनर्थ उपस्थित हो गया है ॥६।९॥

आप जानते हैं कि जिस समय दुर्योधन ने अपनी जाँघें द्रौपदी को दिखाई थीं उस समय भीमसेन ने जिसके होंठ क्रोध से फड़क रहे थे यह कहा था कि तेरह वर्ष व्यतीत हो जाने पर मैं तेरी दोनों जाँघों को युद्ध में गदा से तोड़ूँगा। हे महाराज ! सभी पाण्डव बड़े बलवान् और श्रेष्ठ योद्धा हैं यहाँ तक कि देवता भी युद्ध करके उन्हें नहीं हरा सकते। अपनी धर्मपत्नी के अपमान के कारण से क्रोधित होकर वे लोग निश्चय आपके पुत्रों को मार डालेंगे ॥१०।१३॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे सूत ! केवल कर्ण के कठोर वचनों से कुछ नहीं हुआ। द्रौपदी को सबके सामने सभा में खींच लाने से ही यह भयङ्कर शत्रुता उत्पन्न हुई है। हे सञ्जय ! जिनका गुरु बड़ा भाई दुर्योधन स्वयं विनयविहीन है वे मेरे मौ पुत्र अभी तक जीते-जागते हैं, यही मुझे आश्चर्य जान पड़ता है। वह मुझे अन्धा, अज्ञानी और अचेतन जानकर किसी तरह मेरी बात को नहीं सुनता है। कर्ण, शकुनि आदि दुष्ट मन्त्री सदा उस निर्बुद्धि के अवगुणों को और बढ़ाते रहते हैं। महावीर अर्जुन

निर्दहेयुर्मम सुतान्किं पुनर्मन्युनेरिताः ॥ १८ ॥
पार्थबाहुबलोत्सृष्टा महाचापविनिःसृताः ।
दिव्यास्त्रमन्त्रमुदिताः सादयेयुः सुरानपि ॥ १९ ॥
यस्य मन्त्री च गोप्ता च सुहृच्चैव जनार्दनः ।
हरिस्त्रैलोक्यनाथः स किं नु तस्य न निर्जितम् ॥ २० ॥
इदं हि सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह सञ्जय ! ।
महादेवेन बाहुभ्यां यत्समेत इति श्रुतिः ॥ २१ ॥
प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत्कृतं पुरा ।
फाल्गुनेन सहायार्थे वह्नेर्दामोदरेण च ॥ २२ ॥
सर्वथा न हि मे पुत्राः सहामात्याः ससौबलाः ।
क्रुद्धे पार्थे च भीमे च वासुदेवे च सात्वते ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रखेदे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

सहज ही बाण चलाकर मेरे पुत्रों को यमलोक भेज सकता है। वही अर्जुन जब क्रोधान्ध होकर युद्धभूमि में खड़ा होगा और प्रबल वेग से बाण बरसावेगा तब न जाने क्या अनर्थ हो जायगा, क्योंकि दिव्य मन्त्रों से अभिमन्त्रित और अर्जुन के हाथों से बड़े वेग से छूटे हुए नाराच बाण जब चलेंगे तब देवता भी उनसे न बच सकेंगे। इसके सिवाय जिसका मन्त्री, रक्षक और सुहृद तीनों लोकों का स्वामी कृष्ण जैसा हो वह क्या नहीं जीत सकता है ॥१४।२०॥

हे सञ्जय! अर्जुन की यही एक बात आश्चर्य की है कि उसने भुजाओं के बल से महादेव जी के साथ युद्ध किया और उनको प्रसन्न कर लिया। इससे पहले अग्नि की सहायता करने के लिये श्रीकृष्ण और अर्जुन जो कुछ कर चुके हैं वह किसी से छिपा नहीं है। इसलिये हे सञ्जय! सब बातों पर विचार करके देखने से मुझे जान पड़ता है कि भीमसेन, अर्जुन अथवा वासुदेव कुपित होकर युद्धभूमि में उतर आवेंगे तो मेरे पुत्र, मन्त्री, शकुनि आदि कोई जीत न सकेगा ॥२१।२३॥

वनपर्व का उञ्चासवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

जनमेजय उवाच-यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने ! ।
प्रव्राज्य पाण्डवान्वीरान्सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ १ ॥
कथं च राजपुत्रं तमुपेक्षतोऽल्पचेतसम् ।
दुर्योधनं पाण्डुपुत्रान्कोपयानं महारथान् ॥ २ ॥

किमासीत्पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम् ।
वानेयमथवा कृष्टमेतदाख्यातु नो भवान् ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच वानेयं च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान् ।
ब्राह्मणानां निवेद्याऽग्रमभुञ्जन्पुरुषर्षभाः ॥ ४ ॥
तांस्तु शूरान्महेष्वासांस्तदा निवसतो वने ।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन्! साग्नयोऽनग्नयस्तथा ॥ ५ ॥
ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
दश मोक्षविदां तत्र यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
रुरून्कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चाऽन्यान्वनेचरान् ।
बाणैरुन्मथ्य विविधैर्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ७ ॥
न तत्र कश्चिद्दुर्वर्णो व्याधितो वाऽपि दृश्यते ।
कृशो वा दुर्बलो वाऽपि दीनो भीतोऽपि वा पुनः ॥ ८ ॥
पुत्रानिव प्रियान्भ्रातॄञ्ज्ञातीनिव सहोदरान् ।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
पतींश्च द्रौपदी सर्वान्द्विजातींश्च यशस्विनी ।
मातृवद्भोजयित्वाऽग्रे शिष्टमाहारयत्तदा ॥ १० ॥

पचासवां अध्याय ॥ ५० ॥

यह सुनकर जनमेजय कहने लगे—हे महाराज! महावीर पाण्डवों को वन में भेजकर राजा धृतराष्ट्र का यों सोच करना बिलकुल निरर्थक था। जब नीच-प्रकृति दुर्योधन महारथी पाण्डवों पर अत्याचार करके उनके क्रोध की आग को भड़का रहा था तब धृतराष्ट्र ने क्यों नहीं उसका कुछ उपाय किया? दुर्योधन को ऐसा करने से क्यों नहीं रोका गया? अब आप यह बतलाइए कि महात्मा पाण्डव वन में क्या पदार्थ खाकर रहते थे, वन के फल-मूल खाते थे अथवा खेतों में उत्पन्न हुआ अन्न आदि भोजन करते थे। वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! महात्मा पाण्डव विशुद्ध बाण से मारे गये मृगों के मांस और फल-मूल आदि जङ्गली वस्तुएँ पहले अपने आश्रित ब्राह्मणों को खिलाकर फिर आप भोजन करते थे ॥१।४॥

उनके साथ में इसी कारण से सन्यासी और गृहस्थी ब्राह्मण रहा करते थे। महाराज युधिष्ठिर बाणों से रुरु और कृष्णसार आदि विशुद्ध वन के मृगों और अन्य जन्तुओं को मारकर हजारों ब्राह्मणों, महात्मा स्नातकों और दस मोक्षतत्त्व के ज्ञाता ब्राह्मणों का पालन पोषण करते थे। जहां युधिष्ठिर रहते थे वहां कोई विवर्ण, रोगी, दुबला, दीन या डरा हुआ नहीं देख पड़ता था ॥५।८॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो यमौ प्रतीचीमथ वाऽप्युदीचीम् ।
धनुर्धरा मांसहेतोर्मृगाणां क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ॥ ११ ॥
तथा तेषां वसतां काम्यके वै विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम् ।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयुरधीयतां जपतां जुह्वतां च ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों को पुत्र के समान और जातिवालों को सगे भाई के समान पालते थे। और यशस्विनी द्रौपदी अपने पतियों और ब्राह्मणों को माता की तरह भोजन कराकर पीछे आप भोजन करती थीं। युधिष्ठिर पूर्व दिशा में, भीमसेन दक्षिण दिशाओं में और नकुल और सहदेव पश्चिम और उत्तर दिशा में नित्य जाकर मृग मारकर लाते थे। इस प्रकार से उन अर्जुन के बिना चारों पाण्डवों के वेद-पाठ, जप और होम करते हुए उस काम्यक वन में पांच वर्ष व्यतीत हुए ॥९।१२॥

वनपर्व का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

अथ एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन उवाच-तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम् ।
चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाऽभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
अब्रवीत्सञ्जयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभ ! ॥ २ ॥
न रात्रौ न दिवा सूत ! शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम् ।
संचिन्त्य दुर्नयं घोरमतीतं द्यूतजं हि तत् ॥ ३ ॥
तेषामसह्यवीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम् ।
अन्योन्यमनुरागं च भ्रातॄणामतिमानुषम् ॥ ४ ॥
देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती ।

इक्यावनवां अध्याय ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों के अद्भुत चरित्र को सुनकर जिसको मनुष्य नहीं कर सकता है शोक और चिन्ता से दुःखी हुआ और सञ्जय को बुलाकर कहने लगा—हे सञ्जय ! जुए की अनीति और पाण्डवों की शूरता, धैर्य और आपस में परस्पर प्रीति के होने को मैं दिन-रात सोचा करता हूँ। उस सोच में मेरा चित्त एक क्षणभर भी चैन से नहीं रहता है ॥१।४॥

जिस समय दोनों भाई नकुल और सहदेव जो सिंह के समान पराक्रमी, अश्विनीकुमारों के समान दुःसह देवपुत्र, महाभाग, देवराज से तेजस्वी, दृढ़-आयुध, शीघ्र बाण चलानेवाले और क्रोधी हैं भीमसेन

नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥
दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ६ ॥
भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि ।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ॥ ७ ॥
निःशेषमिह पश्यामि मम सैन्यस्य सञ्जय ! ।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ॥ ८ ॥
द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ ।
वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ॥ ९ ॥
युधि सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ १० ॥
रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन ! ।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ॥ ११ ॥
तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः ।
शैक्यया* वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ १२ ॥
तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाऽशनेः ।
गदावेगं च भीमस्य नाऽलं सोढुं नराधिपाः ॥ १३ ॥
ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः ।

और अर्जुन को आगे करके युद्ध करेंगे तब मेरी सेना और सामन्तों में से कोई न बचेगा क्योंकि इन दोनों देवपुत्रों के साथ युद्ध करने को उनका प्रतिरथी कोई नहीं है। द्रौपदी के अपमान से उपजा हुआ क्रोध उनके हृदय में सोलहों आने बना हुआ है; इस कारण वे किसी तरह क्षमा नहीं करेंगे। अद्वितीय योद्धा वृष्णिवंश के यादव, महातेजस्वी पाञ्चाल देश के वीर और सत्यसन्ध वासुदेव सदा पाण्डवों के सच्चे सहायक हैं। इसलिये ये सब महावीर युद्धभूमि में आकर मेरे पुत्रों की सेना और सामन्तों को भस्म कर डालेंगे ॥५।१०॥

दुर्योधन आदि हमारी ओर का कोई मनुष्य वृष्णिवंशियों के वेग को नहीं सह सकता है। संग्राम में भीमविक्रम भीमसेन शूरवीरों को मारनेवाली गदा को वेग से चलावेंगे। कौन राजा ऐसा बली है जो भीमसेन की गदा के वेग को और अर्जुन के गाण्डीव धनुष की घोर ध्वनि को सह सकेगा ? हाय, पहले मैंने दुर्योधन के कहे पर चलकर हितचिन्तकों के कहने

* शिक्यस्थया, भूमि भित्वा पाताल प्रवेशन निःसयादन्तरिक्षे एव धृतयेत्यर्थः ।

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो यमौ प्रतीचीमथ वाऽप्युदीचीम् ।
धनुर्धरा मांसहेतोर्मृगाणां क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ॥ ११ ॥
तथा तेषां वसतां काम्यके वै विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम् ।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयुरधीयतां जपतां जुह्वतां च ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों को पुत्र के समान और जातिवालों को सगे भाई के समान पालते थे। और यशस्विनी द्रौपदी अपने पतियों और ब्राह्मणों को माता की तरह भोजन कराकर पीछे आप भोजन करती थीं। युधिष्ठिर पूर्व दिशा में, भीमसेन दक्षिण दिशाओं में और नकुल और सहदेव पश्चिम और उत्तर दिशा में नित्य जाकर मृग मारकर लाते थे। इस प्रकार से उन अर्जुन के बिना चारों पाण्डवों के वेद पाठ, जप और होम करते हुए उस काम्यक वन में पाच वर्ष व्यतीत हुए ॥९।१२॥

वनपर्व का पचासवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

अथ एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन उवाच तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम् ।
चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाऽभिपरिप्लुत. ॥ १ ॥
दीर्घमुष्णं च नि श्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुत ।
अब्रवीत्सञ्जयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभ ! ॥ २ ॥
न रात्रौ न दिवा सूत ! शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम् ।
संचिन्त्य दुर्नयं घोरमतीतं द्यूतजं हि तत् ॥ ३ ॥
तेषामसह्यवीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम् ।
अन्योन्यमनुरागं च भ्रातॄणामतिमानुषम् ॥ ४ ॥
देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती ।

इक्यावनवा अध्याय ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमजय ! राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों के अद्भुत चरित्र को सुनकर जिसको मनुष्य नहीं कर सकता है शोक और चिन्ता से दु खी हुआ और सञ्जय को बुलाकर कहने लगा—हे सञ्जय ! जुए की अनीति और पाण्डवों की शूरता, धैर्य और आपस में परस्पर प्रीति के होने को मैं दिन रात सोचा करता हूँ। उस सोच में मेरा चित्त एक क्षणभर भी चैन मे नहीं रहता है ॥१।४॥

जिस समय दोनों भाई नकुल और सहदेव जो सिंह के समान पराक्रमी, अश्विनीकुमारों के समान दु सह देवपुत्र, महाभाग, देवराज से तेजस्वी, दृढ आयुध, शीघ्र बाण चलानेवाले और क्रोधी हैं भीमसेन

नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥
दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ६ ॥
भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि ।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ॥ ७ ॥
निःशेषमिह पश्यामि मम सैन्यस्य सञ्जय ! ।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ॥ ८ ॥
द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ ।
वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ॥ ९ ॥
युधि सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ १० ॥
रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन ! ।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ॥ ११ ॥
तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः ।
शैक्यया* वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ १२ ॥
तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाऽशनेः ।
गदावेगं च भीमस्य नाऽलं सोढुं नराधिपाः ॥ १३ ॥
ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः ।

और अर्जुन को आगे करके युद्ध करेंगे तब मेरी सेना और सामन्तों में से कोई न बचेगा क्योंकि इन दोनों देवपुत्रों के साथ युद्ध करने को उनका प्रतिरथी कोई नहीं है। द्रौपदी के अपमान से उपजा हुआ क्रोध उनके हृदय में सोरहों आने बना हुआ है; इस कारण वे किसी तरह क्षमा नहीं करेंगे। अद्वितीय योद्धा वृष्णिवंश के यादव, महातेजस्वी पाञ्चाल देश के वीर और सत्यसन्ध वासुदेव सदा पाण्डवों के सच्चे सहायक हैं। इसलिये ये सब महावीर युद्धभूमि में आकर मेरे पुत्रों की सेना और सामन्तों को भस्म कर डालेंगे ॥५।१०॥

दुर्योधन आदि हमारी ओर का कोई मनुष्य वृष्णिवंशियों के वेग को नहीं सह सकता है। संग्राम में भीमविक्रम भीमसेन शूरवीरों को मारनेवाली गदा को वेग से चलावेंगे। कौन राजा ऐसा वीर है जो भीमसेन की गदा के वेग को और अर्जुन के गाण्डीव धनुष की घोर ध्वनि को सह सकेगा ? हाय, पहले मैंने दुर्योधन के कहे पर चलकर हितचिन्तकों के कहने

* निष्कम्पया, भूमिं भित्त्वा पतन्त्या [illegible] इव दृश्यते यदः ।

स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ॥ १४ ॥

सञ्जय उवाच- व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः ।
समर्थेनाऽपि यन्मोहात्पुत्रस्ते न निवारितः ॥ १५ ॥
श्रुत्वा हि निर्जितान्द्यूते पाण्डवान्मधुसूदनः ।
त्वरितः काम्यके पार्थान्समभावयदच्युतः ॥ १६ ॥
द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
विराटो धृष्टकेतुश्च केकयाश्च महारथाः ॥ १७ ॥
तैश्च यत्कथितं राजन् ! दृष्ट्वा पार्थान्पराजितान् ।
चारेण विदितं सर्वं तन्मयाऽऽवेदितं च ते ॥ १८ ॥
समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः ।
सारथ्ये फाल्गुनस्याऽऽजौ तथेत्याह च तान्हरिः ॥ १९ ॥
अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तदा गतान् ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥
या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह ।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा ॥ २१ ॥
यत्र सर्वान्महीपालाञ्छस्त्रतेजोभयार्दितान् ।
सवङ्गाङ्गान्सपौण्ड्रोड्रान्सचोलद्राविडान्ध्रकान् ॥ २२ ॥

पर ध्यान नहीं दिया । अब मुझे उनकी उन्हीं बातों को स्मरण करके पछताना पड़ेगा । यह सुनकर सञ्जय ने कहा—हे महाराज ! आपने यह बड़ी अयोग्य बात की जो अपने पुत्र को समर्थ होने पर भी मोह के कारण से निवारण नहीं किया ॥११।१५॥

देखिए, श्रीकृष्ण जी पाण्डवों को जुए में पराजय सुनकर शीघ्र ही काम्यक वन में आये थे उन्होंने पाण्डवों को धैर्य दिया था और धृष्टद्युम्न, विराट, धृष्टकेतु और केकय आदि राजाओं ने पाण्डवों को हारा हुआ देखकर जो-जो बातें कहीं थीं सब दूतों के द्वारा मुझको मालूम हो गईं और मैंने वह सब बातें आपको भी सुनाई थीं । अर्जुन ने श्रीकृष्ण जी को रणभूमि में अपना सारथी बनाने के लिये कहा था श्रीकृष्ण जी ने वह बात स्वीकार की और पाण्डवों की दशा को देखकर क्रोधित होकर युधिष्ठिर से कहने लगे—॥१६।२०॥

जो तुम लोगों का धन आदि जो दूसरे राजाओं को मिलना दुर्लभ है मैंने उस राजसूय यज्ञ में देखा था जिसमें तुम्हारे शस्त्र के प्रताप के भय से अङ्ग, वङ्ग, पौण्ड्र, औण्ड्र, चोल, द्राविड़, अन्ध्रक, सागर, अनूप, प्रान्तनिवासी, सिंहल, बर्बर, म्लेच्छ, लङ्कानिवासी, पह्लव, दरद, किरात, यवन, शक, हारहूण,

सागरानूपकांश्चैव ये च प्रान्ताभिवासिनः ।
सिंहलान्वर्वरान्म्लेच्छान्ये च लङ्कानिवासिनः ॥ २३ ॥
पश्चिमानि च राष्ट्राणि शतशः सागरान्तिकान् ।
पह्लवान्दरदान्सर्वान्किरातान्यवनाञ्च्छकान् ॥ २४ ॥
हारहूणांश्च चीनांश्च तुपारान्सैन्धवांस्तथा ।
जागुडान्रामठान्मुण्डान्स्त्रीराज्यमथ तङ्गणान् ॥ २५ ॥
केकयान्मालवांश्चैव तथा काश्मीरकानपि ।
अद्राक्षमहमाहूतान्यज्ञे ते परिवेषकान् ॥ २६ ॥
सा ते समृद्धिर्यैरात्ता चपला प्रतिसारिणी ।
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम् ॥ २७ ॥
रामेण सह कौरव्य ! भीमार्जुनयमैस्तथा ।
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाऽऽहुकेन च ॥ २८ ॥
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च ।
दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णं च भारत ! ॥ २९ ॥
दुःशासनं सौबलेयं यश्चाऽन्यः प्रतियोत्स्यते ।
ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन् ॥ ३० ॥
धार्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथैनमब्रवीद्राजा तस्मिन्वीरसमागमे ॥ ३१ ॥

चीन, तुपार, सैन्धव, जागुड़, रामठ, मुण्ड, तङ्गण, केकेय, मालव, काश्मीर, पश्चिम की ओर के और सागर-तट पर रहनेवाले उन देशों के राजा जहां स्त्रियों का राज्य है और अन्य राजा लोग एकत्र हुए हुए थे मैंने देखे थे। जिन नीच मनुष्यों की शिक्षा माननेवालों ने हर लिया है मैं उनको मारकर उस सब धन को अभी जाकर हर लेता हूँ ॥२१।२७॥

मैं बलदेव जी, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, आहुक, शिशुपाल का पुत्र और धृष्टद्युम्न को साथ ले जाकर दुर्योधन, कर्ण दुःशासन, शकुनि आदि लोगों को जो हमारे सन्मुख आवेंगे मारकर, तुम्हारी पहले की, राजलक्ष्मी फिर तुमको अर्पण करूँगा। तुम भाइयों के साथ हस्तिनापुर में रहकर फिर इस समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के अद्वितीय राजा होकर सुख भोगोगे ॥२८।३०॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने धृष्टद्युम्न आदि के सन्मुख श्रीकृष्ण जी से कहा—हे महाराज ! तुमने जो कुछ कहा उसे मैं ठीक मानता हूं। किन्तु तुम मुझसे यह प्रतिज्ञा करो कि इन तेरह वर्षों के व्यतीत हो जाने पर तुम मेरे शत्रुओं को उनके सहायकों और बन्धु-

शृण्वत्स्वेतेषु वीरेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च ।
युधिष्ठिर उवाच-प्रतिगृह्णामि ते वाचमिमां सत्यां जनार्दन ! ॥ ३२ ॥
अमित्रान्मे महाबाहो ! सानुबन्धान्हनिष्यसि ।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव ! ॥ ३३ ॥
प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम् ।
तद्धर्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः ॥ ३४ ॥
धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते समयामासुरञ्जसा ।
केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम् ॥ ३५ ॥
पाञ्चालीं प्राहुरक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः ।
दुर्योधनस्तव क्रोधाद्देवि ! त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ३६ ॥
प्रतिजानीमहे सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि ! ।
ये स्म तेऽक्षजितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा ।
मांसानि तेषां खादन्तो हरिष्यन्ति वृकद्विजाः ॥ ३७ ॥
पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रा गोमायवस्तथा ।
उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैः कृष्टाऽसि सभातले ॥ ३८ ॥
तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि ! गात्राणि पृथिवीतले ।
क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चाऽसकृत् ॥ ३९ ॥
परिक्लिष्टाऽसि यैस्तत्र यैश्चाऽसि समुपेक्षिता ।

बान्धवों सहित मारोगे; क्योंकि मैंने सभा के बीच में सबके सामने तेरह वर्ष वन में रहना अङ्गीकार कर लिया है। इसलिये अवधि से पहले उन्हें मारना किसी तरह उचित नहीं। धृष्टद्युम्न आदि सभा के बैठनेवालों ने यह बात स्वीकार कर ली और समय के अनुकूल मीठी-मीठी बातें कहकर श्रीकृष्ण जी के क्रोध को शान्त किया ॥३१।३५॥

फिर धर्मराज युधिष्ठिर ने उन्हीं के सामने द्रौपदी से कहा-हे द्रौपदी ! तुम्हारे क्रोध से ही दुर्योधन मारा जायगा। इसलिये अब तुम शोक मत करो। तुम्हें जुए में जीती गई देखकर जिन्होंने तुम्हारी हँसी की थी उनके शरीर के मांस को भेड़िये और अन्य पक्षी नोच-नोचकर खायँगे और गृद्ध, गीदड़ आदि उनके कटे हुए सिरों को घसीट कर उनका रक्त पियेंगे। हे पाञ्चाली ! सभा के बीच में जिन्होंने तुम्हारे बाल पकड़कर तुमको खींचा है, उन सबको तुम पृथ्वी में पड़े हुए देखोगी और जन्तु उनके शरीर को नोच-नोचकर खायँगे। हे कल्याणी ! सभा में जिन्होंने तुमको क्लेश पहुँचाया है और तुम्हारी उपेक्षा की है उनके सिर काटकर हम पृथ्वी को तर

तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ४० ॥
एवं बहुविधा वाचस्त ऊचुर्भरतर्षभाः ।
सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाऽहतलक्षणाः ॥ ४१ ॥
ते धर्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात् ।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ॥ ४२ ॥
रामश्च कृष्णश्च धनञ्जयश्च प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ ।
माद्रीसुतौ केकयराजपुत्राः पञ्चालपुत्राः सह मत्स्यराज्ञा ॥ ४३ ॥
एतान्सर्वाँल्लोकवीरानजेयान्महात्मनः सानुबन्धान्ससैन्यान् ।
को जीवितार्थी समरेऽभ्युदीयात्क्रुद्धान्सिंहान्केसरिणो यथैव ॥ ४४ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—यन्माब्रवीद्विदुरो द्यूतकाले त्वं पाण्डवाञ्जेष्यसि चेन्नरेन्द्र ! ।
ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो महाभयो भविता शोणितौघः ॥ ४५ ॥
मन्ये तथा तद्भवितेति सूत ! यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम् ।
असंशयं भविता युद्धमेतद्गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ॥ ४६ ॥
इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५१॥

इन्द्रलोकाभिगमनपर्व समाप्तम् ॥

कर देंगे ॥३६।४०॥

हे महाराज ! इन शूरवीरों ने जिनमें वीरता के सब चिह्न मौजूद थे इस प्रकार से बहुत सी बातें कहीं। सो वे सब महारथी तेरह वर्ष व्यतीत होने पर युधिष्ठिर के बुलाये हुए श्रीकृष्ण जी को आगे करके युद्ध के लिये आवेंगे। और उनके साथ बलदेव जी, अर्जुन, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि, भीमसेन, नकुल, सहदेव, केकय द्रुपद के पुत्र और राजा विराट भी होंगे। भला ऐसा कौनसा जीने की इच्छा रखनेवाला होगा जो इन अजेय और क्रुद्ध सिंहरूपी वीरों का सामना करेगा। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—जुआ होने के समय विदुर जी ने मुझसे कहा था कि जो तुम पाण्डवों को जीतोगे निश्चय कौरवों का बड़ा भयानक नाश होगा। हे सञ्जय ! सो अब मुझे अच्छी तरह जान पड़ता है कि समय के आने पर पाण्डवों से अवश्य युद्ध होगा और जो कुछ विदुर जी ने मुझसे कहा था वह सब सत्य होगा ॥४१।४६॥

वनपर्व का इक्यावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

अथ नलोपाख्यानपर्व ॥ अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

जनमेजय उवाच—अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
न्यवसन्कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः ॥ २ ॥
ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले ।
दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया ॥ ३ ॥
धनञ्जयं शोचमाना साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः ।
तद्वियोगार्दितान्सर्वाञ्छोकः समभिपुप्लुवे ॥ ४ ॥
धनञ्जयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः ।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥
निदेशात्ते महाराज ! गतोऽसौ भरतर्षभ ।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन्प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ ६ ॥
यस्मिन्विनष्टे पञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न संशयः ॥ ७ ॥
योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून्क्लेशान्विचिन्तयन् ।
भवन्नियोगाद्वीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ८ ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ ९ ॥
यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मतः ।

बावनवां अध्याय ॥ ५२ ॥

इतनी कथा सुनकर राजा जनमेजय ने कहा—हे महाराज ! अर्जुन के स्वर्ग में चले जाने पर युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने क्या किया ? वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! अर्जुन के स्वर्गलोक को जाने पर पाण्डव द्रौपदी सहित काम्यक वन में रहने लगे। एक समय वे चारों भाई द्रौपदी सहित किसी एकान्त स्थान पर बैठकर अर्जुन के वियोग के दुःख से गद्गद् होकर और राज्य के भ्रष्ट होने से दुःखी होकर महाशोक करने लगे। उसी समय अर्जुन के वियोग से व्याकुल महाबाहु भीमसेन ने युधिष्ठिर से कहा ॥१।५॥

हम पाण्डव लोग जिसके सहारे पर जीते हैं, जिसके नष्ट होने पर पाञ्चाल देश के राजा और राजकुमार, सात्यकि, वासुदेव और हम सब नष्ट हो जायँगे, जिसके बाहुबल के भरोसे हम लोग समर में शत्रुओं को हराया हुआ और पृथ्वी को अपने हाथ में आई हुई समझते हैं, जिसके प्रभाव से मैंने उस सभा के बीच में शकुनि और दुर्योधन आदि को मारकर यमलोक नहीं भेज दिया, वही अर्जुन आपकी आज्ञा से इन्द्रलोक को गया है। हाय, इससे और क्या अधिक दुःख होगा कि वह धर्मात्मा अर्जुन आपकी

नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः ॥ १० ॥
ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ॥ ११ ॥
वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान्परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ॥ १२ ॥
भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः ॥ १३ ॥
क्षात्रं धर्मं महाराज ! त्वमवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज ! क्षत्रियस्य वनाश्रयः ॥ १४ ॥
राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
स क्षत्रधर्मविद्राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः ॥ १५ ॥
प्राग्द्वादशसमा राजन् ! धार्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
निवर्त्य च वनात्पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ॥ १६ ॥
व्यूढानीकान्महाराज ! जवेनैव महामते ! ।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशांपते ! ॥ १७ ॥
सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान्ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वाऽन्यः प्रतियोत्स्यसे ॥ १८ ॥

आज्ञा मे बहुत से क्लेश उठा रहा है ॥९।१०॥

हे राजन्! हम लोग भुजाबल रखने और वासुदेव जी से रक्षित होने भी पर अपने क्रोध को सह रहे हैं। आप ही इस क्रोध की जड़ हैं। निस्सन्देह हम लोग श्रीकृष्ण जी को साथ लेकर कर्ण आदि सब शत्रुओं को मारकर अपनी भुजा के बल से पृथ्वी को जीतकर राज्यशासन कर सकते हैं। परन्तु क्या करें बलहीन तो हम नहीं हैं केवल आपके जुए के दोष में हम सब डूब रहे हैं और दुर्योधन आदि हमारे शत्रु धन पाकर बलवान् हो गये हैं। सो हे महाराज! वनवास करना क्षत्रियों का धर्म नहीं है। बुद्धिमानों ने राज्य करना ही क्षत्रियों का एकमात्र धर्म बतलाया है। इस कारण शत्रुओं से राज्य लेकर क्षत्रिय-धर्म का पालन करना ही आपका कर्त्तव्य है। आप जान-बूझकर भी धर्म के मार्ग से न हटिये ॥११।१५॥

चलिए, हम अर्जुन को लौटाकर और श्रीकृष्ण को लाकर बारह वर्ष बीतने के पहले ही दुर्योधन आदि का नाश कर डालें। मैं अकेला ही सेना सहित दुर्योधन आदि को, कर्ण, शकुनि और अन्य जो कोई हमारे शत्रुपक्ष की सहायता करे उसको, सबको बलपूर्वक नष्ट कर डालूंगा। आप निष्कण्टक होकर फिर चाहे वन में आकर रहिए। हे महाराज!

वैशम्पायन उवाच अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
न्यवसन्कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभा ॥ २ ॥
तत कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले ।
दु खार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदु सह कृष्णया ॥ ३ ॥
धनञ्जय शोचमाना साश्रुकण्ठा सुदु खिता ।
तद्वियोगार्दितान्सर्वाञ्छोक समभिपुप्लुवे ॥ ४ ॥
धनञ्जयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दु खिता ।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥
निदेशात्ते महाराज ! गतोऽसौ भरतर्षभ ।
अर्जुन पाण्डुपुत्राणां यस्मिन्प्राणा प्रतिष्ठिता ॥ ६ ॥
यस्मिन्विनष्टे पञ्चाला सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न सशय ॥ ७ ॥
योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून्क्लेशान्विचिन्तयन् ।
भवन्नियोगाद्बीभत्सुस्ततो दु खतर नु किम् ॥ ८ ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वय सर्वे महात्मन ।
मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्ता च मेदिनीम् ॥ ९ ॥
यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मत ।

बावनवा अध्याय । ५२ ॥

इतनी कथा सुनकर राजा जनमेजय ने कहा— हे महाराज ! अर्जुन के स्वर्ग में चले जाने पर युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने क्या किया ? वैशम्पायन ने कहा हे जनमेजय ! अर्जुन के स्वर्गलोक को जाने पर पाण्डव द्रौपदी सहित काम्यक वन में रहने लगे। एक समय वे चारों भाई द्रौपदी सहित किसी एकान्त स्थान पर बैठकर अर्जुन के वियोग के दु ख से गद्गद् होकर और राज्य के भ्रष्ट होने से दु खी होकर महाशोच करने लगे। उसी समय अर्जुन के वियोग से व्याकुल महाबाहु भीमसेन ने युधिष्ठिर से कहा ॥१।८॥

हम पाण्डव लोग जिसके सहारे पर जीते हैं, जिसके नष्ट होने पर पाञ्चाल देश के राजा और राजकुमार सात्यकि वासुदेव और हम सब नष्ट हो जायँगे जिसके बाहुबल के भरोसे हम लोग समर में शत्रुओं को हराया हुआ और पृथ्वी को अपने हाथ में आई हुई समझते है, जिसके प्रभाव से मैंने उस सभा के बीच में शकुनि और दुर्योधन आदि को मारकर यमलोक नहीं भेज दिया, वही अर्जुन आपकी आज्ञा से इन्द्रलोक को गया है । हाय इससे और क्या अधिक दु ख होगा कि वह धर्मात्मा अर्जुन आपकी

नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः ॥ १० ॥
ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ॥ ११ ॥
वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान्परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ॥ १२ ॥
भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः ॥ १३ ॥
क्षात्रं धर्मं महाराज ! त्वमवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज ! क्षत्रियस्य वनाश्रयः ॥ १४ ॥
राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
स क्षत्रधर्मविद्राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः ॥ १५ ॥
प्राग्द्वादशसमा राजन् ! धार्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
निवर्त्य च वनात्पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ॥ १६ ॥
व्यूढानीकान्महाराज ! जवेनैव महामते ! ।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशांपते ! ॥ १७ ॥
सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान्ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वाऽन्यः प्रतियोत्स्यसे ॥ १८ ॥

आज्ञा मे बहुत से क्लेश उठा रहा है ॥९।१०॥

हे राजन्! हम लोग भुजाबल रखने और वासुदेव जी से रक्षित होने भी पर अपने क्रोध को सह रहे हैं। आप ही इस क्रोध की जड़ हैं। निस्सन्देह हम लोग श्रीकृष्ण जी को साथ लेकर कर्ण आदि सब शत्रुओं को मारकर अपनी भुजा के बल से पृथ्वी को जीतकर राज्यशासन कर सकते हैं। परन्तु क्या करें बलहीन तो हम नहीं हैं केवल आपके जुए के दोष से हम सब डूब रहे हैं और दुर्योधन आदि हमारे शत्रु धन पाकर बलवान् हो गये हैं। सो हे महाराज! वनवास करना क्षत्रियों का धर्म नहीं है। बुद्धिमानों ने राज्य करना ही क्षत्रियों का एकमात्र धर्म बतलाया है। इस कारण शत्रुओं से राज्य लेकर क्षत्रिय-धर्म का पालन करना ही आपका कर्त्तव्य है। आप जान-बूझकर भी धर्म के मार्ग से न हटिये ॥११।१५॥

चलिए, हम अर्जुन को लौटाकर और श्रीकृष्ण को लाकर बारह वर्ष बीतने के पहले ही दुर्योधन आदि का नाश कर डालें। मैं अकेला ही सेना सहित दुर्योधन आदि को, कर्ण, शकुनि और अन्य जो कोई हमारे शत्रुपक्ष की सहायता करे उसको, सबको बलपूर्वक नष्ट कर डालूंगा। आप निष्कण्टक होकर फिर चाहे वन में आकर रहिए। हे महाराज!

मया प्रशमिते पश्चात्त्वमेष्यसि वनं पुनः ।
एवं कृते न ते दोषा भविष्यन्ति विशांपते ! ॥ १९ ॥
यज्ञैश्च विविधैस्तात ! कृतं पापमरिन्दम ! ।
अवधूय महाराज ! गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ॥ २० ॥
एवमेतद्भवेद्राजन् ! यदि राजा न बालिशः ।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद्भवान्धर्मपरायणः ॥ २१ ॥
निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥ २२ ॥
तथा भारत ! धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते ।
अहोरात्रं महाराज ! तुल्यं संवत्सरेण ह ॥ २३ ॥
तथैव वेदवचनं श्रूयते नित्यदा विभो ! ।
संवत्सरो महाराज ! पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ॥ २४ ॥
यदि वेदाः प्रमाणास्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत ! ।
त्रयोदशसमाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥ २५ ॥
कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिन्दम ! ।
एकाग्रं पृथिवीं सर्वां पुरा राजन् ! करोति सः ॥ २६ ॥
द्यूतप्रियेण राजेन्द्र ! तथा तद्भवता कृतम् ।
प्रायेणाऽज्ञातचर्यायां वयं सर्वे निपातिताः ॥ २७ ॥

ऐसा करने से हम कभी दोषभागी नहीं हो सकते । नाना प्रकार के यज्ञ करके हम इस पाप का प्रायश्चित्त कर डालेंगे । तब हम अवश्य ही परम पवित्र स्वर्ग-लोक के अधिकारी होंगे ॥१९।२०॥

आप यदि बालकों की तरह वृथा हठ न करें, धर्मपरायण न हों और प्रत्येक काम में विलम्ब न करें तो ऐसा हो सकता है । छली को छल से मारने में कोई दोष नहीं है । धर्मज्ञ लोग इसको ठीक बतलाते हैं । वेद का प्रमाण है कि एक वर्ष एक दिन-रात के तुल्य है । हम लोगों को तेरह वर्ष अत्यन्त क्लेश से बिताने होंगे । यदि इस वेद-वाक्य को आप प्रामाणिक मानें तो और एक दिन बीतने पर हमारे वनवास के तेरह वर्ष पूरे हो जायँगे और बन्धु-बान्धव सहित दुर्योधन को मारने का समय आ जायगा ॥२१।२५॥

आपने जुए के व्यसन में आकर अपना बहुत अनिष्ट कर डाला है । एक वर्ष छिपकर रहना और भी कठिन है । मुझे ऐसा कोई स्थान नहीं देख पड़ता जहाँ पापी दुर्योधन के जासूस हमारा पता न लगा सकें । यदि वह इस वर्ष में हमारा पता लगा लेगा

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र सोऽस्मान्सुदुर्जनः ।
न विज्ञास्यति दुष्टात्मा चारैरिति सुयोधनः ॥ २८ ॥
अधिगम्य च सर्वान्नो वनवासमिमं ततः ।
प्रव्राजयिष्यति पुनर्निकृत्याऽधमपूरुषः ॥ २९ ॥
यद्यस्मानभिगच्छेत पापः स हि कथंचन ।
अज्ञातचर्यामुत्तीर्णान्दृष्ट्वा च पुनराह्वयेत् ॥ ३० ॥
द्यूतेन ते महाराज ! पुनर्द्यूतमवर्तत ।
भवांश्च पुनराहूतो द्यूते नैवाऽपनेष्यति ॥ ३१ ॥
स तथाऽक्षेषु कुशलोऽनिश्चितो गतचेतनः ।
चरिष्यसि महाराज ! वनेषु वसतीः पुनः ॥ ३२ ॥
यद्यस्मान्सुमहाराज ! कृपणान्कर्तुमर्हसि ।
यावज्जीवमवेक्षस्व वेदधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥ ३३ ॥
निकृत्या निकृतिप्रज्ञो हन्तव्य इति निश्चयः ।
अनुज्ञातस्त्वया गत्वा यावच्छक्ति सुयोधनम् ॥ ३४ ॥
यथैव कक्षमुत्सृष्टो दहेदनिलसारथिः ।
हनिष्यामि तथा मन्दमनुजानातु मे भवान् ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच सान्त्वयन्राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ॥ ३६ ॥
असंशयं महाबाहो ! हनिष्यसि सुयोधनम् ।

तो फिर हमें बारह वर्ष के लिये वन को भेज देगा। और जो कदाचित् हम लोग ऐसे स्थान में रहें भी जहां वह दुष्ट हमारा पता न पा सके तो भी यह डर है कि उस अज्ञातचर्या के बीतने पर फिर वह आपको जुआ खेलने को बुलावे ॥२६।३०॥

मैं कह सकता हूँ कि बुलाये जाने पर आप अवश्य जुआ खेलने जायँगे और जुए में फँसकर फिर वनवास के कष्ट उठावेंगे। हे धर्मराज युधिष्ठिर! हम लोगों को यदि आप सुखी रखना चाहते हैं तो मेरे बतलाये वेदविहित धर्म का पालन कीजिए। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि छली को तो छल से ही मारना उचित है। आप मुझको आज्ञा दीजिए मैं अपनी शक्ति के अनुसार आपकी आज्ञा पाकर इस प्रकार से दुर्योधन को मारूँगा जैसे वायु से उड़ी हुई चिनगारी तृण के ढेर को भस्म कर देती है॥३१।३५॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! भीमसेन

वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥ ३७ ॥
यत्त्वमाभाषसे पार्थ ! प्राप्तः काल इति प्रभो ! ।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मम विद्यते ॥ ३८ ॥
अन्तरेणाऽपि कौन्तेय ! निकृतिं पापनिश्चयम् ।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष ! सानुबन्धं सुयोधनम् ॥ ३९ ॥
एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥ ४० ॥
तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा संप्राप्तं धर्मचारिणम् ।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ॥ ४१ ॥
आश्वस्तं चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ॥ ४२ ॥
अक्षद्यूते च भगवन् ! धनं राज्यं च मे हृतम् ।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥ ४३ ॥
अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः ।
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ४४ ॥

के यों कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने स्नेहपूर्वक उसका माथा सूँघा और उन्हें शान्त करते हुए कहा—हे वीर ! तेरह वर्ष बीत चुकने पर तुम अर्जुन के साथ युद्ध-भूमि में जाकर दुर्योधन को और उसके साथियों को मारना। किन्तु तुम जो कहते हो कि समय आ गया है, मैं पापी दुर्योधन को अभी बन्धु-बान्धवों सहित नष्ट करूँगा, सो मैं इस मिथ्या वाक्य को सुनकर ऐसा करने के लिये तुमको उत्साहित नहीं कर सकता कपट का आचरण मेरे मन में स्थान नहीं पा सकता; क्योंकि तुम बिना ही कपट का बर्ताव किये दुर्योधन को बन्धु-बान्धवों समेत मार लोगे। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसी अवसर में महर्षि बृहदश्व वहाँ आ गये ॥३६।४०॥

उनको आया हुआ देखकर युधिष्ठिर ने शास्त्र की विधि के अनुसार अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क आदि अर्पण कर उनकी पूजा की। थकान मिट जाने पर जब वे सुख से बैठ गये तब युधिष्ठिर ने दीनता से उनसे कहा हे भगवन् ! जुए के खेल को मैं बिलकुल नहीं जानता। इसी कारण उन छली, पापी, जुआरी, मनुष्यों ने कपट के विचार से मुझे जुआ खेलने के लिये बुलाया। उस खेल में उन्होंने मेरा सब राज्य और धन हर लिया है और प्राणों से भी अधिक प्यारी मेरी धर्मपत्नी द्रौपदी को सभा में बुलवाया। उन्होंने मेरे शरीर को भी जुए में जीत लिया, और हमें मृगचर्म पहनाकर घोर वन में रहने के लिये यहाँ भेज दिया है। उन दुरात्माओं ने सभा के बीच में जो कठोर

पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम् ।
प्राव्राजयन्महारण्यमजिनैः परिवारितम् ॥ ४५ ॥
अहं वने दुर्वसतीर्वसन्परमदुःखितः ।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन्सुदारुणाः ॥ ४६ ॥
आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् ।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥ ४७ ॥
यस्मिंश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि ।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाऽभवम् ॥ ४८ ॥
कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम् ।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितम् ॥ ४९ ॥
अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित् ।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥ ५० ॥
बृहदश्व उवाच—यद्ब्रवीषि महाराज ! न मत्तो विद्यते क्वचित् ।
अल्पभाग्यतरः कश्चित्पुमानस्तीति पाण्डव ! ॥ ५१ ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ ! ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत्पृथिवीपते ! ॥ ५२ ॥

वचन कहे और हमारे सुहृदों ने शोकाकुल होकर जुआ खेलने के पहले समझाते हुए जो वाक्य कहे थे, सो सब अभी तक स्मरण कर-करके नित्य मैं चिन्ता किया करता हूँ ॥४१।४५॥

इस अवस्था में इस असह्य वनवास का दुःख दूना हो उठता है। विशेषकर अर्जुन के न होने के कारण जिसके आश्रय हम सब के प्राण हैं मैं निर्जीव के समान रहता हूँ। रात्रि को मुझे निद्रा नहीं आती। आप कृपा करके बतलाइए कि वे महापराक्रमी, प्रियवादी अर्जुन अस्त्र विद्या सीख करके फिर यहाँ कब आवेंगे। इस पृथ्वी पर मेरे समान अभागा क्या कोई और राजा भी आपने देखा या सुना है? मुझे जान पड़ता है कि मुझसे बढ़कर अभागा और कोई नहीं है ॥४६।५०॥

यह सुनकर बृहदश्व जी ने कहा-हे युधिष्ठिर! आप जो यह कह रहे हैं कि मेरे समान अभागा और कोई नहीं हुआ सो ठीक नहीं है। आपसे भी बढ़कर अभागे और कष्ट उठानेवाले राजा का हाल मुझे मालूम है। यदि आप सुनना चाहें तो सुनाऊँ। वैशम्पायन कहते हैं कि तब युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज! कहिए; मैं सुनना चाहता हूं। किस राजा की ऐसी दुर्दशा हो चुकी है? यह सुनकर बृहदश्व

वैशम्पायन उवाच—अथैनमब्रवीद्राजा ब्रवीतु भगवानिति ।
इमामवस्थां संप्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥ ५३ ॥
बृहदश्व उवाच—शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत ! ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत्पृथिवीपते ! ॥ ५४ ॥
निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः ।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ॥ ५५ ॥
स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम् ।
वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत्सह ॥ ५६ ॥
न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः ।
वने निवसतो राजञ्छिष्यन्ते स्म कदाचन ॥ ५७ ॥
भवान्हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसंमितैः ।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नाऽर्हसि शोचितुम् ॥ ५८ ॥
युधिष्ठिर उवाच—विस्तरेणाऽहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः ।
चरितं वदतां श्रेष्ठ ! तन्ममाऽऽख्यातुमर्हसि ॥ ५९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

बोले—आप भाइयों सहित मन लगाकर इस कथा को सुनिए। निषद देश में वीरसेन नाम का एक राजा रहता था। उसके नल नाम का एक बड़ा पण्डित और धर्मात्मा पुत्र था ॥५१।५५॥

मैंने सुना है कि राजा नल को भी पुष्कर ने कपट से जीत लिया था। उसकी सब राज्य सम्पत्ति छीनकर पुष्कर ने नल को उसकी स्त्री सहित वन भेज दिया था। आप तो देवताओं के तुल्य क्षत्रिय और भाइयों और ब्रह्मतुल्य ब्राह्मणों के साथ वन में रहते हैं, किन्तु उसके साथ दास दासी, भाई या बन्धु बान्धव कोई नहीं था। इस कारण आपको किसी तरह शोक न करना चाहिये। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा— हे महाराज ! मैं विस्तारपूर्वक महात्मा नल का चरित्र सुनना चाहता हूँ, आप वर्णन कीजिए ॥५६।५९॥

वनपर्व का बावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

बृहदश्व उवाच—आसीद्राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली ।
उपपन्नो गुणैरिष्टै रूपवानश्वकोविदः ॥ १ ॥

अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा ।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यो वेदविच्छूरो निषधेषु महीपतिः ।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणीपतिः ॥ ३ ॥
ईप्सितो वरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः ।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ॥ ४ ॥
तथैवाऽऽसीद्विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः ।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाऽप्रजः ॥ ५ ॥
स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत्सुसमाहितः ।
तमभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ! ॥ ६ ॥
तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित् ।
महिष्या सह राजेन्द्र ! सत्कारेण सुवर्चसम् ॥ ७ ॥
तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान्महायशाः ॥ ८ ॥
दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम् ।
उपपन्नान्गुणैः सर्वैर्भीमान्भीमपराक्रमान् ॥ ९ ॥

तिरपनवाँ अध्याय ॥ ५३ ॥

बृहदश्व ने कहा—हे युधिष्ठिर ! राजा वीरसेन का पुत्र नल बड़ा गुणवान्, रूपवान्, और घोड़ों की विद्या का जाननेवाला था। सब राजा लोग उसकी आज्ञा में रहते थे और वह उनके ऊपर इन्द्र के समान शासन करता था। उस राजा का तेज सूर्य के तुल्य था। वह बड़ा ब्राह्मणभक्त, वेदपाठी, शूरवीर, सत्यवादी, अक्षौहिणी का स्वामी, जुए में प्रीति रखनेवाला और निषद देश का नामी अधिपति था। श्रेष्ठ स्त्रियाँ उसे चाहा करती थीं और वह उदारता जितेन्द्रियता और रक्षा करना आदि गुणों से सम्पन्न बड़ा धनुर्धारी और साक्षात् मनु जी के समान था॥१।४॥

इसी प्रकार से विदर्भ देश में भीम नामी बड़ा पराक्रमी और गुणवान् एक राजा था। इस राजा के कोई सन्तान न थी और वह सन्तान चाहता था। उसने सन्तान होने के लिये बहुत से यत्न किये। एक समय उस राजा के पास दमन नाम एक ब्रह्मऋषि आये। राजा ने अपनी रानी सहित उस ब्रह्मऋषि का बड़ा आदर सत्कार किया और उनको प्रसन्न किया। तब उस ब्रह्मऋषि ने राजा को दमयन्ती नाम एक कन्या और दम, दान्त, और दमन नाम के तीन बड़े पराक्रमी पुत्र होने का वरदान दिया। ॥५।९॥

दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येन च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ॥ १० ॥
अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलंकृतम् ।
शतं शतं सखीनां च पर्युपासच्छचीमिव ॥ ११ ॥
तत्र स्म राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामनी यथा ॥ १२ ॥
अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवाऽऽयतलोचना ।
न देवेषु न यक्षेषु तादृग्रूपवती क्वचित् ॥ १३ ॥
मानुषेष्वपि चाऽन्येषु दृष्टपूर्वाऽथवा श्रुता ।
चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ॥ १४ ॥
नलश्च नरशार्दूलो लोकेष्वप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिवानभवत्स्वयम् ॥ १५ ॥
तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ॥ १६ ॥
तयोरदृष्ट कामोऽभूच्छृण्वतोः सततं गुणान् ।
अन्योन्यं प्रति कौन्तेय ! स व्यवर्धत हृच्छयः ॥ १७ ॥
अशक्नुवन्नलः कामं तदा धारयितुं हृदा ।

वह दमयन्ती कन्या अपने स्वरूप, तेज, यश, शोभा और सौभाग्य के कारण से इस लोक में विख्यात हो गई । जब वह कन्या युवा अवस्था को प्राप्त हुई तब उसकी सेवा के लिये सौ दासी नियुक्त कर दी गई और उसकी सेवा इन्द्राणी के समान होने लगी। इस प्रकार अनेक वस्त्र आभूषण पहने, सर्वाङ्गसुन्दरी, भीमनरेश की कन्या सखियों के साथ मेघमाला के बीच में चमकती हुई बिजली की तरह शोभित होने लगी । वह विशाल नेत्रोंवाली कन्या लक्ष्मी के समान अत्यन्त सुन्दरी थी । क्या देवलोक में, क्या यक्षों में, क्या मनुष्यों में और क्या अन्य किसी लोक में, कहीं वैसा रूप नहीं देख पड़ता था । दमयन्ती को देख लेने से मन को बड़ा आनन्द प्राप्त होता था । अधिक क्या कहें, देवता भी उस राजकुमारी को परमसुन्दरी समझते थे। उधर मनुष्यलोक में नल के समान कोई सुन्दर पुरुष न था। उसका रूप देखने से लोगों को भ्रम हो जाता था कि वह शरीरधारी कामदेव ही है ॥१०।१५॥

सभी लोग कौतूहलवश नल की प्रशंसा दमयन्ती के आगे और दमयन्ती की प्रशंसा नल के आगे आ-आकर किया करते थे । इस कारण से एक दूसरे को बिना देखे उन दोनों के हृदय में परस्पर प्रीति

अन्तःपुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ॥ १८ ॥
स ददर्श ततो हंसाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ॥ १९ ॥
ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा ।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन्! करिष्यामि तव प्रियम्॥ २०॥
दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध! ।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः ।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ॥ २२ ॥
विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदाऽन्तिके ।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्श च तान्खगान् ॥ २३ ॥
सा तानद्भुतरूपान्वै दृष्ट्वा सखिगणावृता ।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ॥ २४ ॥
अथ हंसा विससृपुः सर्वतः प्रमदावने ।
एकैकशस्तदा कन्यास्तान्हंसान्समुपाद्रवन् ॥ २५ ॥
दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके ।

उत्पन्न हो गई और उन दोनों के हृदय में सोता हुआ काम जगकर प्रति दिन बढ़ने लगा। राजा नल उस कामदेव के वेग को धारण न कर सका और महलों के समीप वन में अकेला रहने लगा। एक समय नल ने उस वन में कुछ हंस देखे जिनके पङ्ख सुनहरी थे। नल ने उनमें से एक हंस को पकड़ लिया। उस समय वह हंस कहने लगा—हे राजन्! आप मुझे मारिएगा नहीं, छोड़ दीजिए। मैं आपका प्रिय कार्य करूँगा अर्थात् दमयन्ती के पास जाकर आपकी सुन्दरता का वर्णन करूँगा जिससे वह आपके सिवाय दूसरे मनुष्य को न चाहे ॥१६।२१॥

यह सुनकर नल ने उस हंस को छोड़ दिया। तब सब हंस एक साथ आकाश-मार्ग में उड़कर विदर्भ देश में पहुचे। कुछ समय के पश्चात् वे सब हंस विदर्भ नगरी में जाकर दमयन्ती के पास पहुंचे। ज्योंही वे उतरे त्योंही दमयन्ती ने उन्हें देख लिया। अपनी सखियों के बीच में खड़ी हुई दमयन्ती हंसों के अत्यन्त अद्भुत रूप को देखकर प्रसन्न हुई और उन्हें पकड़ने के लिये बार-बार चेष्टा करने लगी। उसकी सखियां भी हंसों को पकड़ने की इच्छा से बार-बार उनके पीछे दौड़ने लगीं। वे हंस भी उड़कर उन स्त्रियों के बीच में इधर-उधर भागने लगे॥२२।२५॥

पकड़ने के लिये उत्सुक होकर दमयन्ती जिस हंस के पीछे दौड़ती थी वही हंस मनुष्य की वाणी

स मानुषी गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाऽब्रवीत् ॥ २६ ॥
दमयन्ति ! नलो नाम निषधेषु महीपतिः ।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ॥ २७ ॥
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत्स्वयम् ।
तस्य वै यदि भार्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि ! ॥ २८ ॥
सफलं ते भवेज्जन्म रूपं चेदं सुमध्यमे ! ।
वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान् ॥ २९ ॥
दृष्टवन्तो न चाऽस्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविध ।
त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वर ॥ ३० ॥
विशिष्टया विशिष्टेन सङ्गमो गुणवान्भवेत् ।
एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशांपते ! ॥ ३१ ॥
अब्रवीत्तत्र तं हंसं त्वमप्येवं नले वद ।
तथेत्युक्त्वाऽण्डजः कन्यां विदर्भस्य विशांपते ! ।
पुनरागम्य निषधान्नले सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि हंसदमयन्तीसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

मैं कहता था कि हे दमयन्ती ! निषध देश में एक नल नाम का राजा है । उसका रूप अश्विनीकुमारों के समान है । पृथ्वी पर वैसे रूप लावण्य का होना असम्भव है । हे सुन्दर कमर और सुन्दर रङ्गवाली ! तुम यदि उसकी स्त्री हो सको तो निश्चय देह तुम्हारा जन्म सफल और सुन्दरता सार्थक हो । हे सुन्दरी ! क्योंकि हमने देवता, गन्धर्व, दानव, नाग और मानवों में कहीं ऐसा अपूर्व रूप नहीं देखा न सुना है । तुम भी स्त्रियों में रत्न हो और वह नल भी पुरुषों में श्रेष्ठ है । विवाह और युद्ध दोनों बराबरवालों ही में शोभा देते है । हे राजन् ! यह सुनकर दमयन्ती ने कहा हे हंस ! तुमने नल का वृत्तान्त जिस तरह मुझसे कहा है उसी तरह उनके पास जाकर मेरा वृत्तान्त उनसे कहो । यह सुनकर वे सब हंस वहां से उड़कर राजा नल के पास आये और उससे सब व्यवस्था कह सुनाई ॥२६।३२॥

वनपर्व का तिरपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

अथ चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

बृहदश्व उवाच—दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत ! ।
ततः प्रभृति न स्वस्था नलं प्रति बभूव सा ॥ १ ॥

ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा ।
बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमा तदा ॥ २ ॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना ।
पाण्डुवर्णा क्षणेनाऽथ हृच्छयाविष्टचेतना ॥ ३ ॥
न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
न नक्तं न दिवा शेते हाहेति रुदती पुनः ॥ ४ ॥
तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जज्ञुरिङ्गितैः ।
ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीजनः ॥ ५ ॥
न्यवेदयत्तामस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वरे ।
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीं सखीगणात् ॥ ६ ॥
चिन्तयामास तत्कार्यं सुमहत्स्वां सुतां प्रति ।
किमर्थं दुहिता मेऽद्य नाऽतिस्वस्थेव लक्ष्यते ॥ ७ ॥
स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम् ।
अपश्यदात्मना कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ॥ ८ ॥
स संनिमन्त्रयामास महीपालान्विशांपतिः ।
अनुभूयतामयं वीराः स्वयंवर इति प्रभो ! ॥ ९ ॥
श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
अभिजग्मुस्ततो भीमं राजानो भीमशासनात् ॥ १० ॥

चव्वनवां अध्याय ॥ ५४ ॥

बृहदश्व ने कहा—हे युधिष्ठिर ! हंस के मुख से राजा नल का वृत्तान्त सुनकर दमयन्ती व्याकुल हो गई। वह दिन पर दिन दुबली और मलिन होने लगी। वह सदा बार-बार लम्बी सांसें लिया करती थी। वह ऊपर को दृष्टि किये, ध्यान में मग्न सी, पागल सी देख पड़ती थी। क्षण-क्षण भर पर कामदेव की पीड़ा से पीड़ित होने के कारण उसका शरीर पीला पड़ने लगा। उसे खाना, पीना, उठना, बैठना और अच्छी सेज पर सोना कुछ अच्छा नहीं लगता था। वह दिन रात अकेले में हाय-हाय किया करती थी ॥१।४॥

दमयन्ती की ऐसी दशा और आकार देखकर उसकी सखियों ने उसके मन का भाव जान लिया। उन्होंने उसके पिता राजा भीमके पास जाकर दमयन्ती के नल पर आसक्त होने का हाल कह सुनाया। विदर्भ-नरेश भीम, सखियों के मुख से ऐसा दमयन्ती का हाल सुनकर बहुत ही चिन्तित हुए। वे विचार करने लगे कि अकस्मात् उसे कौनसी व्यथा उत्पन्न हो गई। इसके पश्चात् दमयन्ती को जवान हुई देखकर राजा ने

हस्त्यश्वरथघोषेण पूरयन्तो वसुन्धराम् ।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः ॥ ११ ॥
तेषां भीमो महाबाहुः पार्थिवानां महात्मनाम् ।
यथार्हमकरोत्पूजां तेऽवसंस्तत्र पूजिताः ॥ १२ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु सुराणामृषिसत्तमौ ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ ॥ १३ ॥
नारदः पर्वतश्चैव महाप्राज्ञौ महाव्रतौ ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ ॥ १४ ॥
तावर्चयित्वा मघवा ततः कुशलमव्ययम् ।
पप्रच्छाऽनामयं चापि तयोः सर्वगतं विभुः ॥ १५ ॥
नारद उवाच—आवयोः कुशलं देव ! सर्वत्रगतमीश्वर ! ।
लोके च मघवन् ! कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो ! ॥ १६ ॥
बृहदश्व उवाच—नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा ।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः ॥ १७ ॥
शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः ।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक् ॥ १८ ॥

उसके स्वयम्वर की तैयारी की। महाराज भीम ने, दमयन्ती के स्वयम्वर में आने के लिये, राजाओं के पास न्यौता भेजा। तब भीम का न्यौता पाकर सब राजा स्वयम्वर के लिये आने लगे। उनके हाथी, घोड़े और रथों के शब्द से और विचित्र आभूषण माला आदि पहने हुए सैनिकों के कोलाहल से पृथ्वी गूँज उठी ॥५।११॥

महाबाहु भीम ने उन महाप्रभावशाली नरपतियों का स्वागत किया। वे सब आदर पाकर वहां सुख से रहने लगे। इसी अवसर में नारद और पर्वत नाम के दो महाप्राज्ञ तपस्वी देव-ऋषि विचरते-विचरते देवलोक में इन्द्र के भवन में पहुँचे। इन्द्र ने उन दोनों देवऋषियों की यथोचित रूप से पूजा की और कुशलप्रश्न किया। तब नारद जी ने कहा—हे इन्द्र! हम लोगों के लिये सब जगह कुशल है। मनुष्यलोक में सब राजा भी कुशलपूर्वक हैं ॥१२।१६॥

बृहदश्व कहते हैं—यह सुनकर वृत्रासुर के मारनेवाले इन्द्र ने फिर नारद जी के वचन सुनकर कहा—हे महाराज! जो धर्मात्मा राजा लोग युद्ध में बिना मुख मोड़े जीने की आशा छोड़कर संग्राम में शस्त्र से मरकर इस अक्षय और सब कामनाओं के देनेवाले लोक में आये हैं मैं उन सबको यहां नहीं देखता हूँ आप बतलाइए कि वे राजा लोग कहां हैं? इन्द्र के यों पूछने पर देवर्षि नारद ने कहा—हे देवराज!

क नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम् ।
आगच्छतो महीपालान्दयितानतिथीन्मम ॥ १९ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत ।
नारद उवाच—शृणु मे मघवन् ! येन न दृश्यन्ते महीक्षितः ॥ २० ॥
विदर्भराज्ञो दुहिता दमयन्तीति विश्रुता ।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः ॥ २१ ॥
तस्याः स्वयंवरः शक्र ! भविता न चिरादिव ।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥ २२ ॥
तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः ।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिषूदन ! ॥ २३ ॥
एतस्मिन्कथ्यमाने तु लोकापालाश्च साग्निकाः ।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः ॥ २४ ॥
ततस्ते शुश्रुवुः सर्वे नारदस्य वचो महत् ।
श्रुत्वैव चाऽब्रुवन्हृष्टा गच्छामो वयमप्युत ॥ २५ ॥
ततः सर्वे महाराज ! सगणाः सहवाहनाः ।
विदर्भानभिजग्मुस्ते यतः सर्वे महीक्षितः ॥ २६ ॥
नलोऽपि राजा कौन्तेय ! श्रुत्वा राज्ञां समागमम् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः ॥ २७ ॥
अथ देवाः पथि नलं ददृशुर्भूतले स्थितम् ।

राजा लोगों के न दीखने का कारण यह है, मैं कहता हूँ, सुनिए। विदर्भराज की कन्या दमयन्ती रूप और लावण्य में पृथ्वी भर की सब स्त्रियों में श्रेष्ठ है। उसका स्वयम्वर होनेवाला है। उसी परम सुन्दरी कन्या को प्राप्त करने के लिये सब राजा और राजपुत्र विदर्भ देश की राजधानी को गये हैं ॥१७।२२॥

इन्द्र की और नारद जी की यह परस्पर बातचीत हो ही रही थी कि इतने में अग्निदेव आदि लोकपाल भी वहां आ गये। वे सब नारद जी की बात को सुनकर प्रसन्नता से कहने लगे कि हम लोग भी वहां चलेंगे ॥२३।२५॥

इसके पीछे वे सब देवता अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर उसी मार्ग से विदर्भ देश को चल दिये जिस मार्ग से और राजा लोग जा रहे थे। हे युधिष्ठिर ! इधर निषध देश के राजा नल भी, यह सुनकर कि दमयन्ती के स्वयम्वर के लिये राजाओं का जमाव

साक्षादिव स्थितं मूर्त्या मन्मथं रूपसंपदा ॥ २८ ॥
तं दृष्ट्वा लोकपालास्ते भ्राजमानं यथा रविम् ।
तस्थुर्विगतसंकल्पा विस्मिता रूपसंपदा ॥ २९ ॥
ततोऽन्तरिक्षे विष्टभ्य विमानानि दिवौकसः ।
अब्रुवन्नैषधं राजन्नवतीर्य नभस्तलात् ॥ ३० ॥
भो भो निषधराजेन्द्र ! नल ! सत्यव्रतो भवान् ।
अस्माकं कुरु साहाय्यं दूतो भव नरोत्तम ! ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि इन्द्रनारदसंवादे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

हो रहा है, दमयन्ती के साथ विवाह होने की आशा से प्रसन्नतापूर्वक उधर को चल पड़े। देवताओं ने आकाशमार्ग में जाते जाते नीचे देखा कि शरीरधारी कामदेव के समान रूपवान् नल भी स्वयम्वर को जा रहे हैं। उनके अलौकिक, सूर्य-सदृश शरीर के तेज को देखकर सब देवता चकित हो गये और दमयन्ती की प्राप्ति से निराश हो गये। अब उन्होंने अपने विमानों को आकाश में खड़ा करके नल से कहा—हे राजा नल! तुम सत्यव्रती हो। इसलिये हे नरश्रेष्ठ! तुम दूत बनकर हमारी सहायता करो ॥२८।३१॥

वनपर्व का चव्वनवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

बृहदश्व उवाच तेभ्यः प्रतिज्ञाय नलः करिष्य इति भारत ! ।
अथैतान्परिपप्रच्छ कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥ १ ॥
के वै भवन्तः कश्चाऽसौ यस्याऽहं दूत ईप्सितः ।
किंच तत्रो मया कार्यं कथयध्वं यथातथम् ॥ २ ॥
एवमुक्ते नैषधेन मघवानभ्यभाषत ।
अमरान्वै निबोधाऽस्मान्दमयन्त्यर्थमागतान् ॥ ३ ॥
अहमिन्द्रोऽयमग्निश्च यथैवाऽयमपां पतिः ।

पचपनवाँ अध्याय ॥ ५५ ॥

बृहदश्व ने कहा—हे युधिष्ठिर! राजा नल ने उन देवताओं से दूत बनने की प्रतिज्ञा की और पास आकर हाथ जोड़कर कहने लगा—आप सब लोग कौन हैं? जिसके पास मुझे भेजना चाहते हैं? आप लोगों का क्या काम मुझे करना होगा? यह सुनकर इन्द्र ने कहा—हे भद्र! हम सब देवता हैं। मैं तो इन्द्र हूँ, ये अग्नि हैं, ये वरुण हैं और ये प्राणियों का देहान्त करनेवाले यमराज हैं। हम सब देवता दमयन्ती को प्राप्त करने की इच्छा से पृथ्वी पर आये हैं। तुम दमयन्ती के पास जाकर कहो कि इन्द्र आदि

शरीरान्तकरो नृणां यमोऽयमपि पार्थिव ! ॥ ४ ॥
त्वं वै समागतानस्मान्दमयन्त्यै निवेदय ।
लोकपाला महेन्द्राद्याः समायान्ति दिदृक्षवः ॥ ५ ॥
प्राप्तुमिच्छन्ति देवास्त्वां शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतित्वे वरयस्व ह ॥ ६ ॥
एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
एकार्थं समुपेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ ॥ ७ ॥
कथं तु ज्ञातसंकल्पः स्त्रियमुत्सहते पुमान् ।
परार्थमीदृशं वक्तुं तत्क्षमन्तु महेश्वराः ॥ ८ ॥
देवा ऊचुः—करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध ! ।
न करिष्यसि कस्मात्त्वं व्रज नैषध मा चिरम् ॥ ९ ॥
बृहदश्व उवाच—एवमुक्तः स देवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत् ।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ॥ १० ॥
प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाऽभ्यभाषत ।
जगाम स तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम् ॥ ११ ॥
ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम् ।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ॥ १२ ॥

लोकपाल तुम्हारे स्वयम्वर की सभा में जा रहे हैं। इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम, ये चारों देवता तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। इनमें से जिसे चाहो उसे पति बना लो। इन्द्र के ये वचन सुनकर राजा नल ने हाथ जोड़कर कहा—हे महाराज! मेरे और आपके आने का प्रयोजन एक ही है इसमें मुझे न भेजिए क्योंकि जो मनुष्य जिस स्त्री को आप वरना चाहता है वह उस स्त्री से यह क्योंकर कह सकता है कि तुम अमुक पुरुष को अपना पति बना लो। इसलिये आप लोग इस ओर में मुझे क्षमा करें ॥१।८॥

यह सुनकर देवताओं ने कहा—हे निषध-नरेश! तुम पहले प्रतिज्ञा कर चुके हो कि मैं आपका कार्य करूँगा। फिर अब करने से क्यों इन्कार करते हो। तुम अभी हमारे कार्य से विदर्भ देश जाओ और हमारा सन्देशा दमयन्ती को कह दो। बृहदश्व कहते हैं कि लोकपालों के यों कहने पर नल ने फिर कहा—'बहुत अच्छा' मैं जाऊँगा परन्तु मैं महल के अन्दर किस-तरह जाने पाऊँगा क्योंकि वह महल द्वारपालों से अच्छीतरह से रक्षित है। यह सुनकर इन्द्र ने कहा—तुम मेरे प्रभाव से सहज ही वहां पहुंच सकोगे। यह सुनकर नल 'बहुत अच्छा' कहकर चल दिया। विदर्भ देश में जाकर वह दमयन्ती के घर में गया। वहां

अतीव सुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम् ।
आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ॥ १३ ॥
तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम् ।
सत्यं चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ॥ १४ ॥
ततस्ता नैषधं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः परमाङ्गनाः ।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ॥ १५ ॥
प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः ।
न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यपूजयन् ॥ १६ ॥
अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः ।
कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति ॥ १७ ॥
न तास्तं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्तुमपि किंचन ।
तेजसा धर्षितास्तस्य लज्जावत्यो वराङ्गनाः ॥ १८ ॥
अथैनं स्मयमानं तु स्मितपूर्वाभिभाषिणी ।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ॥ १९ ॥
कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग ! मम हृच्छयवर्धन ! ।
प्राप्तोऽस्यमरवद्वीर ! ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ! ॥ २० ॥
कथमागमनं चेह कथं चाऽसि न लक्षितः ।

वह उस दमयन्ती को जो परमसुन्दरी, शोभायमान, अत्यन्त कोमल अङ्गवाली, सूक्ष्मकटि, सुन्दर नेत्र रखनेवाली और अपने तेज से चन्द्रमा की प्रभा को मलिन करनेवाली थी सखियों के बीच में बैठी हुई देखकर उसका हृदय कामाग्नि से तप्त हो गया परन्तु उसने अपनी प्रतिज्ञा सत्य करने की इच्छा से उसे प्रकट न होने दिया। दमयन्ती की सखियाँ नल के स्वरूप को देखकर अपने अपने आसनों पर से उठ खड़ी हुईं ॥१३-१५॥

वे प्रसन्न और विस्मय होकर नल के रूप की बार बार मन में प्रशंसा करने लगीं। कोई भी उससे कुछ न पूछ सकी। उसके असाधारण रूप, कामनीय कान्ति और अनुपम गाम्भीर्य को देखकर सभी मन में सोचने लगीं कि यह पुरुष कौन है। यह तो कोई देवता, यक्ष अथवा गन्धर्व जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि किसी के मुख से बोल तक नहीं निकला। सभी स्त्रियाँ उसके शरीर की कान्ति देखकर लज्जा से सिर झुकाकर रह गईं। इसके पीछे दमयन्ती ने अचम्भे में आकर मन्द मन्द मुसकराकर उस मुसकराते हुए नल से पूछा—हे सुन्दर अङ्गवाले! आप सत्य सत्य कहिए आप कौन हैं? आपको देखकर मेरा हृदय कामरूपी बाणों से विदीर्ण हो गया है। हे पुण्यात्मा!

सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
नल उवाच—नलं मां विद्धि कल्याणि! देवदूतमिहाऽऽगतम् ॥ २२ ॥
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ! ॥ २३ ॥
तेषामेव प्रभावेण प्रविष्टोऽहमलक्षितः ।
प्रविशन्तं न मां कश्चिदपश्यन्नाऽप्यवारयत् ॥ २४ ॥
एतदर्थमहं भद्रे ! प्रेषितः सुरसत्तमैः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभे ! बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्यदेवदौत्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस महल के अच्छीतरह मे रक्षित होने पर भी आप किस तरह यहां चले आये ? मुझे आप कोई देवता जान पड़ते हैं। मैं जानना चाहती हूँ, आपके यहां आने का क्या कारण है ? नल ने कहा—हे कल्याणी ! मैं निषध देश का राजा नल हूँ। इस समय देवताओं का दूत बनकर यहां आया हूँ। हे शोभने ! इन्द्र, अग्नि, वरुण और प्राणियों का देहान्त करनेवाले यमराज, ये चारों लोकपाल तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। इस कारण तुम इनमें से किसी एक को अपना पति बना लो। यह इन्हीं देवताओं का प्रभाव है जो मैं बिना दीखे और बिना रोकटोक के यहां चला आया हूँ। हे भद्रे ! देवताओं का यह कार्य सिद्ध करने के लिये ही यहां आया हूँ। अब तुमको जैसा समझ पड़े, वैसा करो ॥१६।२५॥

वनपर्व का पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

बृहदश्व उवाच—सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत् ।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन्किं करवाणि ते ॥ १ ॥
अहं चैव हि यच्चाऽन्यन्ममाऽस्ति वसु किंचन ।
तत्सर्वं तव विश्रब्धं कुरु प्रणयमीश्वर ! ॥ २ ॥

छप्पनवां अध्याय ॥ ५६ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! नल के वचन सुनकर दमयन्ती ने श्रद्धा से उन देवताओं को प्रणाम किया। फिर वह हँसकर कहने लगी—हे महाराज ! मैं अपने शरीर और सब धन को आपके अर्पण कर चुकी। आप मित्र की तरह सब ग्रहण करके जो कर्तव्य समझें सो करें। मेरा निष्कपट प्रेम आप ही पर है। हे नरेश ! जब से हँस के मुख से आपका वृत्तान्त सुना है तब से आपके लिये मैं अनेक प्रकार

हंसानां वचनं यत्तु तन्मां दहति पार्थिव ! ।
त्वत्कृते हि मया वीर ! राजानः संनिपातिताः ॥ ३ ॥
यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद ! ।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ॥ ५ ॥
येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम् ।
न पादरजसा तुल्यो मनस्ते तेषु वर्तताम् ॥ ६ ॥
विप्रियं ह्याचरन्मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति ।
त्राहि मामनवद्याङ्गि ! वरयस्व सुरोत्तमान् ॥ ७ ॥
विरजांसि च वासांसि दिव्याश्चित्राः स्रजस्तथा ।
भूषणानि तु मुख्यानि देवान्प्राप्य तु भुङ्क्ष्व वै ॥ ८ ॥
य इमां पृथिवीं कृत्स्नां संक्षिप्य ग्रसते पुनः ।
हुताशमीशं देवानां का तं न वरयेत्पतिम् ॥ ९ ॥
यस्य दण्डभयात्सर्वे भूतग्रामाः समागताः ।
धर्ममेवाऽनुरुध्यन्ति का तं न वरयेत्पतिम् ॥ १० ॥
धर्मात्मानं महात्मानं दैत्यदानवमर्दनम् ।

के कष्ट सह रही हूँ। आपको पाने के लिये ही स्वयम्वर की तैयारी हो रही है। हे नरश्रेष्ठ ! मैं आपको मन ही मन अपना पति बना चुकी हूं। अब यदि आप मुझे विमुख कर देंगे तो मैं आपके विरह मे अग्नि में जलकर, पानी में डूबकर, विष खाकर या फांसी लगाकर अपने प्राण दे दूंगी ॥१।४॥

यह सुनकर नल ने कहा-हे दमयन्ती ! देवता तुमसे विवाह करना चाहते हैं। तुम लोकपालों को छोड़कर क्यों एक साधारण मनुष्य को चाह रही हो ? मैं तो इन ईश्वर और लोकों के रचनेवाले देवताओं के पैरों की रज के समान भी नहीं हूं। इसलिये तुम इन्हीं में से किसी एक को अपना हृदय अर्पण करो। क्योंकि जो मनुष्य देवताओं का अप्रिय करता है उसकी मृत्यु होती है। इससे तुम देवताओं में से किसी एक को स्वीकार करके मेरी रक्षा करो। देवताओं के साथ निर्मल वस्त्र दिव्य और विचित्र फूल माला तथा अच्छे-अच्छे आभूषण धारण करके आनन्द करो ॥५।८॥

भला ऐसा कौन होगा जो अग्नि से देवता को अपना पति न बनाना चाहे जो इस पृथ्वी के सम्पूर्ण पदार्थों को भक्षण करते हैं। और जिस यमराज के दण्ड के भय से सब प्राणी धर्म ही करते हैं उनको।

महेन्द्रं सर्वदेवानां का तं न वरयेत्पतिम् ॥ ११ ॥
क्रियतामविशङ्केन मनसा यदि मन्यसे ।
वरुणं लोकपालानां सुहृद्वाक्यमिदं शृणु ॥ १२ ॥
नैषधेनैवमुक्ता सा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समाप्लुताभ्यां नेत्राभ्यां शोकजेनाऽथ वारिणा ॥ १३ ॥
देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते ! ।
वृणे त्वामेव भर्तारं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
तामुवाच ततो राजा वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
दौत्येनाऽऽगत्य कल्याणि ! तथा भद्रे ! विधीयताम् ॥ १५ ॥
कथं ह्यहं प्रतिश्रुत्य देवतानां विशेषतः ।
परार्थे यत्नमारभ्य कथं स्वार्थमिहोत्सहे ॥ १६ ॥
एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः ।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे ! विधीयताम् ॥ १७ ॥
ततो बाष्पाकुलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
प्रत्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत् ॥ १८ ॥
उपायोऽयं मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर ! ।
येन दोषो न भविता तव राजन् ! कथंचन ॥ १९ ॥

कौन स्त्री न चाहेगी ? और वह कौनसी स्त्री संसार में होगी जो दैत्यों को मारनेवाले देवताओं के राजा इन्द्र की भार्या न होना चाहे ? हे चारुहासिनी ! मैं तुम्हारे ही भले के लिये कहता हू, जो पसन्द हो तो जलपति वरुण को ही अपना पति बना लो ॥९।१२॥

नल के यों कहते ही दमयन्ती शोक से व्याकुल हो गई और नेत्रों से आंसुओं की धारा छोड़ती हुई बोली—मैं सब देवताओं को नमस्कार करके केवल तुम्हीं को अपना पति चाहती हूँ। तुम मेरे इस वचन को सत्य जानो। यह सुनकर नल उस कांपती हुई और हाथ जोड़े हुए दमयन्ती से कहने लगा—हे कल्याणी ! हे भद्रे ! मैं इस समय दूतभाव से आया हूँ। मुझको वही कृत्य करना उचित है जिससे दूत का धर्म बना रहे। विशेषकर मैं देवताओं से प्रतिज्ञा करके आया हूँ इस अवस्था में पराये काम के करने के लिये यहां आकर मैं अपना स्वार्थ कैसे कर सकता हूँ ॥१३।१६॥

जिससे मेरा यह दूत-धर्म नष्ट न हो ऐसा कोई उपाय निकाल सको तो मैं अवश्य तुम्हारी इच्छा पूरी करूंगा। मृदु मधुर हास्यवाली दमयन्ती ने आंखों में आंसू भरकर रुद्ध कण्ठ से कहा—हे नाथ ! आपको जिसमें कुछ दोष न लगे यह उपाय मैंने

त्वं चैव हि नरश्रेष्ठ ! देवाश्चेन्द्रपुरोगमाः ।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयंवरः ॥ २० ॥
ततोऽहं लोकपालानां संनिधौ त्वां नरेश्वर ! ।
वरयिष्ये नरव्याघ्र ! नैवं दोषो भविष्यति ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशांपते ! ।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः ॥ २२ ॥
तमपश्यंस्तथाऽऽयान्तं लोकपाला महेश्वराः ।
दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन्वृत्तान्तं सर्वमेव तम् ॥ २३ ॥
कच्चिद् दृष्टा त्वया राजन् ! दमयन्ती शुचिस्मिता ।
किमब्रवीच्च नः सर्वान्वद भूमिपते ! अनघ ! ॥ २४ ॥
नल उवाच—भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम् ।
प्रविष्टः सुमहाकक्षं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम् ॥ २५ ॥
प्रविशन्तं च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान्नरः ।
ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा ॥ २६ ॥
सख्यश्चाऽस्या मया दृष्टास्ताभिश्चाऽप्युपलक्षितः ।
विस्मिताश्चाऽभवन्सर्वा दृष्ट्वा मां विबुधेश्वराः ! ॥ २७ ॥
वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना ।

कर लिया । आप इन्द्र आदि लोकपालों के साथ मेरे स्वयंवर की सभा में आइएगा । मैं उन देवताओं के सामने ही आपके गले में जयमाला डालकर आपको अपना पति बनाऊँगी । ऐसा होने से आपको किसी प्रकार का दोष न लगेगा ॥१७।२१॥

हे राजन् ! राजा नल दमयन्ती के ये वचन सुनकर लोकपालों के पास लौट गये । लोकपालों ने उन्हें आया हुआ देखकर सब वृत्तान्त पूछते हुए कहा । हे निष्पाप ! तुमने क्या उस सुन्दर मुसकान-वाली दमयन्ती को देखा है ? उसने हमारी बात के उत्तर में क्या कहा, सो सब कहो । यह सुनकर राजा नल ने कहा । मैं आपकी आज्ञा के अनुसार दमयन्ती के भवन में जिसकी कक्षा अर्थात् भवन में घुसने का द्वार बड़ा भारी था और बहुत से वृद्ध द्वारपाल हाथों में लकड़ी लिये हुए पहरा दे रहे थे बिना किसी रोकटोक घुसा हुआ चला गया । आप लोगों के तेज के प्रभाव से राजपुत्री दमयन्ती के सिवाय और किसी ने मुझे भीतर जाते नहीं देखा ॥२२।२६॥

जब मैं दमयन्ती के पास पहुंचा तब मैंने उसकी सखियां देखीं । वे भी मुझे देखकर बड़ा आश्चर्य करने लगीं । हे श्रेष्ठ देवताओं ! मैंने आपका संदेशा दमयन्ती से कह दिया । तब उस सुन्दरी ने हद

मामेव गतसंकल्पा वृणीते सा सुरोत्तमा ! ॥ २८ ॥
अब्रवींच्चैव मां वाला आयान्तु सहिताः सुराः ।
त्वया सह नरव्याघ्र ! मम यत्र स्वयंवरः ॥ २९ ॥
तेषामहं संनिधौ त्वां वरयिष्यामि नैषध ! ।
एवं तव महाबाहो ! दोषो न भवितेति ह ॥ ३० ॥
एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुपाहृतम् ।
मया, शेषे प्रमाणं तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदौत्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

सङ्कल्प के साथ मुझे ही अपना पति स्वीकार करके कहा- हे नरश्रेष्ठ ! वे देवता आपके साथ स्वयम्वर के सभामण्डप में उपस्थित होंगे; तब मैं उनके आगे ही आपके गले में जयमाला डाल दूँगी। तब फिर आपको कोई दोष न लगेगा। सो हे स्वर्गवासी देवताओ ! दमयन्ती ने मुझसे जो कहा था सो सब मैंने आपके सामने कह दिया है। अब आप जो उचित समझें वही करें ॥२७।३१॥

वनपर्व का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥



अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

बृहदश्व उवाच—अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा ।
आजुहाव महीपालान्भीमो राजा स्वयंवरे ॥ १ ॥
तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः ।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः ॥ २ ॥
कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम् ।
विविशुस्ते नृपा रङ्गं महासिंहा इवाऽचलम् ॥ ३ ॥
तत्राऽऽसनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः ।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४ ॥

सत्तावनवां अध्याय ॥ ५७ ॥

बृहदश्व ने कहा- हे राजा युधिष्ठिर ! इसके पीछे जब स्वयम्वर के होने का नियत काल और शुभमुहूर्त आया तब राजा भीम ने सब राजाओं को स्वयम्वर-सभा में बुलवाया। वे राजा लोग काम से पीड़ित और दमयन्ती पर मोहित होने के कारण से सुन्दर गन्धमाला और कुण्डल धारण किये हुए, उस रङ्गभूमि में जिसमें सुवर्ण के खम्भे लगे हुए थे आये और नाना प्रकार के विचित्र आसनों पर बैठ गये ॥१।४॥

ता राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव ।
सपूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥ ५ ॥
देवगन्धर्वपतयो ददृशुर्विस्मयान्विताः ।
पौरजानपदाश्चैव ये तत्राऽऽसन्समाहिता ॥ ६ ॥
तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः ।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णा पञ्चशीर्षा इवोरगा ॥ ७ ॥
सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च ।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ८ ॥
दमयन्ती ततो रङ्ग प्रविवेश शुभानना ।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ ९ ॥
तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्ताऽभून्न चचाल च पश्यताम् ॥ १० ॥
तत संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ।
ददर्श भैमी पुरुषान्पञ्च तुल्याकृतीनिह ॥ ११ ॥
तान्समीक्ष्य ततः सर्वान्निर्विशेषाकृतीन्स्थितान् ।
सन्देहादथ वैदर्भी नाऽभ्यजानान्नलं नृपम् ॥ १२ ॥
य यं हि ददृशे तेषां त तं मेने नल नृपम् ।

पवित्र भोगवती नगरी जैसे नागमण्डली से परिपूर्ण हो, पर्वत की कन्दरा (गुफा) जैसे सिंहों से शोभित हो, वैसे ही वह राजसभा अनन्य नरपतियों से परिपूर्ण हो गई। राजपुरुषों के चन्दन लेपे पुष्ट बाहु पांच सिरवाले नागों के समान जान पड़ते थे। उनके मनोहर चिकने केश थे, उनकी नाक, आँखें और भौंहें सुन्दर थीं। उन राजाओं के चेहरे, आकाश में नक्षत्रों की नाईं, सुन्दर लगते थे। इसके बाद सुहावने मुखवाली दमयन्ती, अपनी कान्ति से आये हुए राजाओं के मन और नयनों को आकर्षित करती हुई रङ्गभूमि में आई। तब राजकुमार उत्कण्ठा के साथ दमयन्ती की ओर देखने लगे। दमयन्ती के जिस अङ्ग पर जिसकी दृष्टि पड़ी वह वहीं पर जम गई। अब उन राजाओं के नाम का कीर्तन होना प्रारम्भ हुआ। तब दमयन्ती ने देखा सभा में नल के समान रूपवाले पांच पुरुष बैठे हैं ॥५।१०॥

दमयन्ती के लिये विशेष रूप से देखकर भी उनमें से असली नल को पहचान लेना कठिन हो गया। जिसकी ओर वह दृष्टि डालती थी वही उसे नल जान पड़ता था। तब दमयन्ती बहुत चिन्तित हुई। वह सोचने लगी कि इनमें कौन तो देवता है और कौन राजा नल है। दमयन्ती ने वृद्ध पुरुषों से

सा चिन्तयन्ती बुद्ध्याऽथ तर्कयामास भाविनी ॥ १३ ॥
कथं हि देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ।
एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता ॥ १४ ॥
श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ! ।
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ॥ १५ ॥
तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्याऽपि न लक्षये ।
सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ॥ १६ ॥
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ।
वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा ॥ १७ ॥
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ।
हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः ।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥ १८ ॥
मनसा वचसा चैव यथा नाऽभिचराम्यहम् ।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे । १९ ॥
यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २० ॥
यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याऽऽराधने मया ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २१ ॥
स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वराः ।

देवताओं के जो लक्षण सुने थे उनसे भी वह कुछ निश्चय नहीं कर सकी । अन्त को अनेक प्रकार के उपायों द्वारा कुछ भी निश्चय न कर पाने पर वह देवताओं के शरणागत हुई । मन और वाणी से देवताओं को प्रणाम करके कांपती हुई दमयन्ती ने कहा-हे देवताओ ! जिस प्रकार मैंने अपने सच्चे मन से हंसों की बात सुनकर राजा नल को अपना पति वरा है और अबतक किसी दूसरे मनुष्य को पति करना नहीं चाहती उसी प्रकार से तुम मुझको राजा नल को बतलाओ । हे देवताओ ! मैंने यह सत्य संकल्प और व्रत राजा नल के ही पाने को किया है आप लोग भी अपनी ओर से मुझे नल ही को पति दीजिए और अपने स्वरूप को यथावत् करके ऐसा कीजिए जिससे मैं उस पुण्यश्लोक राजा नल को जान सकूँ ॥११।२०॥

दमयन्ती के उस करुणा विलाप को सुनकर

तां राजसमिति पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव ।
संपूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥ ५ ॥
देवगन्धर्वपतयो ददृशुर्विस्मयान्विताः ।
पौरजानपदाश्चैव ये तत्राऽऽसन्समाहिता ॥ ६ ॥
तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहव परिघोपमाः ।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णा पञ्चशीर्षा इवोरगा ॥ ७ ॥
सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च ।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ८ ॥
दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना ।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ ९ ॥
तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्ताऽभून्न चचाल च पश्यताम् ॥ १० ॥
तत संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ! ।
ददर्श भैमी पुरुषान्पञ्च तुल्याकृतीनिह ॥ ११ ॥
तान्समीक्ष्य ततः सर्वान्निर्विशेषाकृतान्स्थितान् ।
संदेहादथ वैदर्भी नाऽभ्यजानान्नलं नृपम् ॥ १२ ॥
यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम् ।

सा चिन्तयन्ती बुद्धयाऽथ तर्कयामास भाविनी ॥ १३ ॥
कथं हि देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ।
एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता ॥ १४ ॥
श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत! ।
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ॥ १५ ॥
तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्याऽपि न लक्षये ।
सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ॥ १६ ॥
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ।
वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा ॥ १७ ॥
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ।
हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः ।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥ १८ ॥
मनसा वचसा चैव यथा नाऽभिचराम्यहम् ।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे । १९ ॥
यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २० ॥
यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याऽऽराधने मया ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २१ ॥
स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वराः ।

देवताओं के जो लक्षण सुने थे उनमें भी वह कुछ निश्चय नहीं कर सकी। अन्त को अनेक प्रकार के उपायों द्वारा कुछ भी निश्चय न कर पाने पर वह देवताओं के शरणागत हुई। मन और वाणी से देवताओं को प्रणाम करके कांपती हुई दमयन्ती ने कहा-हे देवताओ! जिस प्रकार मैंने अपने सच्चे मन से हंसों की बात सुनकर राजा नल को अपना पति वरा है और अबतक किसी दूसरे मनुष्य को पति करना नहीं चाहती उसी प्रकार से तुम मुझको राजा नल को बतलाओ। हे देवताओ! मैंने यह सत्य संकल्प और व्रत राजा नल के ही पाने को किया है आप लोग भी अपनी ओर से मुझे नल ही को पति दीजिए और अपने स्वरूप को यथावत् करके ऐसा कीजिए जिससे मैं उस पुण्यश्लोक राजा नल को जान सकूँ ॥१३-२०॥

दमयन्ती के इस करुणा विलाप को सुनकर

यथाऽहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ॥ २२ ॥
निशम्य दमयन्त्यास्तत्करुणं प्रतिदेवितम् ।
निश्चयं परमं तथ्यमनुरागं च नैषधे ॥ २३ ॥
मनोविशुद्धिं बुद्धिं च भक्तिं रागं च नैषधे ।
यथोक्तं चक्रिरे देवाः सामर्थ्यं लिङ्गधारणे ॥ २४ ॥
साऽपश्यद्विबुधान्सर्वानस्वेदान्स्तब्धलोचनान् ।
हृषितस्रग्रजोहीनान्स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ॥ २५ ॥
छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः ।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ॥ २६ ॥
सा समीक्ष्य तु तान्देवान्पुण्यश्लोकं च भारत ! ।
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव ! ॥ २७ ॥
विलज्जमाना वस्त्रान्तं जग्राहाऽऽयतलोचना ।
स्कन्धदेशेऽसृजत्तस्य स्रजं परमशोभनाम् ॥ २८ ॥
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी ।
ततो हाहेति सहसा मुक्तः शब्दो नराधिपैः ॥ २९ ॥
दैवैर्महर्षिभिस्तत्र साधु साध्विति भारत ! ।
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ॥ ३० ॥
दमयन्तीं तु कौरव्य ! वीरसेनसुतो नृपः ।

और उसके सच्चे अनुराग और नल के मन की शुद्धता और भक्ति को देखकर देवताओं ने अपना स्वरूप जैसा पहले था वैसा कर लिया जैसा कि दमयन्ती ने देवताओं से प्रार्थना की थी। उस समय दमयन्ती देखती क्या है कि इन पांचों पुरुषों में जो देवता हैं उनके मस्तक पर पसीना नहीं है, आंखें स्तब्ध अर्थात् पलक नहीं मारते हैं, सुन्दर माला पहने हुए हैं, शरीर पर रज का नाम नहीं है और सभा में बैठे हुए पृथ्वी को स्पर्श नहीं कर रहे हैं। और जो राजा नल हैं वह अपने शरीर की छाया रखते हैं, माला उनकी मैली है, पसीना मस्तक पर आ रहा है, जहां तहां रज पड़ी हुई है और पृथ्वी पर बैठे हुए हैं। ये चिह्न देखकर दमयन्ती एक क्षणभर में राजा नल को देवताओं से अलहदा जान गई और उसने उनको अपना पति स्वीकार करके लज्जा-सहित उनका वस्त्र पकड़ लिया और उनके गले में सुन्दर माला पहना दी। यह देखकर और सब आये हुए राजा लोग हाहाकार करने लगे। देवता और महर्षि धन्यवाद देते हुए राजा

आश्वासयद्वरारोहां प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ३१ ॥
यत्त्वं भजसि कल्याणि ! पुमांसं देवसंनिधौ ।
तस्मान्मां विद्धि भर्तारमेतत्ते वचने रतम् ॥ ३२ ॥
यावच्च मे धरिष्यन्ति प्राणा देहे शुचिस्मिते ! ।
तावत्त्वयि भविष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ३३ ॥
दमयन्ती तथा वाग्भिरभिनन्द्य कृताञ्जलिः ।
तौ परस्परतः प्रीतौ दृष्ट्वा त्वग्निपुरोगमान् ॥ ३४ ॥
तानेव शरणं देवाञ्जग्मतुर्मनसा तदा ।
वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ॥ ३५ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाऽष्टौ वरान्ददुः ।
प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चाऽनुत्तमां शुभाम् ॥ ३६ ॥
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ।
अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः ॥ ३७ ॥
लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ।
यमस्त्वन्नरसं प्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम् ॥ ३८ ॥
अपां पतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ।
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे च मिथुनं ददुः ॥ ३९ ॥

नल की वारम्वार प्रशंसा करने लगे ॥२१।३०॥

उस समय राजा नल अपने मन से प्रसन्न होकर दमयन्ती से कहने लगे—हे कल्याणी ! तुमने मुझे देवताओं के विराजमान रहने पर अपना पति स्वीकार किया है इससे मैं भी सदैव तुम्हारे कहे के अनुसार चलूँगा और जबतक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे तबतक तुममें प्रीति रक्खूँगा। यह सुनकर दमयन्ती ने भी हाथ जोड़कर मीठी मीठी बातों से नल को प्रसन्न किया। इसके उपरान्त नल और दमयन्ती, दोनों उन अग्नि आदि लोकपाल देवताओं को प्रणाम करके उनके शरणागत हुए। उन देवताओं ने प्रसन्न होकर, नल को आठ वरदान दिये ॥३१।३५॥

उन में से इन्द्र ने दो वरदान दिये एक तो यज्ञ में देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन और दूसरा उत्तम और शुभगति का मिलना। और अग्निदेव ने भी दो वर दिये पहला यह कि तुम मुझे जहां पर स्मरण करोगे, वहीं पर मैं उसी समय प्रकट होऊँगा और तुम्हारी इच्छा के अनुकूल फल तुमको दूँगा। और यमराज ने यह दो वर उनको दिये प्रथम अन्नरस अर्थात् जो अन्न तुम बनाओगे वही परमस्वादिष्ट बनेगा और द्वितीय धर्म में परमस्थिति अर्थात् तुम्हारी बुद्धि सदा धर्म में रहेगी। और वरुण देवता ने भी दो ही वर

वरानेवं प्रदायाऽस्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ।
पार्थिवाश्चाऽनुभूयाऽस्य विवाहं विस्मयान्विताः ॥ ४० ॥
दमयन्त्याश्च मुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु भीमः प्रीतो महामनाः ॥ ४१ ॥
विवाहं कारयामास दमयन्त्या नलस्य च ।
उष्य तत्र यथाकामं नैषधो द्विपदां वरः ॥ ४२ ॥
भीमेन समनुज्ञातो जगाम नगरं स्वकम् ।
अवाप्य नारीरत्नं तु पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः ॥ ४३ ॥
रेमे सह तया राजञ्छच्येव बलवृत्रहा ।
अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव ॥ ४४ ॥
अरञ्जयत्प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ।
ईजे चाऽप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः ॥ ४५ ॥
अन्यैश्च बहुभिर्धीमान्क्रतुभिश्चाऽऽसदक्षिणैः ।
पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च । ॥ ४६ ॥
दमयन्त्या सह नलो विजहाराऽमरोपमः ।
जनयामास च ततो दमयन्त्यां महामनाः ।
इन्द्रसेनं सुतं चापि इन्द्रसेनां च कन्यकाम् ॥ ४७ ॥
एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः ।
ररक्ष वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीस्वयंवरे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

दिये एक तो दिव्य माला दी कि जो सदा नई बनी रहे और दूसरा यह वर दिया कि तुम मुझे जहां बुलाओगे वहां मैं उसी समय पहुंचूंगा। इस प्रकार से वे चारों लोकपाल नल को दो-दो वरदान देकर अपने-अपने लोकों को चले गये। और जो-जो राजा लोग उस स्वयंवर में आये थे वे सब प्रसन्नतापूर्वक अपनी-अपनी राजधानियों को चले गये ॥३९।४०॥

इनके चले जाने पर राजा भीम ने विधिपूर्वक नल के साथ दमयन्ती का विवाह कर दिया। वे कुछ दिनों तक वहां रहे और फिर भीम से आज्ञा पाकर अपने देश को चले गये। इन्द्र जैसे इन्द्राणी के साथ विहार करते हुए समय बिताते हैं, वैसे ही महाराज नल भी उस स्त्री रत्न दमयन्ती के साथ दिन-रात सुख भोगने लगे। सूर्य के समान प्रतापी राजा नल राजधर्म के अनुसार अपनी प्रजा का पालन करने लगे। समय समय पर बहुत सी दक्षिणा देकर

उन्होंने अश्वमेध और अन्य अनेक महायज्ञ किये। इसके पश्चात् नल ने दमयन्ती के साथ अनेक रमणीक वन और उपवनों में विहार किया और उसके इन्द्रसेन नाम का एक पुत्र और इन्द्रसेना नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। हे राजा युधिष्ठिर! उस नल राजा ने इस प्रकार से विहार और अनेक प्रकार के यज्ञ किये और अपने राज्य की पृथ्वी की रक्षा की ॥४१।४८॥

वनपर्व का सत्तावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

अथ अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

बृहदश्व उवाच–वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ॥ १ ॥
अथाऽब्रवीत्कलिं शक्रः संप्रेक्ष्य वलवृत्रहा ।
द्वापरेण सहायेन कले! ब्रूहि क्व यास्यसि ॥ २ ॥
ततोऽब्रवीत्कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
गत्वा हि वरयिष्ये तां मनो हि मम तां गतम् ॥ ३ ॥
तमब्रवीत्प्रहस्येन्द्रो निर्वृत्तः स स्वयंवरः ।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः ।
देवानामन्त्र्य तान्सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ५ ॥
देवानां मानुषं मध्ये यत्सा पतिमविन्दत ।
तत्र तस्या भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ॥ ६ ॥

अट्ठावनवां अध्याय ॥ ५८ ॥

बृहदश्व ने कहा–हे राजा युधिष्ठिर! जिस समय इन्द्र आदि लोकपाल दमयन्ती के स्वयम्वर होने पर अपने-अपने लोकों को जा रहे थे उस समय उन्होंने दूसरी ओर से कलियुग और द्वापर को आते हुए देखा। उसको देखकर इन्द्र पूछने लगे–हे कलियुग! तुम अपने सारथी द्वापर को लिये हुए कहां जा रहे हो? कलियुग ने कहा–हे देवराज! मेरा मन दमयन्ती पर मोहित हो रहा है मैं उसे वरने के लिये उसके स्वयम्वर में जा रहा हूँ। यह सुनकर इन्द्र ने हँसकर कहा–हे कलियुग! वह स्वयम्वर तो समाप्त हो गया। राजकुमारी ने हम लोगों के सामने ही नल को अपना पति बना लिया है ॥१।४॥

यह सुनकर कलियुग को क्रोध चढ़ आया। उसने कहा–हे देवताओ! दमयन्ती ने जैसे देवताओं का अपमान करके एक साधारण मनुष्य को अपना पति बनाया है वैसे ही उसे इस काम का उचित दण्ड देना चाहिये। देवताओं ने कहा–इस बारे में दमयन्ती का कुछ भी अपराध नहीं है; क्योंकि हम

एवमुक्ते तु कलिना प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ।
अस्माभिः समनुज्ञाते दमयन्त्या नलो वृतः ॥ ७ ॥
का च सर्वगुणोपेतं नाऽऽश्रयेत नलं नृपम् ।
यो वेद धर्मानखिलान्यथावच्चरितव्रतः ॥ ८ ॥
योऽधीते चतुरो वेदान्सर्वानाख्यानपञ्चमान् ।
नित्यं तृप्ता गृहे यस्य देवा यज्ञेषु धर्मतः ॥ ९ ॥
अहिंसानिरतो यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ।
यस्मिन्दाक्ष्यं धृतिर्ज्ञानं तपः शौचं दमः शमः ॥ १० ॥
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ।
एवंरूपं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ! ॥ ११ ॥
आत्मानं स शपेन्मूढो हन्यादात्मानमात्मना ।
एवंगुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ! ॥ १२ ॥
कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुले ह्रदे ।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरं च दिवं ययुः ॥ १३ ॥
ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत् ।
संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ! ॥ १४ ॥
भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते ।
त्वमप्यक्षान्समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिदेवसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

लोगों की आज्ञा से ही उसने नल को वरा है। ऐसी कौनसी स्त्री होगी जो नल ऐसे पुरुष को अपना पति न बनाना चाहे; क्योंकि राजा नल सब गुणों से युक्त यती, वेद के धर्मों को जाननेवाला और चारों वेदों का पढ़नेवाला है उसके घर में धर्म और यज्ञ होने के कारण से देव तृप्त रहते हैं। और वह आप भी अहिंसक, सत्यवादी और दृढव्रती है। और धृति, ज्ञान, तप, शौच, दम अर्थात् इन्द्रियों का रोकना और शम अर्थात् मन का रोकना आदि गुण इसमें विद्यमान् हैं कि जिनमें विघ्न करने से भी बाधा नहीं लग सकती है ॥५।१०॥

ऐसे धर्मात्मा राजा को जो कोई शाप देने की इच्छा करेगा वह मूर्ख अपने आपको शाप देगा और अपने हाथों अपनी मृत्यु करेगा। ऐसे पुरुष को अन्त समय नरक में जाना पड़ता है। यह कहकर वे देवता स्वर्ग को चले गये। उनके चले जाने पर कलियुग ने द्वापर से कहा—हे द्वापर ! मैं किसी तरह इस दारुण क्रोध के वेग को नहीं रोक सकता। चाहे जिस तरह

हो, मैं नल के शरीर में प्रवेश करके उसे राज्य से भ्रष्ट कर दूँगा और वह दमयन्ती के साथ आनन्द न कर सकेगा। तुम्हें पांसों में प्रवेश करके इस कार्य में मेरी सहायता करनी होगी ॥११।१४॥

बनपर्व का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

अथ एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

बृहदश्व उवाच-एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह ।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥ १ ॥
स नित्यमन्तरप्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम् ।
अथाऽस्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥ २ ॥
कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्त नैषधः ।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ॥ ३ ॥
स समाविश्य च नलं समीपं पुष्करस्य च ।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै ॥ ४ ॥
अक्षद्यूते नलं जेता भवान्हि सहितो मया ।
निषधान्प्रतिपद्यस्व जित्वा राज्यं नलं नृपम् ॥ ५ ॥
एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात् ।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्ययात् ॥ ६ ॥
आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा ।
दीव्यावेत्यब्रवीद्भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

उनसठवां अध्याय ॥ ५९ ॥

बृहदश्व ने कहा-हे युधिष्ठिर! कलियुग द्वापर से ऐसा कहकर राजा नल के यहां गया और नल के शरीर में प्रवेश करने का अन्तर अर्थात् मौका देखने लगा। जब बारह वर्ष व्यतीत हो गये तब एक दिन राजा नल ने लघुशङ्का करके आचमन तो कर लिया परन्तु पांव बिना धोये सन्ध्या करने को बैठ गया। उस समय कलियुग ने यह अन्तर पाकर राजा के शरीर में प्रवेश किया। फिर वह कलियुग नल के भाई पुष्कर के पास गया। नल के साथ पांसे खेलने के लिये [तरह-तरह के लोभ दिखाकर] उसने पुष्कर से कहा-चलो, तुम मेरे प्रभाव से नल को जीत लोगे; उसके सब ऐश्वर्य और राजपद को प्राप्त करके निषद देश के निष्कण्टक राजा बन जाओगे ॥१।५॥

यह सुनकर पुष्कर अपने भाई राजा नल के पास गया। इधर कलियुग भी पांसों का रूप रखकर पुष्कर के पास आ गया। पुष्कर ने हाथ में पांसे लेकर नल को बारम्बार खेलने के लिये कहा। नल

न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महात्मनः ।
वैदर्भ्याः प्रेक्षमाणायाः पणकालममन्यत ॥ ८ ॥
हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम् ।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स्म नलस्तदा ॥ ९ ॥
तमक्षमदसंमत्तं सुहृदां न तु कश्चन ।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमरिन्दमम् ॥ १० ॥
ततः पौरजनाः सर्वे मन्त्रिभिः सह भारत ! ।
राजानं द्रष्टुमागच्छन्निवारयितुमातुरम् ॥ ११ ॥
ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
एष पौरजनो देवि ! द्वारि तिष्ठति कार्यवान् ॥ १२ ॥
निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः ।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ॥ १३ ॥
ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता ।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ॥ १४ ॥
राजन् ! पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः ।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ।
तं द्रष्टुमर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत ॥ १५ ॥

का स्वभाव सहने का न था। वह जुआ खेलने को प्रसन्न हो गया। अब शर्त लगाकर दोनों दमयन्ती के सामने खेलने लगे। नल ने रत्नों के ढेर के ढेर, सुवर्ण, रथ आदि वाहन और अन्यान्य जो कुछ दांव में रक्खा था वह सब कलियुग के प्रभाव से पुष्कर ने जीत लिया। पास रहनेवाले मित्रों ने उसको, जुआ खेलने की धुन में अचेत सा देखकर, रोकने की बहुत चेष्टा की परन्तु वे लोग कुछ भी न कर सके ॥८।१०॥

अन्त को सब पुरवासी लोग मन्त्री को आगे करके राजा नल को इस बुरे व्यसन से बचाने के लिये उनके पास आये। उनको आया हुआ देखकर सारथि ने दमयन्ती के पास आकर कहा—हे देवी ! सब पुरवासी और मन्त्री लोग राजा के दर्शन की इच्छा से बाहर खड़े हैं। आप एक बार महाराज को सूचना देकर कहिये कि उनके सङ्कट को न सह सकनेवाले, धर्म-अर्थ के ज्ञाता, पुरवासी और मन्त्री लोग उनके मिलने के लिये द्वार पर खड़े राह देख रहे हैं। यह सुनकर दमयन्ती शोक से व्याकुल होकर राजा नल के पास गई और आंखों में आंसू भरकर कहने लगी—हे महाराज ! सब पुरवासी मन्त्रियों-सहित आपकी प्रीति के कारण से आपके दर्शनों के लिये

तां तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं तथाविधाम् ।
आविष्टः कलिना राजा नाऽभ्यभाषत किंचन ॥ १६ ॥
ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ।
नाऽयमस्तीति दुःखार्ता व्रीडिता जग्मुरालयान् ॥ १७ ॥
तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ।
युधिष्ठिर ! बहून्मासान्पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूत एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

आये हैं और द्वार पर खड़े हैं आप उनसे मिलिए। दमयन्ती ने इस प्रकार से रो-रोकर कई बार कहा परन्तु कलियुग से आविष्ट चित्त होने के कारण से नल ने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया। सब पुरवासी और मन्त्री दुःखी और लज्जित होकर यह कहते हुए अपने-अपने घर चले गये कि अब इस राजा का नाश का समय आ गया है। हे युधिष्ठिर! इस प्रकार से नल और पुष्कर का जुआ कई महीनों तक हुआ और नल हारता ही चला गया ॥११।१८॥

वनपर्व का उनसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

अथ षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

बृहदश्व उवाच–दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम् ।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ॥ १ ॥
भयशोकसमाविष्टा राजन् ! भीमसुता ततः ।
चिन्तयामास तत्कार्यं सुमहत्पार्थिवं प्रति ॥ २ ॥
सा शङ्कमाना तत्पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम् ।
नलं च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकाम् ।

साठवां अध्याय ॥ ६० ॥

बृहदश्व ने कहा–हे युधिष्ठिर! राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने जब देखा कि राजा नल जुआ खेलने में मग्न और अचेत से हो रहे हैं तब वह शोक और दुःख से व्याकुल हो उठी। मन में राजा की इस दशा पर विचार करने से उसकी आंखों के आगे अन्धेरा सा छा गया। दमयन्ती क्रमशः पासों से होनेवाले अनर्थ को बढ़ते देखकर अत्यन्त शङ्कित हुई। तब राजा का हित करने के लिये बृहत्सेना नाम की दासी से दमयन्ती ने कहा–देख बृहत्सेना! तू जैसी मीठा बोलनेवाली है वैसा ही तेरा महाराज पर अनुराग है। विशेषकर तू सभी कामों में चतुर है। इसलिये तू महाराज की आज्ञा से मन्त्रियों के

हितां सर्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ॥ ४ ॥
बृहत्सेने ! व्रजाऽमात्यानानाय्य नलशासनात् ।
आचक्ष्व यद्गृतं द्रव्यमवशिष्टं च यद्वसु ॥ ५ ॥
ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम् ।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा नलमाव्रजन् ॥ ६ ॥
तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः ।
न्यवेदयद्भीमसुता न च तत्प्रत्यनन्दत ॥ ७ ॥
वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्तारमभिवीक्ष्य सा ।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
निशम्य सततं चाऽक्षान्पुण्यश्लोकपराङ्मुखान् ।
नलं च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ॥ ९ ॥
बृहत्सेने ! पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात् ।
सूतमानय कल्याणि ! महत्कार्यमुपस्थितम् ॥ १० ॥
बृहत्सेना तु सा श्रुत्वा दमयन्त्याः प्रभाषितम् ।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ११ ॥
वार्ष्णेयं तु ततो भैमी सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया गिरा ।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ॥ १२ ॥

पास जाकर इस घोर अनर्थ की सूचना कर दे और उन्हें शीघ्र यहां ले आ। बतला दे कि कितना धन बचा और कितना नष्ट हो गया ॥१-५॥

यह सुनकर वह दासी मन्त्रियों के पास गई और उनको सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा की आज्ञा सुनकर मन्त्रियों ने अपने को भाग्यवान् समझा और प्रजा-सहित सब लोग फिर राजद्वार पर आये। उनको फिर आये हुए देखकर दमयन्ती ने फिर राजा नल से जाकर कहा—हे महाराज! पुरवासी अब दूसरी बार फिर आये हैं आप उनको बुला लीजिए परन्तु राजा ने कुछ न सुना यह देखकर दमयन्ती लज्जित होकर फिर अपने भवन में चली गई। थोड़ी देर के बाद उसने सुना कि अपने विरुद्ध पांसे पड़ने से महाराज नल अपना सर्वस्व हार गये हैं। तब दमयन्ती ने फिर बृहत्सेना को बुलाकर कहा—बृहत्सेना! धीरे-धीरे सर्वनाश हुआ जा रहा है। तू महाराज की आज्ञा से सारथि को ले आ। यह सुनकर उस बृहत्सेना ने सेवकों के द्वारा नल की आज्ञा कहकर सारथि को बुलवा दिया। उससे उस अनिन्दित और देशकाल के जाननेवाली दमयन्ती ने मीठी बोली में समय के अनुसार कहा—हे सारथि! महाराज सदा तुम्हारे साथ जैसा व्यवहार करते हैं सो तुमसे छिपा हुआ

जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग्वृत्तः सदा त्वयि ।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥
यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणेव जीयते ।
तथा तथाऽस्य वै द्यूते रागो भूयोऽभिवर्धते ॥ १४ ॥
तथा च पुष्करस्याऽक्षाः पतन्ति वशवर्तिनः ।
तथा विपर्ययश्चाऽपि नलस्याऽक्षेषु दृश्यते ॥ १५ ॥
सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च ।
ममापि च तथा वाक्यं नाऽभिनन्दति मोहितः ॥ १६ ॥
नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः ।
यत्तु मे वचनं राजा नाऽभिनन्दति मोहितः ॥ १७ ॥
शरणं त्वां प्रपन्नाऽस्मि सारथे ! कुरु मद्वचः ।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचिद्विनशेदपि ॥ १८ ॥
नलस्य दयितानश्वान्योजयित्वा मनोजवान् ।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ॥ १९ ॥
मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनं तथा ।
अश्वांश्चेमान्यथाकामं वस वाऽन्यत्र गच्छ वा ॥ २० ॥
दमयन्त्यास्तु तद्वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः ।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ॥ २१ ॥

नहीं है । अब इस उलटे समय में तुमको उनकी सहायता करनी चाहिये । इस समय राजा का यह हाल है कि ज्यों-ज्यों हारता जाता है त्यों-त्यों उसकी प्रीति जुए में बढ़ती जाती है । राजा के पासे सदैव उलटे पड़ते हैं और पुष्कर मुँह माँगा दाँव पाता जाता है ॥१३।१५॥

महाराज इस जुए में ऐसे मोहित हो गये हैं कि न मेरी बात सुनते हैं न किसी दूसरे सुहृद की। मैं जानती हूँ कि इस समय दैव उनके प्रतिकूल हो रहा है । मैं इस समय तुम्हारी शरण में हूँ । तुम मेरा कहा मानो । मैं बहुत ही व्याकुल हो रही हूँ। मालूम नहीं, भाग्य में क्या होना लिखा है । इसलिये तुम अभी मन के वेग के समान चलनेवाले घोड़ों को जोतकर मेरे पुत्र और पुत्री को विदर्भ नगर में, छोड़ आओ। रथ और घोड़ों को वहीं रहने देना । तुम्हारा जी चाहे, वहीं रहना; नहीं तो अन्यत्र चले जाना ॥१६।२०॥

नल के सारथि वार्ष्णेय ने दमयन्ती की आज्ञा

ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ॥ २२ ॥
हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरं च तम् ।
इन्द्रसेनां च तां कन्यामिन्द्रसेनं च बालकम् ॥ २३ ॥
आमन्त्र्य भीमं राजानमार्तः शोचन्नलं नृपम् ।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीं तदा ॥ २४ ॥
ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः ।
भृतिं चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपते ! ॥ २५ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कुण्डिनंप्रतिकुमारकुमारीप्रस्थापने षष्टितमोऽध्यायः ६०

मान करके सब वृत्तान्त मन्त्रियों से कहा। मन्त्रियों ने विशेष रूप से विचार करके उसका अनुमोदन किया। राजपुत्र इन्द्रसेन और राजकुमारी इन्द्रसेना को लेकर वह सारथि विदर्भ नगर को गया। वहां घोड़े, रथ, राजकुमार और राजकुमारी को रखकर, राजा भीम से आज्ञा लेकर, सारथि पैदल ही चल दिया। उसने अयोध्या में पहुंचकर वहां के राजा ऋतुपर्ण के यहां सारथियों में नौकरी कर ली। वहां पर वह बड़े कष्ट से रहने लगा ॥२१।२५॥

वनपर्व का साठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

अथ एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

बृहदश्व उवाच—ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः ।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चान्यद्वसु किंचन ॥ १ ॥
हृतराज्यं नलं राजन् ! प्रहसन्पुष्करोऽब्रवीत् ।
द्यूतं प्रवर्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ॥ २ ॥
शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यज्जितं मया ।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

इकसठवां अध्याय ॥ ६१ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! वार्ष्णेय के चले जाने पर राजा नल पुष्कर से सब राज्य और धन हार गया उस समय पुष्कर हंसता हुआ कहने लगा—अब और क्या दांव लगाइएगा ! जो कुछ धन-सम्पत्ति थी वह सब तो मेरी हो गई। आपके पास अब केवल दमयन्ती रानी रह गई है यदि आपको अच्छा लगे तो इसे भी लगाकर एक दांव खेल डालिए। पुष्कर के ऐसे मर्मभेदी वचन सुनकर नल बहुत ही दुःखित हुए परन्तु उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। पुष्कर की ओर देखने से उनका क्रोध उमड़ पड़ा। कुछ

पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना ।
व्यदीर्यतेव हृदयं न चैनं किंचिदब्रवीत् ॥ ४ ॥
ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान् ।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि महायशाः ॥ ५ ॥
एकवासा ह्यसंवीतः सुहृच्छोकविवर्धनः ।
निश्चक्राम ततो राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ॥ ६ ॥
दमयन्त्येकवस्त्राऽथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तया बाह्यतः सार्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ॥ ७ ॥
पुष्करस्तु महाराज ! घोषयामास वै पुरे ।
नले यः सम्यगातिष्ठेत्स गच्छेद्वध्यतां मम ॥ ८ ॥
पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च ।
पौरा न तस्य सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ! ॥ ९ ॥
स तथा नगराभ्याशे सत्कारार्हो न सत्कृतः ।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्तयन् ॥ १० ॥
पीड्यमानः क्षुधा तत्र फलमूलानि कर्षयन् ।
प्रातिष्ठत ततो राजा दमयन्ती तमन्वगात् ॥ ११ ॥
क्षुधया पीड्यमानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि ।

न कहकर उन्होंने अपने शरीर से सब वस्त्र और गहने उतार डाले। इस प्रकार महाराज नल सब राज्य और लक्ष्मी को छोड़कर, केवल एक वस्त्र पहने, वहां से चल दिये ॥१।६॥

उनकी ऐसी दशा देखकर सब भाई-बन्धुओं को बड़ा शोक हुआ। दुःख से व्याकुल दमयन्ती भी केवल एक वस्त्र पहन करके नल के पीछे पीछे चली। इस प्रकार राज्य से भ्रष्ट होकर नल ने, अपनी रानी के साथ, नगर के बाहर आकर तीन दिन और रात्रि वास किया। उनके चले जाने पर पुष्कर ने नगर में यह प्रसिद्ध कराया कि जो कोई मनुष्य नल के पास जायगा या उसका आदर करेगा वह मेरे हाथ से मारा जायगा। इस भय से यद्यपि नल सब आदर किये जाने के योग्य थे परन्तु किसी ने उनसे बात तक नहीं की और उन्होंने तीन दिन तक केवल जल पीकर निर्वाह किया ॥७।१०॥

इसके पश्चात् भूख और प्यास से अत्यन्त व्याकुल होकर, कोई और उपाय न देख, वे कन्द मूल फल आदि की तलाश में निकले। पतिव्रता दमयन्ती भी उनके पीछे-पीछे चली। इस तरह फल-मूल खा-खाकर नल ने कुछ दिन व्यतीत किये। एक दिन प्यास से अत्यन्त व्याकुल होकर वे एक

अपश्यच्छकुनान्कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान् ॥ १२ ॥
स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली ।
अस्ति भक्ष्यो ममाऽद्याऽयं वसु चेदं भविष्यति ॥ १३ ॥
ततस्तान्परिधानेन वाससा स समावृणोत् ।
तस्य तद्वस्त्रमादाय सर्वे जग्मुर्विहायसा ॥ १४ ॥
उत्पतन्तः खगा वाक्यमेतदाहुस्ततो नलम् ।
दृष्ट्वा दिग्वाससं भूमौ स्थितं दीनमधोमुखम् ॥ १५ ॥
वयमक्षाः सुदुर्बुद्धे ! तव वासो जिहीर्षवः ।
आगता न हि नः प्रीतिः सवाससि गते त्वयि ॥ १६ ॥
तान्समीपगतानक्षानात्मानं च विवाससम् ।
पुण्यश्लोकस्तदा राजन्! दमयन्तीमथाऽब्रवीत् ॥ १७ ॥
येषां प्रकोपादैश्वर्यात्प्रच्युतोऽहमनिन्दिते ! ।
प्राणयात्रां न विन्देयं दुःखितः क्षुधयाऽन्वितः ॥ १८ ॥
येषां कृते न सत्कारमकुर्वन्मयि नैषधाः ।
इमे ते शकुना भूत्वा वासो भीरु! हरन्ति मे ॥ १९ ॥
वैषम्यं परमं प्राप्तो दुःखितो गतचेतनः ।
भर्ता तेऽहं निबोधेदं वचनं हितमात्मनः ॥ २० ॥

सरोवर के किनारे पहुँचे। वहां उन्होंने देखा कि बहुत से सुवर्ण के पङ्खवाले पक्षी इधर उधर विचर रहे हैं। भूख के मारे उन्होंने यह विचार किया कि आज मैं इन्हीं को मारकर खाऊँगा। इस विचार से उन्होंने अपनी धोती डालकर उन पक्षियों को ढक दिया और वे पक्षी उस वस्त्र को लिये हुए आकाश मार्गी हुए ॥११।१४॥

इन पक्षियों ने नल को नीचे मुख किये हुए नङ्गे खड़े देखकर कहा—रे दुर्बुद्धि नल! हम वे ही पासे हैं। तुम्हें वस्त्र पहने देखकर हमें बड़ा खेद हुआ। इसी से पक्षी बनकर तुम्हारा वस्त्र भी हमने ले लिया। यह सुनकर और अपने को नङ्गा देखकर राजा नल ने दमयन्ती से कहा, देखो प्रिये! जिनके कोप से मैं सब राज्य और धन हारकर भूख के मारे ऐसा दुःखी हूँ कि केवल प्राण ही निकलने शेष रहे हैं और जिनके कारण से पुरवासियों ने मेरा आदर नहीं किया उन्होंने अब पक्षी बनकर मेरे वस्त्र को हर लिया है। इस समय दारुण दुर्दशा में पड़ने से मेरी बुद्धि भ्रष्ट सी हो रही है—मुझे कुछ नहीं सूझता। मैं तुम्हारा पति हूँ। सब तरह से तुम्हारी रक्षा करना मेरा परम कर्त्तव्य है। इस कारण तुम से जो मैं कहता हूँ, सो सुनो ॥१५।२०॥

एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम् ।
अवन्तीमृक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम् ॥ २१ ॥
एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा ।
आश्रमाश्च महर्षीणां बहुमूलफलान्विताः ॥ २२ ॥
एष पन्था विदर्भाणामसौ गच्छति कोसलान् ।
अतः परं च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः ॥ २३ ॥
एतद्वाक्यं नलो राजा दमयन्तीं समाहितः ।
उवाचाऽसकृदार्तो हि भैमीमुद्दिश्य भारत ! ॥ २४ ॥
ततः स बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता ।
उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ॥ २५ ॥
उद्वेजते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः ।
तव पार्थिव ! संकल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ॥ २६ ॥
हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम् ।
कथमुत्सृज्य गच्छेयमहं त्वां निर्जने वने ॥ २७ ॥
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत्सुखम् ।
वने घोरे महाराज ! नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ॥ २८ ॥
न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजां मतम् ।

देख, ये जो बहुत से मार्ग दिखाई देते है ये अवन्ति और ऋक्षवान् पहाड़ों पर से होते हुए दक्षिण दिशा की ओर चले गये हैं और यह जो बड़ा पहाड़ दिखाई देता है इसका नाम विन्ध्याचल है और इसके समीप पयोष्णी नाम की नदी बहती है, जो समुद्र में जाकर मिल गई है । यहां पर बहुत से महाऋषियों के आश्रम हैं जिनमें फल-फूलों की कमी नहीं है । यहां से दो राह गये हैं । इस राह मे जाने पर विदर्भ देश में पहुँचा जा सकता है । यह राह कौशल देश को गया है । इस मार्ग की दक्षिण सीमा में स्थित देश को दक्षिणापथ कहते हैं । राजा नल दुःख और शोक से अत्यन्त पीड़ित होकर दमयन्ती से बार-बार यही बातें कह-कहकर सुनाने लगे । हे युधिष्ठिर ! राजा नल ने जब ये उक्त बातें दमयन्ती से बार-बार कहीं तब दमयन्ती दुःखी होकर दीनता से बोली ॥२१।२५॥

हे महाराज ! आकार और चेष्टा से आपके मन के भाव को जानकर मेरा हृदय फटा सा जा रहा है । सोचकर भी मैं इस समय कुछ कर्तव्य ठीक नहीं कर पाती । मेरा सारा शरीर शिथिल हुआ जा रहा है । हे नाथ ! मैं आपको भूखा, नङ्गा, राज्यहीन और थका हुआ इस निर्जन वन में छोड़कर कैसे

औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

नल उवाच—एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं दमयन्ती! सुमध्यमे! ।
नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्याऽऽर्तस्य भेषजम् ॥ ३० ॥
न चाऽहं त्यक्तुकामस्त्वां किमलं भीरु! शङ्कसे ।
त्यजेयमहमात्मानं न चैव त्वामनिन्दिते! ॥ ३१ ॥

दमयन्त्युवाच—यदि मां त्वं महाराज! न विहातुमिहेच्छसि ।
तत्किमर्थं विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ॥ ३२ ॥
अवैमि चाऽहं नृपते! न तु मां त्यक्तुमर्हसि ।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते! ॥ ३३ ॥
पन्थानं हि ममाऽभीक्ष्णमाख्यासि च नरोत्तम! ।
अतोऽनिमित्तं शोकं मे वर्धयस्यमरोपम! ॥ ३४ ॥
यदि चाऽयमभिप्रायस्तव ज्ञातीन्व्रजेदिति ।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान्यदि मन्यसे ॥ ३५ ॥
विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद! ।
तेन त्वं पूजितो राजन्! सुखं वत्स्यसि नो गृहे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलवनयात्रायाम् एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

चली जाऊँ। मैं आपके साथ रहकर इस महावन में आपके श्रम और सोच को दूर करूँगी। वैद्यों का भी यही कहना है कि सब दुःखों में स्त्री के समान कोई औषधि नहीं है। इसको आप सत्य जानिए। दमयन्ती के ये वचन सुनकर नल ने कहा—हे प्रिये! तुम जो कहती हो, सो ठीक है। दुःखी मनुष्य की औषधि और मित्र स्त्री के समान कोई नहीं है। तुम [illegible] इतनी शङ्का क्यों कर रही हो? ॥२९।३०॥

[illegible] इच्छा कदापि तुम्हें छोड़ने की नहीं। [illegible] चाहे अपने शरीर को त्याग दूँ पर तुमको कदापि न त्यागूँगा। यह सुनकर दमयन्ती ने कहा। हे नाथ! यदि आप मुझे छोड़ने का निश्चय नहीं कर बैठे हैं तो मुझे क्यों बारम्बार विदर्भ देश की राह दिखा रहे हैं? मैं इसका कारण कुछ भी नहीं ठीक कर सकी, इसी से अत्यन्त व्याकुल हो रही हूँ। हे महाराज! मैं आपकी शरण में हूँ। कलियुग से आविष्ट चित्त के कारण से आप मुझे न त्यागिए। आपका निरन्तर राह बतलाना मेरे शोक को बढ़ाता जाता है। अथवा यदि आपकी यह इच्छा हो कि मैं अपने स्वजातियों के पास चली जाऊँ तो हम तुम दोनों ही चलें। यदि आप वहाँ चलेंगे तो विदर्भ नरेश आपका बड़ा सम्मान करेंगे। आप वहाँ बड़े आदर और सुख से रहेंगे ॥३१।३६॥

वनपर्व का इकसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

नल उवाच—यथा राज्यं तव पितुस्तथा मम न संशयः ।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथंचन ॥ १ ॥
कथं समृद्धो गत्वाऽहं तव हर्षविवर्धनः ।
परिच्युतो गमिष्यामि तव शोकविवर्धनः ॥ २ ॥
बृहदश्व उवाच—इति ब्रुवन्नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः ।
सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्धेन संवृताम् ॥ ३ ॥
तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां कांचिदुपेयतुः ॥ ४ ॥
तां सभामुपसंप्राप्य तदा स निषधाधिपः ।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले ॥ ५ ॥
स वै विवस्त्रो विकटो* मलिनः पांसुगुण्ठितः ।
दमयन्त्या सह श्रान्तः सुष्वाप धरणीतले ॥ ६ ॥
दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयाऽपहृता ततः ।
सहसा दुःखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी ॥ ७ ॥
सुप्तायां दमयन्त्यां तु नलो राजा विशांपते ! ।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स्म शेते यथा पुरा । ८ ।

बासठवां अध्याय ॥ ६२ ॥

राजा नल ने कहा—हे प्रियतमे ! तुम्हारे पिता के जितना ऐश्वर्य है उतना मेरे भी था । मैं वहां बड़े ऐश्वर्य के साथ जाया करता था, जिसे देखकर तुम भी प्रसन्न होती थीं । इस समय घोर दुर्दशा में पड़कर मैं अत्यन्त दीन-हीन हो रहा हूं । अब जो मैं वहां मलिन वेष से जाऊँगा तो तुम्हारे कोमल हृदय में भी चोट लगेगी । इसलिये हे प्रिये ! मैं इस दशा में किसी तरह वहां न जाऊँगा । बृहदश्व ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! राजा नल ने इस प्रकार से बारम्बार कहकर दमयन्ती के चित्त को शान्त किया और वे दोनों ही एक वस्त्र ओढ़े हुए जहां तहां भूखे प्यासे फिरते हुए वन के एक एकान्त स्थान में पहुंचे । वहां प्रिया के साथ बैठकर [अपनी दुर्दशा के सम्बन्ध में तरह-तरह की चिन्ताएँ करते-करते] नल लेट रहे । दमयन्ती भी उनके पास लेट गई । वह लेटते ही थकान के मारे अचेत हो गई; किन्तु ऐसी दुर्दशा में पड़ने के कारण नल के हृदय में लगातार शोक की आग जल रही थी, इस कारण उनकी आंखें

* विगतः कटः दुर्गन्धः यस्मात् ।

स तद्राज्यापहरणं सुहृत्त्यागं च सर्वशः ।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान् ॥ ९ ॥
किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः ।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा ॥ १० ॥
मामियं ह्यनुरक्तैवं दुःखमाप्नोति मत्कृते ।
मद्विहीना त्वियं गच्छेत्कदाचित्स्वजनं प्रति ॥ ११ ॥
मयि निःसंशयं दुःखमियं प्राप्स्यत्यनुव्रता ।
उत्सर्गे संशयः स्यात्तु विन्देतापि सुखं क्वचित् ॥ १२ ॥
स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ।
उत्सर्गं मन्यते श्रेयो दमयन्त्या नराधिप ! ॥ १३ ॥
न चैषा तेजसा शक्या कैश्चिद्धर्षयितुं पथि ।
यशस्विनी महाभागा मद्भक्तेयं पतिव्रता ॥ १४ ॥
एवं तस्य तदा बुद्धिर्दमयन्त्यां न्यवर्तत ।
कलिना दुष्टभावेन दमयन्त्या विसर्जने ॥ १५ ॥
सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाऽप्येकवस्त्रताम् ।
चिन्तयित्वाऽध्यगाद्राजा वस्त्रार्धस्याऽवकर्तनम् ॥ १६ ॥
कथं वासो विकर्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया ।

तुरन्त सो गईं। वे राज्य के चले जाने और सुहृदों के आदर न करने और वन में वस्त्र के हर जाने आदि क्लेशों को स्मरण कर करके चिन्ता करने लगे। अब मुझको क्या करना उचित है क्या करूँ क्या न करूँ। आत्महत्या कर लेने में भला है या इस अपनी स्त्री को त्याग दूँगा तो अच्छा है ॥९।१०॥

यह मेरी स्त्री मेरी प्रीति के कारण से इतना दुःख उठा रही है जो मैं इसे छोड़कर चला जाऊँ तो यह अपने किसी स्वजन के यहाँ चली जायगी। मेरे साथ रहने में इसको अवश्य दुःख होगा और जो मैं इसे छोड़ दूँ तो क्या आश्चर्य है कि कहीं इसको सुख मिले या न मिले। हे युधिष्ठिर! इस प्रकार से बार बार विचार कर राजा नल ने यह निश्चय किया कि दमयन्ती को छोड़ देना ही अच्छा है क्योंकि यह पतिव्रता और मेरी भक्ता है इसको मार्ग में कोई सङ्कट भी न दे सकेगा। ऐसा विचार कर राजा का स्नेह दमयन्ती की ओर से जाता रहा और अब उसके त्याग करने का उपाय सोचने लगे और अपने को वस्त्रहीन और दमयन्ती के पास भी एक ही वस्त्र देखकर दमयन्ती के वस्त्र में से आधा वस्त्र काटने का विचार किया ॥११।१६॥

और यह सोचने लगे कि इसके वस्त्र को कैसे

विचिन्त्यैवं नलो राजा सभां पर्यचरत्तदा । १७ ॥
परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत ! ।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खङ्गमुत्तमम् ॥ १८ ॥
तेनाऽर्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परन्तपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद्गतचेतनाम् ॥ १९ ॥
ततो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।
दमयन्तीं तदा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ॥ २० ॥
यां न वायुर्न चाऽऽदित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ॥ २१ ॥
इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ॥ २२ ॥
कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा ।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ॥ २३ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ समरुद्गणौ ।
रक्षन्तु त्वां महाभागे ! धर्मेणाऽसि समावृता ॥ २४ ॥
एवमुक्त्वा प्रियां भार्यां रूपेणाऽप्रतिमां भुवि ।
कलिनाऽपहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ॥ २५ ॥

जाय, कहीं वह जाग न पड़े इस विचार से नल उस वन में इधर-उधर घूमने लगे। थोड़ी देर में उन्होंने उस वन में एक स्थान पर नङ्गी तलवार धरी हुई देखी। राजा ने उस तलवार को उठा लिया और उससे दमयन्ती के आधे वस्त्र को काटकर आप पहन लिया और उसे अचेत सोती हुई छोड़कर वहां से चल दिये। दो-एक पग जाने पर दमयन्ती के मुख-चन्द्र को याद करके वे फिर दमयन्ती के पास लौट आये। उस समय उनकी आंखों से आंसू बह रहे थे। वे कहने लगे कि हाय! इस मेरी स्त्री को पहले सूर्य और वायु ने भी कभी नहीं देखा था अब अनाथ की तरह पृथ्वी पर पड़ी हुई सो रही है। हाय! जब यह उठेगी और अपना आधा कटा हुआ वस्त्र देखेगी तब इसकी क्या गति होगी ॥१७।२२॥

और मेरे बिना इस घोर वन में जिसमें मृग और व्याघ्र रहते हैं कैसे विचरेगी। हे महाभागे। तू धर्म से स्थिर है बारहों सूर्य, आठों वसु, ग्यारहों रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार और मरुद्गण तेरी रक्षा करें। राजा नल इस प्रकार से उस सोती हुई अपनी परम प्यारी स्त्री से कहकर, कलियुग से ज्ञान नष्ट किये जाने के कारण से चल दिये। थोड़ी दूर जाकर फिर लौट आये और फिर चल दिये। इस प्रकार

गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः ।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनाऽवकृष्यते ॥ २६ ॥
द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याऽभवत्तदा ।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति ॥ २७ ॥
अवकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः ।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्यां विलप्य करुणं बहु ॥ २८ ॥
नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तत्तद्विगणयन्नृपः ।
जगामैकां वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपरित्यागे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

से उनका चित्त दो प्रकार का हो गया। प्रीति तो उन्हें खींचकर लौटा लाती थी और कलियुग उन्हें फिर ले जाता था। वे इन दोनों की आकर्षण शक्ति से कई बार लौट आये और फिर चले गये। अन्त में कलियुग का आकर्षण प्रबल हो गया और वे रोते हुए नष्टबुद्धि होकर अनेक प्रकार के विचार करते हुए उस वन में अपनी स्त्री को सोती हुई अकेली छोड़कर दूर निकल गये ॥२६।२९॥

वनपर्व का बासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

बृहदश्व उवाच—अपक्रान्ते नले राजन् ! दमयन्ती गतक्लमा ।
अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ॥ १ ॥
अपश्यमाना भर्तारं शोकदुःखसमन्विता ।
प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ॥ २ ॥
हा नाथ ! हा महाराज ! हा स्वामिन् ! किं जहासि माम् ।
हा हताऽस्मि विनष्टाऽस्मि भीताऽस्मि विजने वने ॥ ३ ॥
ननु नाम महाराज ! धर्मज्ञः सत्यवागसि ।

तिरसठवां अध्याय ॥ ६३ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! जब राजा नल चले गये तब दमयन्ती उस निर्जन वन में भयभीत होकर जाग पड़ी। और नल को वहां न पाकर शोक दुःख और भय से क्लेशित होकर बड़े ऊँचे स्वर से पुकार कर कहने लगी। हे नाथ ! हे महाराज ! हे स्वामी ! आपने क्या दोष देखकर मुझे छोड़ दिया है ? मैं तो मारी गई; मैं विशेष रूप से नष्ट हो गई। मैं इस भयानक वन में अकेली डर रही हूँ।

कथमुक्त्वा तथा सत्यं सुप्तामुत्सृज्य कानने ॥ ४ ॥
कथमुत्सृज्य गन्ताऽसि दक्षां भार्यामनुव्रताम् ।
विशेषतोऽनपकृते परेणाऽपकृते सति ॥ ५ ॥
शक्यसे ता गिरः सम्यक्कर्तुं मयि नरेश्वर! ।
यास्तेषां लोकपालानां संनिधौ कथिताः पुरा ॥ ६ ॥
नाऽकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां पुरुपर्षभ! ।
यत्र कान्ता त्वयोत्सृष्टा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७ ॥
पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान्पुरुपर्षभ! ।
भीताऽहमतिदुर्धर्ष! दर्शयाऽऽत्मानमीश्वर! ॥ ८ ॥
दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेप दृष्टोऽसि नैपध! ।
आवार्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभापसे ॥ ९ ॥
नृशंसं बत राजेन्द्र! यन्मामेवंगतामिह ।
विलपन्तीं समागम्य नाऽऽश्वासयसि पार्थिव! ॥ १० ॥
न शोचाम्यहमात्मानं न चाऽन्यदपि किंचन ।
कथं नु भविताऽस्येक इति त्वां नृप! शोचिमि ॥ ११ ॥
कथं नु राजंस्तृपितः क्षुधितः श्रमकर्शितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेपु मामपश्यन्भविष्यसि ॥ १२ ॥

हे महाराज ! आप तो बड़े सत्यवादी और धर्मात्मा हो। मुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके मुझे सोती हुई इस निर्जन वन में छोड़कर क्यों चले गये ? आपका अपकार शत्रु की ओर से हुआ था मैंने तो आपका कोई अपकार नहीं किया। फिर मुझ अनुव्रता स्त्री को छोड़कर कैसे चले गये ? ॥४।५॥

हे महाराज ! पहले लोकपालों के सामने जो आपने प्रतिज्ञा की थी, इस समय वह आपका सत्य-व्रत कहां गया ? हे पुरुषश्रेष्ठ ! मनुष्य के लिये अकाल-मृत्यु का विधान कहीं नहीं है। इसी कारण मैं आपसे अलग होकर अब तक जी रही हूं। हे नाथ ! अब हसी दिल्लगी को जाने दीजिए। अब दर्शन देकर मेरी प्राणों की रक्षा कीजिए। मैं अत्यन्त भयभीत हो रही हूं। मै आपको देख रही हूं वहा आप छिपे हुए हैं, वहा आप खड़े हुए हैं आप अपने शरीर को पत्तों से छिपाकर मुझसे क्यों नहीं बोलते है। बड़े दुःख और निर्दयीपन की बात है जो आप मुझे इस अवस्था में विलाप करती हुई देखकर मेरे पास आकर मुझे धैर्य नहीं देते ? ॥६।१०॥

हाय ! मुझे अपना और दूसरी किसी बात का सोच नहीं है केवल यह सोच है कि तुम मेरे बिना अकेले कैसे रहोगे ? जब दिन भर के भूखे और

ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ॥ १३ ॥
मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥ १४ ॥
अतीव शोकसंतप्ता मुहुर्निःश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निःश्वस्य रुदत्यथ पतिव्रता ॥ १५ ॥
यस्याभिशापाद्दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य नो दुःखाद्दुःखमप्यधिकं भवेत् ॥ १६ ॥
अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान्नलम् ।
तस्माद्दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ॥ १७ ॥
एवं तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषमाणा भर्तारं वने श्वापदसेविते ॥ १८ ॥
उन्मत्तवद्भीमसुता विलपन्ती इतस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्चेतश्च धावति ॥ १९ ॥
तां क्रन्दमानामत्यर्थं कुररीमिव वाशनीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥
सहसाऽभ्यागतां भैमीमभ्यासपरिवर्तिनीम् ।

प्यासे और थके हुए किसी वृक्ष की जड़ पर मुझे बिना देखे पड़े रहोगे तब तुम्हारी क्या गति होगी? इस प्रकार से दमयन्ती विलाप करके शोक से अत्यन्त पीड़ित होकर वन में इधर-उधर दौड़ने लगी। वह कभी विह्वल होकर गिर पड़ती, कभी डरकर खड़ी हो जाती, कभी छिप जाती और कभी गला फाड़-कर रोने चिल्लाने लगती थी। इसके पीछे उस पतिव्रता ने दुःखी होकर और रोती हुई ने शाप दिया कि जिसके शाप से मेरा पति नल अत्यन्त दुःख उठा रहा है उसको हमारे दुःख से भी अधिक दुःख हो ॥१३।१६॥

और जिस पापी ने निष्कपट नल को इस अवस्था को पहुँचाया है वह नल से भी अधिक दुःख पावे और उसकी जीविका भी दुःख से मिले। इसके पीछे दमयन्ती फिर विलाप करती हुई उस वन में अपने पति को ढूँढ़ने लगी और हाय राजन्! हाय राजन्! पुकार-पुकार कर इधर-उधर दौड़ने लगी। दैवयोग से वह रोती, पुकारती, विलाप करती और सोचती हुई अकस्मात् एक बड़े अजगर के समीप जा निकली और उस अजगर ने उसे पकड़ लिया। परन्तु दमयन्ती ने सर्प के पकड़ने और महादुःख होने पर भी अपनी ओर की चिन्ता नहीं की जितनी चिन्ता उसने अपने

जग्राहाऽजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ॥ २१ ॥
सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च परिप्लुता ।
नाऽऽत्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥ २२ ॥
हा नाथ ! मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणाऽनेन विजने किमर्थं नाऽनुधावसि ॥ २३ ॥
कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ! ।
कथं भवाञ्जगामाऽद्य मामुत्सृज्य वने प्रभो ! ॥ २४ ॥
पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ।
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य परिग्लानस्य नैषध ! ।
कः श्रमं राजशार्दूल ! नाशयिष्यति तेऽनघ ! ॥ २५ ॥
ततः कश्चिन्मृगव्याधो विचरन्गहने वने ।
आक्रन्दमानां संश्रुत्य जवेनाऽभिससार ह ॥ २६ ॥
तां तु दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणाऽऽयतेक्षणाम् ।
त्वरमाणो मृगव्याधः समभिक्रम्य वेगतः ॥ २७ ॥
मुखतः पाटयामास शस्त्रेण निशितेन च ।
निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ॥ २८ ॥
मोक्षयित्वा स तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन ह ।
समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ! ॥ २९ ॥

पति नल की थी। वह रोकर कहने लगी—हाय नाथ! आप कहां गए? यहां इस निर्जन वन में आकर मुझ अनाथ और सर्प से ग्रसी हुई की रक्षा क्यों नहीं करते हो? हे महाराज! जब तुम मन, बुद्धि और धन फिर प्राप्त करोगे तब मुझे स्मरण करके कैसे जीवोगे? आप मुझको वन में छोड़कर चल दिये। मेरे बिना आपकी थकावट को, भूख प्यास और दुःख को कौन दूर करेगा ॥१७२५॥

दमयन्ती इस प्रकार विलाप और सन्ताप कर ही रही थी कि इसी अवसर में शिकार के लिये आये हुए व्याध ने उसके रोने का शब्द सुना। वह शब्द सुनकर दमयन्ती के पास तुरन्त आ गया। उसने देखा कि विशाल नेत्रोंवाली स्त्री को ग्रसने के लिये एक भयानक सर्प मुँह फैलाये चला आ रहा है। तब उस शिकारी ने शीघ्र एक पैनी धार के हथियार से अजगर का मुँह फाड़ डाला। उस अजगर को मारकर शिकारी ने दमयन्ती को मौत के मुँह से बचा लिया। फिर जल से दमयन्ती का शरीर धोकर उसने धैर्य

कस्य त्वं मृगशावाक्षि! कथं चाऽभ्यागता वनम्।
कथं चेदं महत्कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भाविनि ! ॥ ३० ॥
दमयन्ती तथा तेन पृच्छ्यमाना विशांपते ! ।
सर्वमेतद्यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ! ॥ ३१ ॥
तामर्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ३२ ॥
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम् ।
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमीयिवान् ॥ ३३ ॥
तामेवं श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया ।
सान्त्वयामास कामार्तस्तदबुध्यत भाविनी ॥ ३४ ॥
दमयन्त्यपि तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता ।
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ॥ ३५ ॥
स तु पापमतिः क्षुद्रः प्रधर्षयितुमातुरः ।
दुर्धर्षां तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ॥ ३६ ॥
दमयन्ती तु दुःखार्ता पतिराज्यविनाकृता ।
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषान्विता ॥ ३७ ॥
यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथाऽयं पततां क्षुद्रः परासुर्मृगजीवनः ॥ ३८ ॥

देते हुए, पूछा-हे मृगशावकनयनी ! तुम किसकी स्त्री हो ? यहां तुम अकेली किसलिये आई हो ! ऐसी बुरी दशा तुम्हारी क्यों हुई ? ॥२६।३०॥

यह सुनकर दमयन्ती ने आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त कह सुनाया। नीच प्रकृति व्याध आधी धोती पहने हुई दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य को देखकर उसपर मोहित हो गया। दमयन्ती के उभरे हुए स्तन; ऊँचे सुन्दर नितम्ब, पूर्णचन्द्र के समान मुख-मण्डल, मनोहर भौंहों से शोभायमान नेत्र देखकर और मधुर वाणी सुनकर कामदेव के वश हो गया। वह अनेक प्रकार के मधुर वचनों से दमयन्ती को शान्त करने लगा। दमयन्ती उसके भाव को तुरन्त जान गई और पतिव्रत धर्म से महाकोपित होकर अग्नि के समान प्रज्वलित हो गई ॥३१।३५॥

उस समय उस पापी नीच और आतुर व्याध ने विचारा कि इसके साथ बरजोरी करूँ और दमयन्ती ने उसे बहुत प्रकार से समझाया परन्तु जब वह नहीं माना तब दमयन्ती ने उसे यह शाप दिया कि जो

उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचने त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥६३॥

मैंने नल के सिवाय किसी अन्य पुरुष को मन से भी स्मरण न किया हो तो यह नीच-प्रकृति व्याध निर्जीव होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। यह शाप देते ही वह व्याध इस प्रकार से प्राण रहित होकर गिर पड़ा जैसे अग्नि से जला हुआ वृक्ष पृथ्वी पर गिर पड़ता है ॥३६।३९॥

वनपर्व का तिरसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

बृहदश्व उवाच–सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा ।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम् ॥ १ ॥
सिंहद्वीपिरुरुव्याघ्रमहिषर्क्षगणैर्युतम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम् ॥ २ ॥
शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेंगुदकिंशुकैः ।
अर्जुनारिष्टसंच्छन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः ॥ ३ ॥
जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरसालवेत्रसमाकुलम् ।
पद्मकामलकप्लक्षकदम्बोदुम्बरावृतम् ॥ ४ ॥
वदरीविल्वसंच्छन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम् ।
प्रियालतालखर्जूरहरीतकिविभीतकैः ॥ ५ ॥
नानाधातुशतैर्नद्धान्विविधानपि चाऽचलान् ।
निकुञ्जान्परिसंघुष्टान्दरीश्चाऽद्भुतदर्शनाः ॥ ६ ॥

चौंसठवां अध्याय ॥ ६४ ॥

बृहदश्व कहते हैं–हे युधिष्ठिर ! उस व्याध को मारकर वह कमललोचन दमयन्ती उस वन में अकेली धैर्य धारण कर नल को ढूँढ़ती हुई विचरने लगी। भयानक आकार के सैंकड़ों जङ्गली जीव उस वन में रहते थे। कहीं पर सिंह, हाथी, व्याघ्र, भैंसे, रीछ और अनेक प्रकार के जीव उस वन में इच्छा के अनुसार विचर रहे थे। कहीं पर अनेक प्रकार के पक्षी वृक्षों की डालियों पर बैठे थे। कहीं पर म्लेच्छ जाति के डाकू दल बांधे हुए रहते थे। बीच बीच में अनेक प्रकार के वृक्ष लग रहे थे। वहां पर शाल, वेणु, धव, पीपल, तेंदू, इंगुद, किंशुक, अर्जुन, अरिष्ट, स्यंदन, शाल्मली, जामुन, आम्र, लोध, खैर, साल, वेत्र, पद्मक, आँवला, प्लक्ष, कदम्ब, उदुम्बर, बेर, बेल, मेंहुड़, बरगद, पियाल, ताड़, खजूर, हरड़

नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान् ।
सा बहून्भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ७ ॥
पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः ।
सरितो निर्झरांश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान् ॥ ८ ॥
यूथशो ददृशे चाऽत्र विदर्भाधिपनन्दिनी ।
महिषांश्च वराहांश्च ऋक्षांश्च वनपन्नगान् ॥ ९ ॥
तेजसा यशसा लक्ष्म्या स्थित्या च परया युता ।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा ॥ १० ॥
नाऽबिभ्यत्सा नृपसुता भैमी तत्राऽथ कस्यचित् ।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनपीडिता ॥ ११ ॥
विदर्भतनया राजन् ! विललाप सुदुःखिता ।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलमथाऽऽश्रिता ॥ १२ ॥
दमयन्त्युवाच—व्यूढोरस्क ! महाबाहो ! नैषधानां जनाधिप ! ।
क्व नु राजन्! गतोऽस्यद्य विसृज्य विजने वने ॥ १३ ॥
अश्वमेधादिभिर्वीर ! क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र ! मयि मिथ्या प्रवर्तसे ॥ १४ ॥
यत्त्वयोक्तं नरश्रेष्ठ ! मत्समक्षं महाद्युते ! ।

और बहेड़ा आदि अनेक प्रकार के वृक्ष चारों ओर उगे हुए थे। दमयन्ती ने इस वन में नाना प्रकार-वाले अनेक पर्वत, भयानक कन्दराएँ; नदी, सरोवर, बावली, पल्वल, तड़ाग, पहाड़ों की चोटियां और झरने देखे परन्तु नल का कहीं पता न लगा और बहुत से स्थानों पर अनेक प्रकार के पक्षी, मृग, भयानक रूपवाले पिशाच, उरग, राक्षस, भैंसे, वाराह, रीछ और सर्पों के झुण्ड के झुण्ड देखे परन्तु वह अपने पति के वियोग में ऐसी दुःखी थी कि सब दुर्गम स्थानों और मार्गों में चली गई किसी का उसको भय नहीं लगा ॥१।११॥

जब ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हार गई और कहीं कुछ पता न लगा तब वह एक शिला पर बैठकर विलाप करने लगी। हे निषद देश के स्वामी! मुझे इस निर्जन वन में छोड़कर कहां चले गये? हाय नाथ! तुमने अश्वमेध आदि बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ करके मेरे साथ झूटा बर्ताव कैसे किया? तुम तो नरोत्तम तेजस्वी और राजाओं में श्रेष्ठ हो। तुमको वह बात स्मरण करनी चाहिये जो तुमने मुझसे पहले कही थी और हंसों ने जो कुछ आपसे और मुझसे कहा था उसे भी आपको विचारना उचित है। हे महाराज! केवल सत्य ही अच्छी तरह चारों वेद पढ़ने के तुल्य

स्त्वतुमर्हसि कल्याण ! वचनं पार्थिवर्षभ ! ॥ १५ ॥
यच्चोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप ! ।
मत्समक्षं यदुक्तं च तदवेक्षितुमर्हसि ॥ १६ ॥
चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः ।
स्वधीता मनुजव्याघ्र ! सत्यमेकं किलैकतः ॥ १७ ॥
तस्मादर्हसि शत्रुघ्न ! सत्यं कर्तुं नरेश्वर ! ।
उक्तवानसि यद्वीर ! मत्सकाशे पुरा वचः ॥ १८ ॥
हा वीर नल नामाऽहं नष्टा किल तवाऽनघ ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ १९ ॥
कर्षयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः ।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि ॥ २० ॥
न मे त्वदन्या काचिद्धि प्रियाऽस्तीत्यब्रवीः सदा ।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप ॥ २१ ॥
उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप ।
ईप्सितामीप्सितोऽसि त्वं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २२ ॥
कृशां दीनां विवर्णां च मलिनां वसुधाधिप ।
वस्त्रार्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत् ॥ २३ ॥

है । इस कारण इस समय तुमको पहले की प्रतिज्ञा सत्य करनी चाहिये । हाय प्राणनाथ ! भला तुम मुझसे क्यों नहीं बोलते ? मैं तुम्हारे वियोग में नष्ट हुई हूँ । देखो महाराज ! यह अत्यन्त भयानक रूपवाला सिंह अपने कराल मुख को खोले हुए मुझे खाना चाहता है । तुम आकर इसको क्यों नहीं रोकते ? ॥१२।२०॥

तुम तो पहले कहा करते थे कि तू मुझे प्राणों से भी बढ़कर प्यारी है; फिर इस समय अपने उस कथन के विरुद्ध काम क्यों कर रहे हो ? हाय प्राणवल्लभ ! तुम्हीं मेरे जीवन के आधार हो। तुम्हारी प्यारी दमयन्ती तुम्हारे विरह में पागलों की तरह जङ्गल में रोती हुई तुमको ढूँढ़ रही है । इस समय इस अभागिन से तुम बोलते क्यों नहीं ? हाय नाथ ! मैं केवल आधा वस्त्र पहने अपने झुण्ड से बिछुड़ी हुई कुररी की तरह मलिन वेश में जगह-जगह तुमको खोज रही हूँ । यह जानकर भी तुम क्यों नहीं आकर अपने मधुर वचनों से मुझे दिलासा देते ? हाय नाथ ! हाय दमयन्ती-वल्लभ ! तुम्हारी पतिव्रता भार्या अकेली इस निर्जन वन में रोती हुई बारम्बार तुमको पुकार रही है । तुम उत्तर देकर क्यों नहीं अपनी दासी को सान्त्वना देते ? हे पुरु-

यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन ।
न मानयसि मामार्य रुदन्तीमरिकर्शन ॥ २४ ॥
महाराज महारण्ये अहमेकाकिनी सती ।
दमयन्त्यभिभाषे त्वां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २५ ॥
कुलशीलोपसंपन्न चारुसर्वाङ्गशोभन ।
नाऽद्य त्वां प्रतिपश्यामि गिरावस्मिन्नरोत्तम ॥ २६ ॥
वने चाऽस्मिन्महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते ।
शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप ॥ २७ ॥
प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्धन ।
क नु पृच्छामि दु खार्ता त्वदर्थे शोककर्शिता ॥ २८ ॥
कच्चिद्दृष्टस्त्वयाऽऽरण्ये सगत्येह नलो नृप ।
को नु मे वाऽथ प्रष्टव्यो वनेऽस्मिन्प्रस्थित नलम् ॥ २९ ॥
अभिरूपं महात्मान परव्यूहविनाशनम् ।
यमन्वेषसि राजानं नल पद्मनिभेक्षणम् ॥ ३० ॥
अयं स इति कस्याऽद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम् ।
अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः ॥ ३१ ॥
शार्दूलोऽभिमुखोऽभ्येति व्रजाम्येनमशङ्किता ।
भवान्मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन्कानने प्रभुः ॥ ३२ ॥

श्रेष्ठ! मुझे इस पर्वत में तुम्हारा सर्वाङ्गसुन्दर शरीर नहीं देख पड़ता। हाय नाथ! इस भयानक वन में बाघ और भालू भरे हुए हैं। इसमें तुम कहाँ पर बैठे हो या सोते हो या घूम रहे हो, यह मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पाती। हाय नाथ! मैं किससे पूछूँ कि तुमने उन महात्मा नल को देखा है जिनके कमलदल नेत्र हैं, और जो शत्रुओं का नाश कर देते हैं? यहाँ मुझसे कौन पूछनेवाला है कि तुम किसे ढूँढ़ रही हो? ॥२४-३०॥

कौन मुझे तुम्हारी सूचना देकर मेरे जलते हुए हृदय को ठण्डा करेगा? यह भयानक सिंह कराल मुँह फैलाकर मेरे सामने चला आ रहा है। चलूँ, डर छोड़कर इसी से पूछूँ। [यों निश्चय करके दमयन्ती सिंह के पास गई] वह उससे पूछने लगी—हे मृगराज! तुम इस वन में रहनेवाले पशुओं के राजा हो। मैं विदर्भराज की पुत्री और निषध देश के राजा नल की भार्या हूँ। मेरा नाम दमयन्ती है। इस समय पति के वियोग के शोक से व्याकुल होकर मैं अकेली

विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम् ।
निषधाधिपतेर्भार्यां नलस्याऽमित्रघातिनः ॥ ३३ ॥
पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्शिताम् ।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ॥ ३४ ॥
अथवा त्वं वनपते नलं यदि न शंससि ।
मां खादय मृगश्रेष्ठ दुःखादस्माद्विमोचय ॥ ३५ ॥
श्रुत्वाऽऽरण्ये विलपितं न मामाश्वासयत्ययम् ।
यामिमां स्वादुसलिलामापगां सागरंगमाम् ॥ ३६ ॥
इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः ।
विराजद्भिरिवाऽनेकैर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ॥ ३७ ॥
नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम् ।
अस्याऽऽरण्यस्य महतः केतुभूतमिवोत्थितम् ॥ ३८ ॥
सिंहशार्दूलमातंगवराहर्क्षमृगायुतम् ।
पतत्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ॥ ३९ ॥
किंशुकाशोकबकुलपुन्नागैरुपशोभितम् ।
कर्णिकारधवप्लक्षैः सुपुष्पैरुपशोभितम् ॥ ४० ॥
सारिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्च समाकुलम् ।

को खोज रही हूं, किन्तु उनके दर्शन नहीं कर पाती। तुमने जो महात्मा नल को कहीं देखा हो तो सूचना देकर मेरे प्राण बचाओ; और, नहीं तो मुझे खाकर मेरे सब सन्ताप दूर कर दो। [सिंह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरी ओर चला गया।] तब दमयन्ती पागल सी होकर कहने लगी—हाय! यह शार्दूल भी मेरे विलाप को सुनकर मुझे धैर्य नहीं देता है। अब मैं इस नदी के पास जाकर पूछूं जिसका जल स्वादिष्ट है और समुद्र में जाकर मिलती है; अथवा इस पर्वतराज को अपने दुःख का हाल सुनाकर नल का पता पूछूं। इस पर्वत के अनेक रङ्गवाले ऊंचे ऊंचे शिखर हैं, इसमें अनेक प्रकार की धातुएं और तरह-तरह के पत्थर हैं; यह पर्वत वन के बीच में ध्वजा की तरह ऊँचा है और इसमें सिंह, हाथी, रीछ, मृग, सुअर आदि रहते हैं। इसमें तरह-तरह के पक्षी भी बोलते रहते हैं; ढाक, अशोक, मौलसिरी, पुन्नाग, कनैर, धव और प्लक्ष के फूले हुए पेड़ हैं और इसपर ऐसी नदियां बहती हैं जिनके किनारों पर पक्षी किलोलें करते हैं तथा जिनमें चट्टानें हैं ॥३३।४०॥

इस पर्वत को सम्बोधन करके दमयन्ती ने कहा—हे पर्वतराज! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूं। मैं राजा की पुत्री राजा की पुत्रवधू और राजा ही की भार्या

गिरिराजमिमं तावत्पृच्छामि नृपतिं प्रति ॥ ४१ ॥
भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत ।
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ॥ ४२ ॥
प्रणमे त्वाऽभिगम्याऽहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
राज्ञः स्नुषां राजभार्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ॥ ४३ ॥
राजा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
भीमो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥ ४४ ॥
राजसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
आहर्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ४५ ॥
ब्रह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
शीलवान्वीर्यसंपन्नः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ॥ ४६ ॥
सम्यग्गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
तस्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ॥ ४७ ॥
निषधेषु महाराजः श्वशुरो मे नरोत्तमः ।
गृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ॥ ४८ ॥
तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान्सत्यपराक्रमः ।
क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह ॥ ४९ ॥
नलो नामाऽरिहा श्यामः पुण्यश्लोक इति श्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद्वाग्मी पुण्यकृत्सोमपोऽग्निमान् ॥ ५० ॥

हूँ। मेरा नाम दमयन्ती है। मैं पति से बिछुड़ी हुई, अनाथ, दुःखी और अपने पति को खोजती हुई तुम्हारे पास आई हूँ। तुमको प्रणाम करके एक बात पूछती हूँ। इधर देखकर मेरे प्राणों की रक्षा कीजिए। मेरे पिता का नाम भीम है। वह विदर्भ देश का स्वामी, महारथी, चारों वर्णों का रक्षक, राजाओं में श्रेष्ठ, राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का करनेवाला, प्रम ब्राह्मण अति और परमात्मा का भक्त, साधुस्वभाव, सत्यवादी, दूसरे के गुणों में दोष न लगानेवाला, शीलवान्, पराक्रमी, लक्ष्मीवान्, धर्मज्ञ पवित्र, शत्रुओं को जीतनेवाला और प्रभु है। और मेरे ससुर का नाम वीरसेन है जो निषध देश के स्वामी और नरोत्तम हैं। उनके पुत्र का नाम राजा नल है जो मेरे पति हैं। और वीर, श्रीमान्, सत्यपराक्रमी, पिता के राज्य और धन का शासन करनेवाले, शत्रु को मारनेवाले, ब्रह्मण्य, वेदों को जाननेवाले, बोलने में बड़े चतुर, पवित्र कर्म के

यस्य दाता च योद्धा च सम्यक्चैव प्रशासिता ।
तस्य मामबलां श्रेष्ठां विद्धि भार्यामिहाऽऽगताम् ॥ ५१ ॥
त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम् ।
अन्वेषमाणां भर्तारं त्वं मां पर्वतसत्तम ॥ ५२ ॥
समुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृपः ।
कच्चिद्द् दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन्वा नलो नृपः ॥ ५३ ॥
गजेन्द्रविक्रमो धीमान्दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्त्ववान्वीरो भर्ता मम महायशाः ॥ ५४ ॥
निषधानामधिपतिः कच्चिद्द् दृष्टस्त्वया नलः ।
किं मां विलपतीमेकां पर्वतश्रेष्ठ विह्वलाम् ॥ ५५ ॥
गिरा नाऽऽश्वासयस्यद्य स्वां सुतामिव दुःखिताम् ।
वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसन्ध महीपते ॥ ५६ ॥
यद्यस्यस्मिन्वने राजन् दर्शयाऽऽत्मानमात्मना ।
कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसंनिभाम् ॥ ५७ ॥
श्रोष्यामि नैषधस्याऽहं वाचं तामसृतोपमाम् ।
वैदर्भीत्येव विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ॥ ५८ ॥
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।
भीतामाश्वासयत्त मां नृपते धर्मवत्सल ॥ ५९ ॥
इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी ।

दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ ६० ॥
सा गत्वा त्रीनहोरात्रान् ददर्श परमाङ्गना ।
तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननशोभितम् ॥ ६१ ॥
वसिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम् ।
नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ॥ ६२ ॥
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पत्राहारैस्तथैव च ।
जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गदिदृक्षुभिः ॥ ६३ ॥
वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः ।
तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाऽऽश्रममण्डलम् ॥ ६४ ॥
नानामृगगणैर्जुष्टं शाखामृगगणायुतम् ।
तापसैः समुपेतं च सा दृष्ट्वैव समाश्वसत् ॥ ६५ ॥
सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना ।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ॥ ६६ ॥
सा विवेशाऽऽश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ।
योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती तपस्विनी ॥ ६७ ॥
माऽभिवाद्य तपोवृद्धान्विनयावनता स्थिता ।
स्वागतं त इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसोत्तमैः ॥ ६८ ॥

तुम अदीन और मेरे शोक को दूर करनेवाली हो। हे धर्मात्मा राजा नल ! अब शीघ्र यहा आकर मुझ डरी हुई को धैर्य दीजिये। इसके पीछे दमयन्ती उक्त प्रकार से विलाप करती हुई उत्तर दिशा को चली गई ॥५९।६०॥

इस प्रकार तीन दिन तक दिन रात चलकर, कुछ दूर जाने पर, दमयन्ती एक बड़े तपस्वियों के वन में पहुँची। उस वन में दिव्य कानन थे और वशिष्ठ, भृगु और आत्रेय आदि बड़े बड़े ऋषियों के समान जितेन्द्रिय, निराहार रहनेवाले, दमपरायण, जल वायुभक्षी, पत्र शाक से निर्वाह करनेवाले, वल्कल-वस्त्र और मृगछालाधारी मुनि लोग रहते थे। दमयन्ती ने वहा पहुँचकर उन तपस्वियों के रहने के आश्रम देखे जो अनेक प्रकार के मृगों से युक्त और तपस्वियों के समूह से सुशोभित थे उनको देखकर दमयन्ती को धैर्य हुआ। सुन्दर भौंह, सुन्दर केश, सुन्दर नितम्ब, उभरे हुए स्तन, चन्द्रतुल्य मुख आदि अङ्गों से शोभित और अनुपम रूप लावण्यवाली वह दमयन्ती तपस्वियों के उस आश्रम में गई। वहा कुछ दिलासा पाकर दमयन्ती ने ऋषियों को प्रणाम किया। फिर नम्रतापूर्वक सिर झुकाकर वह एक ओर खड़ी हो गई। तपस्वियों ने दमयन्ती से कुशल प्रश्न करके उसका

पूजां चाऽस्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः ।
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ॥ ६९ ॥
तानुवाच वरारोहा कच्चिद्भगवतामिह ।
तपःस्वग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चाऽनघाः ॥ ७० ॥
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च ।
तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनि ॥ ७१ ॥
ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किं च चिकीर्षसि ।
दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिं च परमामिह ॥ ७२ ॥
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वसिहि मा शुचः ।
अस्याऽरण्यस्य देवी त्वमुताहोऽस्य महीभृतः ॥ ७३ ॥
अस्याश्च नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते ।
साऽब्रवीत्तानृषीन्नाऽहमरण्यस्याऽस्य देवता ॥ ७४ ॥
न चाऽप्यस्य गिरेर्विप्रा नैव नद्याश्च देवता ।
मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ॥ ७५ ॥
विस्तरेणाऽभिधास्यामि तन्मे श्रृणुत सर्वशः ।
विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महीपतिः ॥ ७६ ॥
तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः ।

विधिपूर्वक सत्कार किया और फिर आसन देकर बैठने के लिये कहा। उपरान्त उन तपस्वियों ने उससे कहा—कहो, हम लोग तुम्हारा क्या कार्य करें? दमयन्ती ने पूछा—हे महाभाग तपस्वियो! आप लोग सर्वथा कुशलपूर्वक हैं न? तप, जल, अग्नि, धर्म, मृग और पक्षी तो निर्विघ्न हैं न? ॥६९।७०॥

दमयन्ती के कुशल-प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देकर तपस्वियों ने कहा—हे भद्रे! हे यशस्विनी! हे सुन्दरी! तुम कौन हो? तुम्हारा तात्पर्य क्या है? तुम्हारा असाधारण रूप और कमनीय कान्ति देखकर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ है। हे पुत्री! धीरज धरो। अब रोओ मत। हे कल्याणी! क्या तुम इस वन या पहाड़ अथवा नदी की देवी हो। हे सुन्दरी! तुम अपना ठीक-ठीक परिचय देकर हमारे सन्देह को दूर करो। यह सुनकर दमयन्ती ने कहा—हे ऋषियो! मैं पहाड़ वन और नदी की देवी नहीं हूँ मैं मानुषी हूँ। मेरा सब वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुनिये। मैं राजा भीम की पुत्री हूँ जो विदर्भदेश के स्वामी और पृथ्वी के पालन करनेवाले हैं। और निषध देश के राजा नल मेरे पति हैं जो बड़े बुद्धिमान्, यशस्वी, विद्वान्, संग्राम में सदा विजय प्राप्त करनेवाले, देवताओं के पूजन में तत्पर, ब्राह्मणों पर अनुराग रखने-

वीरः संग्रामजिद्विद्वान्मम भर्ता विशांपतिः ।
देवताभ्यर्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ॥ ७८ ॥
गोप्ता निषधवंशस्य महातेजा महाबलः ।
सत्यवान्धर्मविरप्राज्ञः सत्यसंधोऽरिमर्दनः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान्परपुरञ्जयः ।
नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः ॥ ८० ॥
मम भर्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा ।
आहर्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ८१ ॥
सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः ।
स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ ८२ ॥
आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः ।
देवने कुशलैर्जिह्मैर्हृतं राज्यं वसूनि च ॥ ८३ ॥
तस्य मामवगच्छध्वं भार्यां राजर्षभस्य वै ।
दमयन्तीति विख्यातां भर्तुर्दर्शनलालसाम् ॥ ८४ ॥
सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा ।
पल्वलानि च सर्वाणि तथाऽरण्यानि सर्वशः ॥ ८५ ॥
अन्वेषमाणा भर्तारं नलं रणविशारदम् ।
महात्मानं कृतास्त्रं च विचरामीह दुःखिता ॥ ८६ ॥

वाले, निषध-वंश के रक्षक, बड़े तेजस्वी, पराक्रमी, सत्यवादी, धर्मज्ञ, बड़े ज्ञानी, सत्यप्रतिज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ, देवपरायण, श्रीमान्, शत्रुओं का नाश करनेवाले, राजाओं में श्रेष्ठ, इन्द्र के समान तेजस्वी, विशालाक्ष, पूर्णचन्द्र के समान कान्तिशाली, बड़े-बड़े यज्ञों के करनेवाले, वेद और वेदाङ्ग के जाननेवाले, सूर्य और चन्द्रमा की सी प्रभा रखनेवाले और युद्ध में शत्रुओं को जीतनेवाले हैं ॥७१।८२॥

वे मेरे पति किसी छली, नीच और मलिन मन, ज्वारी और कुटिल मनुष्य से जुए में सब राज्य और धन हारकर चले गये है । मैं उनकी दमयन्ती स्त्री हूँ । उनके वियोग में उनके दर्शनों की इच्छा से दु.खी होकर पहाड़, नदी, सरोवर, वन और दूसरे स्थानों में उन्हें ढूँढ़ती हुई यहां आ पहुंची हूँ कदाचित् वे मेरे स्वामी इस तपोवन में न होवें उन्हीं के कारण से मैं इस वन में आई हूँ जिसमें शार्दूल रहा करते

कच्चिद्भगवतां रम्यं तपोवनमिदं नृपः ।
भवेत्प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ॥ ८७ ॥
यत्कृतेऽहमिदं ब्रह्मन्प्रपन्ना भृशदारुणम् ।
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ॥ ८८ ॥
यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम् ।
आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्याऽस्य विमोचनात् ॥ ८९ ॥
को नु मे जीवितेनाऽर्थस्तमृते पुरुषर्षभम् ।
कथं भविष्याम्यद्याऽहं भर्तृशोकाभिपीडिता ॥ ९० ॥
तथा विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम् ।
दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यदर्शिनः ॥ ९१ ॥
उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे ।
वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ॥ ९२ ॥
निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिपातिनम् ।
भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ॥ ९३ ॥
विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम् ।
तदेव नगरं श्रेष्ठं प्रशासतमरिन्दमम् ॥ ९४ ॥
द्विषतां भयकर्तारं सुहृदां शोकनाशनम् ।
पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम् ॥ ९५ ॥

हैं। जो कुछ दिनों में वे राजा नल मुझको नहीं मिलेंगे तो इस शरीर को त्यागकर मैं स्वर्गवास करूँगी क्योंकि उनके बिना मेरा जीना व्यर्थ है। मैं किसी तरह उनके वियोग की व्यथा न सह सकूँगी ॥८३।९०॥

तब ऋषियों ने दमयन्ती का विलाप सुनकर कहा—हे शुभे ! आगे तुमको कल्याण और सुख प्राप्त होगा। हम लोग तप के प्रभाव से अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा देख रहे हैं कि तुम बहुत शीघ्र अपने पति से मिलोगी। तुम शीघ्र ही देखोगी कि तुम्हारे पति राजा नल सब दुःखों से छुटकारा पाकर, फिर पहले की तरह अतुल ऐश्वर्य के अधिकारी हुए हैं। सिंहासन पर बैठकर वे नीति के अनुसार राजधर्म का पालन करेंगे। वे प्रजा के पालन, दस्युओं के दमन और भाई-बन्धुओं की सुख-समृद्धि बढ़ाने का यत्न करेंगे। इस प्रकार दमयन्ती को यों तसल्ली देकर वे तपस्वी लोग अपने अग्निहोत्र और आश्रम आदि सहित वहीं अन्तर्द्धान हो गये। अब दमयन्ती यह देखकर सोचने लगी कि अब यह और क्या

एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम् ।
तापसान्तर्हिताः सर्वे साग्निहोत्राश्रमास्तथा ॥ ९६ ॥
स दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता ह्यभवत्तदा ।
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ॥ ९७ ॥
किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाऽभवत् ।
क नु ते तापसाः सर्वे क तदाश्रममण्डलम् ॥ ९८ ॥
क सा पुण्यजला रम्या नदी द्विजनिषेविता ।
क नु ते ह नगा हृद्याः फलपुष्पोपशोभिताः ॥ ९९ ॥
ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता ।
भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाऽभवत् ॥१००॥
सा गत्वाऽथाऽपरां भूमिं बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
विललापाऽश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाऽशोकतरुं ततः ॥१०१॥
उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं वने ।
पल्लवापीडितं हृद्यं विहंगैरनुनादितम् ॥१०२॥
अहो बताऽयमगमः श्रीमानस्मिन्वनान्तरे ।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान्पर्वतराडिव ॥१०३॥
विशोकां कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन ।
वीतशोकभयाबाधं कच्चित्त्वं दृष्टवान्नृपम् ॥१०४॥

अद्भुत घटना हुई । मैंने क्या यह स्वप्न देखा ! वह आश्रम कहां गया ! पवित्र जलवाली वह नदी कहां गई ! वे सुन्दर वृक्ष कहां गये जिनमें फल और फूल लगे हुए थे ! जिन महात्माओं से मैं अभी बातचीत कर रही थी वे सब कहां चले गये ! बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! दमयन्ती कुछ देर तक तो यह सोच करती रही उपरान्त अपने पति के शोक में फिर दीन और विवर्ण हो गई ॥९१॥१००॥

वे विलाप करती हुई किसी अन्य स्थान पर पहुँची। वहां उसने एक अशोक का वृक्ष देखा। वह वृक्ष फूलों से लद रहा था। उसके तांबे के रङ्ग के नये पल्लव वायु से हिल रहे थे। नाना प्रकार के पक्षी उस वृक्ष की डालियों पर बैठे हुए मधुर स्वर से बोल रहे थे । शोक से व्याकुल हुई दमयन्ती जिसकी आंखों में आंसू भर रहे थे गद्गद् स्वर से विलाप करती हुई उस अशोक के वृक्ष के पास पहुँची । वे कहने लगी—आहा ! यह अशोक का वृक्ष अपनी डालियां फैलाकर वन की कैसी शोभा बढ़ा रहा है।

नलं नामाऽरिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम् ।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ॥१०५॥
एकवस्त्रार्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम् ।
व्यसनेनाऽर्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ॥१०६॥
यथा विशोका गच्छेयमशोक नग तत्कुरु ।
सत्यनामा भवाऽशोक अशोकः शोकनाशनः ॥१०७॥
एवं साऽशोकवृक्षं तमार्ता वै परिगम्य ह ।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ॥१०८॥
सा ददर्श नगान्नैकान्नैकाश्च सरितस्तथा ।
नैकांश्च पर्वतान्रम्यान्नैकांश्च मृगपक्षिणः ॥१०९॥
कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदीश्चाऽद्भुतदर्शनाः ।
ददर्श तान्भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ॥११०॥
गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
ददर्शाऽथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥१११॥
उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम् ।
सुशीततोयां विस्तीर्णां ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम् ॥११२॥
प्रोद्घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्चक्रवाकोपकूजिताम् ।

इसे एकाएक देखने से ऊँचे शिखरों से शोभित पर्वत की शोभा होती है। हे अशोक के वृक्ष! तुम मुझे बहुत प्यारे लग रहे हो। मैं तुम्हारे पास आई हूं। तुम शीघ्र मेरे शोक को दूर कर दो। तुमने क्या मेरे पति राजा नल को इधर आते देखा है? अपने सुकुमार शरीर को आधी धोती से ढककर इसी वन में आये हैं। हे अशोक! तुम यह यत्न करो जिससे मैं तुम्हारे पास से शोक रहित होकर जा सकूं। शीघ्र मेरा शोक हटाकर अपने नाम को सार्थक करो। राजा भीम की कन्या, दमयन्ती पति के शोक से व्याकुल होकर अशोक वृक्ष के पास से आगे बढ़ी। वह इधर उधर राजा नल की तलाश करती हुई एक अत्यन्त भयानक स्थान में आ पहुँची। वहां उसने बहुत से वृक्ष, नद, नदी, पर्वत, मृग और पक्षी देखे और पर्वत की कन्दराओं को देखती हुई एक ऊँची लहरों से शोभित स्वच्छ जलवाली नदी के किनारे पहुँची ॥१०९।११०॥

उसके दोनों ओर बेत और झाऊ के वन थे। क्रौञ्च, कुरर, सारस, चकवाक आदि जलचर जीव मधुर स्वर से गीत सा गाते हुए जल के ऊपर उड़-उड़कर विचर रहे थे। कछुए, मछली, मगर आदि जलचर जीव आनन्द से जल में कलोलें कर रहे थे।

कूर्मग्राहझषाकीर्णां विपुलद्वीपशोभिताम् ॥ ११३ ॥
सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी ।
उपसर्प वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ॥ ११४ ॥
उन्मत्तरूपा शोकार्ता तथा वस्त्रार्धसंवृता ।
कृशा विवर्णा मलिना पांसुध्वस्तशिरोरुहा ॥ ११५ ॥
तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद्भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तापरा जग्मुः केचित्तत्र विचुक्रुशुः ॥ ११६ ॥
प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्ति चाऽपरे ।
अकुर्वत दयां केचित्पप्रच्छुश्चापि भारत ॥ ११७ ॥
काऽसि कस्याऽसि कल्याणि किं वा मृगयसे वने ।
त्वां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह कच्चित्त्वमसि मानुषी ॥ ११८ ॥
वद सत्यं वनस्याऽस्य पर्वतस्याऽथवा दिशः ।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥ ११९ ॥
यक्षी वा राक्षसी वा त्वमुताहोऽसि वराङ्गना ।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्ष वाऽस्माननिन्दिते ॥ १२० ॥
यथाऽयं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत् ।

उस समय उस नदी पर एक बड़ा जनसमूह अर्थात् काफला जिसके साथ बहुत से हाथी, घोड़े और रथ थे उतर रहा था। दमयन्ती उस काफले को देखकर शीघ्र वहां पहुंची और उन्हीं के बीच में मिल गई। पति के शोक से विह्वल, आधा वस्त्र पहने हुए, दुर्बल और धूल में भरी हुई दमयन्ती को देखकर बहुत से मनुष्य डर के मारे भागने लगे, कोई चिन्ता करने लगे, कोई पुकारने लगे, कोई तरह-तरह के सन्देह करके दमयन्ती के ऊपर अनेक प्रकार के दोषों का आरोपन करने लगे। कई मनुष्यों ने उसे देखकर उसकी हंसी की। उनमें कुछ श्रेष्ठ मनुष्य भी थे। दमयन्ती के अङ्ग ढङ्ग देखकर उन्हें दया आई, उनमें से किसी एक ने पूछा—हे कल्याणी! तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो और इस वन में क्या ढूँढ़ रही हो? तुम्हारी दशा देखकर हमें बड़ा दुःख हो रहा है। तुम अपना परिचय देकर हमारी उत्कण्ठा दूर करो। तुम क्या मानुषी हो? या इस वन, पहाड़ और दिशा की अधिष्ठात्री देवी हो? या यक्ष अथवा राक्षस की कन्या हो? जो हो, हम तुम्हारे शरणागत हैं। शीघ्र अपना परिचय देकर हमारे सन्देह को दूर करो। तुम ऐसा करो कि मार्ग में हमें किसी प्रकार के विघ्न का सामना न करना पड़े ॥११।१२०॥

यह सुनकर दमयन्ती उस काफले के स्वामी और बालक, वृद्ध और जवान मनुष्यों से जो उसके

तथा विधत्स्व कल्याणि यथा श्रेयो हि नो भवेत् ॥१२१॥
तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा ।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनपीडिता ॥१२२॥
सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चाऽत्र केचन ।
युवस्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ॥१२३॥
मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम् ।
नृपस्नुषां राजभार्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥१२४॥
विदर्भराण्मम पिता भर्ता राजा च नैषधः ।
नलो नाम महाभागस्तं मार्गाम्यपराजितम् ॥१२५॥
यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम् ।
नलं पुरुषशार्दूलममित्रगणसूदनम् ॥१२६॥
तामुवाचाऽनवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः ।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः ॥१२७॥
अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते ।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ॥१२८॥
कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि ।
पश्याम्यस्मिन्वने कृत्स्ने ह्यमनुष्यनिषेविते ॥१२९॥
ऋते त्वां मानुषीं मर्त्यं न पश्यामि महावने ।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ॥१३०॥
साऽब्रवीद्वणिजः सर्वान्सार्थवाहं च तं ततः ।

सन्मुख खड़े हुए थे कहने लगी—मैं राजपुत्री, राजा की पुत्रवधू और राजा ही की भार्या हूँ और मानुषी हूँ। अपने पति के दर्शनों की इच्छा से यहां फिर रही हूँ। विदर्भ देश के महाराज भीम मेरे पिता हैं और निषध देश के राजा महाराज नल मेरे स्वामी हैं। सो मैं उन्हीं अपने पति को ढूँढ रही हूँ। यदि तुममें से किसी एक ने उनको देखा हो तो शीघ्र बतला दो। दमयन्ती के यों कहने पर शुचि नाम के उस काफले के स्वामी ने कहा—हे कल्याणी! मैं इस काफले का स्वामी हूँ। नल नाम का कोई मनुष्य मुझे कहीं नहीं दिखाई दिया। मैंने इस वन में अनेक प्रकार के पक्षी देखे हैं। भैंसा, रीछ, शार्दूल, मृग, हाथी और तरह-तरह के अनेक जीव जन्तु भी देखे हैं; किन्तु इस निर्जन वन में तुम्हारे सिवा और किसी

क नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ १३१ ॥

सार्थवाह उवाच—सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ।

क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ॥ १३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसार्थवाहसंगमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥६४॥

मनुष्य को नहीं देखा। यक्षों का राजा मणिभद्र हम पर प्रसन्न हो। यह सुनकर दमयन्ती ने पूछा—तुम्हारा काफला कहां को जायगा ? उन्होंने कहा—हम लोग लाभ की इच्छा से चेदिदेश के राजा सुबाहु के राज्य में जा रहे हैं ॥१३१।१३२॥

वनपर्व का चौंसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

बृहदश्व उवाच—सा तच्छ्रुत्वाऽनवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा ।

जगाम सह तेनैव सार्थेन पतिलालसा ॥ १ ॥

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे ।

तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ॥ २ ॥

ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम् ।

बहुपुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ॥ ३ ॥

निर्मलस्वादुसलिलं मनोहारि सुशीतलम् ।

सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ॥ ४ ॥

संमते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम् ।

उवास सार्थः सुमहान्वेलामासाद्य पश्चिमाम् ॥ ५ ॥

पैंसठवां अध्याय ॥ ६५ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! दमयन्ती सार्थवाहक की बात सुनकर पति के देखने की इच्छा से काफले के साथ हो ली। थोड़े दिनों में वह काफला भयानक वन में एक पद्म सौगन्धिक नाम के सरोवर के किनारे पहुँचा जिसमें कमल फूल रहे थे। उस काफले के व्यापारी लोग उस स्थान पर बैल, घोड़ों को घास, जलाने को ईंधन, पीने को सुन्दर स्वादिष्ट जल, खाने को मीठे फल, और आराम करने को सघन ठण्डी छाया देखकर सार्थवाहक से कहने लगे कि अब सायंकाल हो गया है। आप इसी स्थान पर विश्राम कीजिए। यह सुनकर सार्थवाहक ने वहीं ठहरने की आज्ञा दे दी और वह काफला वहीं ठहर गया ॥१।४॥

धीरे-धीरे रात हो गई। चारों ओर अंधेरा छा गया। थके हुए काफले के मनुष्य तुरन्त लेटकर खर्राटे लेने लगे। इस तरह आधी रात के लगभग

अथाऽर्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ॥ ६ ॥
पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ।
अथाऽपश्यत सार्थं तं सार्थजान्सुबहून्गजान् ॥ ७ ॥
ते तान्ग्राम्यगजान्दृष्ट्वा सर्वे वनगजास्तदा ।
समाद्रवन्त वेगेन जिघांसन्तो मदोत्कटाः ॥ ८ ॥
तेषामापततां वेगः करिणां दुःसहोऽभवत् ।
नगाग्रादिव शीर्णानां शृङ्गाणां पततां क्षितौ ॥ ९ ॥
स्पन्दतामपि नागानां मार्गा नष्टा वनोद्भवाः ।
मार्गं संरुध्य संसुप्तं पद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ॥ १० ॥
ते तं ममर्दुः सहसा चेष्टमानं महीतले ।
हाहाकारं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ॥ ११ ॥
वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा बहवोऽभवन् ।
केचिद्दन्तैः करैः केचित्केचित्पद्भ्यां हता गजैः ॥ १२ ॥
निहतोष्ट्राश्वबहुलाः पदातिजनसंकुलाः ।
भयादाधावमानाश्च परस्परहतास्तदा ॥ १३ ॥

व्यतीत हो जाने पर वन में सब जगह सन्नाटा छा गया। जिनके कपोलों पर मद बह रहा है उन हाथियों का एक झुण्ड इसी समय पहाड़ी नदी में जल पीने के लिये वहां पर आया। उस हाथियों के झुण्ड ने वहां काफ़ले के मनुष्य और उन मनुष्यों में कई हाथी देखे। वे वन के हाथी उन ग्राम के हाथियों के मारने को बड़े वेग से दौड़े। उनमें लड़ने, भिड़ने, दौड़ने और गिरने का ऐसा शब्द हुआ मानों पहाड़ की चोटियां पृथ्वी पर गिरती हैं। उनके गिरने से उस वन के सब मार्ग रुक गये और उस सरोवर के सोते भी बन्द हो गये। उन हाथियों के दौड़ने से काफ़ले के बहुत से मनुष्य हाथियों के पांव से दबकर मर गये और अकस्मात् निद्रा से उठकर इधर-उधर दौड़ने लगे। उन हाथियों ने बहुत से मनुष्यों को सूंड से पकड़कर मार डाला, बहुतों को दांतों से दबा दिया और बहुतों को पांव से दाबकर नष्ट किया। इस प्रकार से जब वे लोग मारे गये तब जो उनमें बच रहे थे वे चिल्लाते पुकारते टकराते और गिरते-पड़ते जहां तहां भागने लगे। उनमें से बहुत से महाविपत्ति देखकर अपनी जान बचाने के लिये वृक्षों पर चढ़ गये; किन्तु पहले से भी अधिक डर के मारे कांपते हुए वे ऊपर से गिर पड़े ॥५-१२॥

इस प्रकार से उस काफ़ले के बहुत से मनुष्य, ऊंट और घोड़े उन हाथियों ने मार डाले और ऐसा

घोरान्नादान्विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वारुह्य संरब्धाः पतिता विषमेषु च ॥ १४ ॥
एवंप्रकारैर्बहुभिर्दैवेनाऽऽक्रम्य हस्तिभिः ।
राजन्विनिहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ॥ १५ ॥
आरावः सुमहांश्चाऽऽसीत्त्रैलोक्यभयकारकः ।
एषोऽग्निरुत्थितः कष्टस्त्रायध्वं धावताऽधुना ॥ १६ ॥
रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृह्णीध्वं किं प्रधावत ।
सामान्यमेतद् द्रविणं न मिथ्या वचनं मम ॥ १७ ॥
एवमेवाऽभिभाषन्तो विद्रवन्ति भयात्तदा ।
पुनरेवाऽभिधास्यामि चिन्तयध्वं सकातराः ॥ १८ ॥
तस्मिंस्तथावर्तमाने दारुणे जनसंक्षये ।
दमयन्ती च बुबुधे भयसंत्रस्तमानसा ॥ १९ ॥
अपश्यद्वैशसं तत्र सर्वलोकभयंकरम् ।
अदृष्टपूर्वं तद्दृष्ट्वा बाला पद्मनिभेक्षणा ॥ २० ॥
संसक्तवदनाश्वासा उत्तस्थौ भयविह्वला ।
ये तु तत्र विनिर्मुक्ताः सार्थात्केचिदविक्षताः ॥ २१ ॥
तेऽब्रुवन्सहिताः सर्वे कस्येदं कर्मणः फलम् ।
नूनं न पूजितोऽस्माभिर्मणिभद्रो महायशाः ॥ २२ ॥

शब्द उन सब के चिल्लाने पुकारने का हुआ था कि उसको सुनकर त्रिलोकी को भय उत्पन्न हो जाय। चारों ओर सुन पड़ने लगा—हाय! कैसी भयानक आग जल उठी है, शीघ्र आकर हमारी रक्षा करो। हमारे ये धन और रत्नों के ढेर बिखरे पड़े हैं; इन्हें आकर उठाओ। यह सब धन हमारे लेखे बहुत ही साधारण है। इसे ले लो। कहां भागे चले जा रहे हो! इस प्रकार खेद-पूर्ण वचन कहकर, आर्तनाद करते हुए, काफले के मनुष्य अपनी-अपनी जानें लेकर इधर-उधर भागने लगे। मनुष्यों के मरने और घायल होने से जो भयानक कोलाहल मचा, उससे दमयन्ती की आंख खुल गई। कमल-नयनी दमयन्ती पहले कभी न देखे हुए भयानक नर-नाश को देखकर बहुत ही डरी और कांपती हुई उठ बैठी ॥१३।२०॥

उधर जो लोग इस दारुण विनाश से किसी तरह बच गये थे वे सब मिलकर परस्पर कहने लगे—इस आपत्ति के पड़ने का क्या कारण है? कोई बोला कि हम लोगों ने यशस्वी मणिभद्र की पूजा नहीं की,

यथा यक्षाधिपः श्रीमान्न वै वैश्रवणः प्रभुः ।
न पूजा विघ्नकर्तॄणामथवा प्रथमं कृता ॥ २३ ॥
शकुनानां फलं वाऽथ विपरीतमिदं ध्रुवम् ।
ग्रहा न विपरीतास्तु किमन्यदिदमागतम् ॥ २४ ॥
अपरेत्वब्रुवन्दीना ज्ञातिद्रव्यविनाकृताः ।
यासावद्य महासार्थे नारी ह्युन्मत्तदर्शना ॥ २५ ॥
प्रविष्टा विकृताकारा कृत्वा रूपममानुषम् ।
तयेयं विहिता पूर्वं माया परमदारुणा ॥ २६ ॥
राक्षसी वा ध्रुवं यक्षी पिशाची वा भयंकरी ।
तस्याः सर्वमिदं पापं नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ २७ ॥
यदि पश्याम तां पापां सार्थघ्नीं नैकदुःखदाम् ।
लोष्टभिः पांसुभिश्चैव तृणैः काष्ठैश्च मुष्टिभिः ॥ २८ ॥
अवश्यमेव हन्यामः सार्थस्य किल कृत्यकाम् ।
दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं तेषां सुदारुणम् ॥ २९ ॥
ह्रीता भीता च संविग्ना प्राद्रवद्यत्र काननम् ।
आशङ्कमाना तत्पापमात्मानं पर्यदेवयत् ॥ ३० ॥
अहो ममोपरि विधेः संरम्भो दारुणो महान् ।

दूसरे ने कहा कि हमने यक्षों के राजा कुबेर को नहीं मनाया था, तीसरे ने कहा कि हमने पहले सब विघ्नों को दूर करनेवाले देवताओं की आराधना नहीं की; किसी ने कहा कि चलते समय हमने जो सगुन देखे थे उनका यह विपरीत फल है। यात्रा के समय ग्रह और नक्षत्र, सभी हमारे अनुकूल थे। मालूम नहीं, फिर क्यों ऐसी घोर दुर्घटना हुई। उनमें फिर किसी ने जिसके सम्बन्धी मारे गये थे और धन नष्ट हो गया था कहा कि यह जो उन्मत्त स्त्री विकृताकार हमारे काफले में आई है इसी ने यह माया रची है। निश्चय वह स्त्री मानुषी नहीं है वह कोई राक्षसी या यक्षिणी अथवा पिशाचिनी है केवल उसी के कारण से ही यह उपाधि उठी थी। जो उसको हम लोग अब देख पावें तो उस नाशकर्त्ता को अवश्य ढेले, लकड़ी, मुक्कों से मार डालें; क्योंकि उसी के कारण हमारा दल नष्ट हो गया है और हमारे भाई-बन्धु मारे गये हैं। उनके ऐसे दारुण वचन सुनकर दमयन्ती बहुत ही डरी और लज्जित हुई। वह होनेवाले अनर्थ की आशङ्का से शीघ्र भागकर वन के भीतर छिप रही और बारम्बार पश्चाताप करती हुई कहने लगी-हाय! मेरे ऊपर ईश्वर का कैसा बड़ा कोप है, कुछ समझ में नहीं आता ॥२१।३०॥

नाऽनुवध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ३१ ॥
न स्मराम्यशुभं किंचित्कृतं कस्यचिदण्वपि ।
कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ३२ ॥
नूनं जन्मान्तरकृतं पापमापतितं महत् ।
अपश्चिमामिमां कष्टामापदं प्राप्तवत्यहम् ॥ ३३ ॥
भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः ।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्यां च विच्युतिः ॥ ३४ ॥
निर्नाथता वने वासो बहुव्यालनिषेविते ।
अथाऽपरेद्युः संप्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ॥ ३५ ॥
देशात्तस्माद्विनिष्क्रम्य शोचन्ते वैशसं कृतम् ।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायं च नराधिप ॥ ३६ ॥
अशोचत्तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम् ।
योऽपि मे निर्जनेऽरण्ये संप्राप्तोऽयं जनार्णवः ॥ ३७ ॥
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत् ।
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नूनमद्याऽपि वै मया ॥ ३८ ॥
नाऽप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम् ।
या नाऽहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ॥ ३९ ॥

जहां जाती हूँ वहां मङ्गल की सम्भावना नहीं देख पड़ती। हाय! मैंने ऐसा क्या किया है कि जिसके कारण से यह दुःख प्राप्त हुआ है। मैंने आजतक मन, वाणी और शरीर से भी किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा निश्चय इस दुःख का कारण मेरे पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है कि जिसके कारण से मेरे ऊपर ऐसे ऐसे दुःख पड़े पति के राज्य का जाना, सुजन से हारना, पति का वियोग होना, पुत्रों से अलग रहना, नाथ से अनाथ हो जाना और इस दुःखदायी वन में वास करना जिसमें बड़े-बड़े सर्प रहते हैं। इसके पीछे जब प्रातःकाल हुआ तब काफले के शेष रहे हुए मनुष्य उस स्थान से निकलकर अपने भाई, पिता और पुत्र और मित्रों के मरने का सोच करने लगे। और दमयन्ती भी यह सोच करने लगी कि हाय! मुझसे क्या अपराध बन पड़ा है कि जिसके कारण से इस निर्जन वन में काफले का मिलना हुआ वह भी मेरे भाग्य से हाथियों से मारा गया निस्सन्देह मुझको अभी बहुत दिनों तक ऐसा ही दुःख रहेगा। मैंने जो बड़ों से सुना था कि बिना समय पूरा हुए कोई नहीं मरता है सो सत्य है। देखो, मुझ दुखिया को हाथियों ने भी नहीं मारा। मेरी समझ में बिना ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं

न ह्यदैवकृतं किंचिन्नराणामिह विद्यते ।
न च मे बालभावेऽपि किंचित्पापकृतं कृतम् ॥ ४० ॥
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम् ।
मन्ये स्वयंवरकृते लोकपालाः समागताः ॥ ४१ ॥
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्याऽर्थाय देवताः ।
नूनं तेषां प्रभावेण वियोगं प्राप्तवत्यहम् ॥ ४२ ॥
एवमादीनि दुःखार्ता सा विलप्य वराङ्गना ।
प्रलापानि तदा तानि दमयन्ती पतिव्रता ॥ ४३ ॥
हतशेषैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अगच्छद्राजशार्दूल चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ४४ ॥
गच्छन्ती साऽचिराद्बाला पुरमासादयन्महत् ।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ॥ ४५ ॥
अथ वस्त्रार्धसंवीता प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
तां विह्वलां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जिताम् ॥ ४६ ॥
उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः ।
प्रविशन्तीं तु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ॥ ४७ ॥
अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात् ।
सा तैः परिवृताऽगच्छत्समीपं राजवेश्मनः ॥ ४८ ॥

होता है और जो कहो कि यह मेरे पापों का फल है तो मैंने कोई पाप शरीर या मन अथवा वाणी से बाल अवस्था में भी नहीं किया ॥३९।४०॥

मैं जानती हूँ मैंने अपने स्वयम्वर में लोकपाल देवताओं को छोड़कर नल को ही वरा था। यह मेरा वियोग उन्हीं की कुदृष्टि से ही हुआ है। पतिव्रता दमयन्ती इस प्रकार मन में विलाप और चिन्ता करने लगी। इधर मरने से बचे हुए मुसाफ़िर, भाई, पिता, पुत्र, बन्धु बान्धव आदि के नाश से अत्यन्त शोकाकुल होकर, वहां से चल दिये। उनमें कुछ वेद-पाठी ब्राह्मण भी थे। शोक से व्याकुल दमयन्ती क्या करती? लाचार वह भी कुछ देर में उन ब्राह्मणों के पीछे पीछे जाने लगी। इस प्रकार दिन भर चलकर अन्त को सन्ध्या से पहले दमयन्ती चेदिदेश के राजा सुबाहु के राज्य में पहुँची। आधा वस्त्र पहने हुए दमयन्ती स्वामी के शोक से अत्यन्त अधीर हो रही थी। उसके बाल खुले हुए थे, शरीर मैला था और वह दुबली तथा दीन थी। पागलों की तरह सब नगर-

तां प्रासादगताऽपश्यद्राजमाता जनैर्वृताम् ।
धात्रीमुवाच गच्छैनामानयेह ममाऽन्तिकम् ॥ ४९ ॥
जनेन क्लिश्यते बाला दुःखिता शरणार्थिनी ।
तादृग्रूपं च पश्यामि विद्योतयति मे गृहम् ॥ ५० ॥
उन्मत्तवेषा कल्याणी श्रीरिवाऽऽयतलोचना ।
सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
आरोप्य विस्मिता राजन् दमयन्तीमपृच्छत ।
एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ॥ ५२ ॥
भासि विद्युदिवाऽभ्रेषु शंस मे काऽसि कस्य वा ।
न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ॥ ५३ ॥
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे ।
तच्छ्रुत्वा वचनं भैमी वचनमब्रवीत् ॥ ५४ ॥
मानुषीं मां विजानीहि भर्तारं समनुव्रताम् ।
सैरन्ध्रीं जातिसंपन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ॥ ५५ ॥
फलमूलाशनामेकां यत्रसायंप्रतिश्रयाम् ।
असंख्येयगुणो भर्ता मां च नित्यमनुव्रतः ॥ ५६ ॥
भक्ताऽहमपि तं वीरं छायेवाऽनुगता पथि ।

वासियों के सामने वह बस्ती के भीतर गई। कई एक बालक और स्त्रियां दमयन्ती को इस दशा में देखकर, पागल सी समझकर, उसके पीछे-पीछे हो लिये। अब उन सबसे घिरी हुई दमयन्ती चलते-चलते राजमहल के पास पहुँची ॥४१।४८॥

उस समय वहां के राजा की माता अपने महल पर टहल रही थीं। उन्होंने वहां से बालकों से घिरी हुई दमयन्ती को देखा। धाय को बुलाकर उन्होंने कहा—देख धाय! यह जो दीन वेष से तेजस्विनी साक्षात् लक्ष्मीरूपिणी स्त्री पागलों की तरह चली आ रही है उसे, पगली समझकर, बालक बहुत ही खिझा रहे हैं। [मैं उसके दुःख को देखकर दुखी हो रही हूँ।] इसलिये तू उसे यहां ले आ। स्वामिनी की आज्ञा से धाय उसी समय महल से उतरकर, भीड़ को हटाकर, दमयन्ती को बुला लाई और राजमाता के पास पहुँची। धाय ने दमयन्ती से कहा—ऐसी दशा में भी तुम्हारा अलौकिक रूप-लावण्य है। हे शुभे! तुम कौन हो? किसलिये अत्यन्त असहाय और अनाथ की तरह अकेली घूम रही हो? मनुष्य तुम्हें क्लेश दे रहे हैं; तो भी तुम चुपचाप हो। इसका कारण क्या है? दमयन्ती ने उस धाय को यही उत्तर दिया—मैं पतिव्रता और कुलीन स्त्री हूँ। केवल फल-

तस्य दैवात्प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं सुदेवने ॥ ५७ ॥
द्यूते स निर्जितश्चैव वनमेक उपेयिवान् ।
तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ॥ ५८ ॥
आश्वासयन्ती भर्तारमहमप्यगमं वनम् ।
स कदाचिद्वने वीरः कस्मिंश्चित्कारणान्तरे ॥ ५९ ॥
क्षुत्परीतस्तु विमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत् ।
तमेकवसना नग्नमुन्मत्तवदचेतसम् ॥ ६० ॥
अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशास्तदा ।
ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित् ॥ ६१ ॥
वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान्मामनागसम् ।
तं मार्गमाणा भर्तारं दह्यमाना दिवानिशम् ॥ ६२ ॥
साऽहं कमलगर्भाभमपश्यन्ती हृदि प्रियम् ।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणेश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु ।
राजमाताऽब्रवीदार्ता भैमीमार्तस्वरां स्वयम् ॥ ६४ ॥
वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्तारं पुरुषा मम ॥ ६५ ॥

मूल खाकर ही अपने जीवन का निर्वाह करती हूँ। और जहां सन्ध्या हो जाती है वहीं ठहर जाती हूँ। मेरे पति असंख्य गुणों के रखनेवाले और मुझको चाहनेवाले हैं । मैं भी छाया की तरह सदा उनके साथ रहती थी । दैवइच्छा से मेरे पति ने जुआ खेला था उसमें वे हारकर अकेले एक वस्त्र पहनकर वन को चल दिये ! मैं भी उन्हें धैर्य देती हुई उनके पीछे-पीछे हो ली । एक दिन भूख-प्यास से बहुत ही व्याकुल होकर वे घूम रहे थे कि उनका वह एक वस्त्र भी हाथ से चला गया ॥४९।५९॥

तब उन्हें नंगे, चिन्ता में डूबे, धीरे-धीरे वहीं लेटकर सो जाते देख मैं भी उन्हीं के पास सो रही। सोते ही मुझे निद्रा आ गई क्योंकि मैं कई रात्रि तक जागती रही थी। आंख खुलने पर मैंने उठकर देखा, वे मेरी आधी धोती फाड़कर कहीं चले गये हैं । विलाप करती हुई, अकेली देश-देश में उन्हीं को मैं देखती फिर रही हूँ । किन्तु अबतक कहीं भी उनके दर्शन नहीं हुए। पतिव्रता दमयन्ती इस तरह अपना वृत्तान्त वर्णन करते-करते शोक में मग्न होकर आँसू बहाने लगी। यह सुनकर राजमाता को बड़ा दुःख हुआ। अब उन्होंने विलाप करती दुःखी और गद्गद वाणी से बोलती हुई दमयन्ती को धैर्य देकर

अपि वा स्वयमागच्छेत्परिधावन्नितस्ततः ।
इहैव वसती भद्रे भर्तारमुपलप्स्यसे ॥ ६६ ॥
राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ॥ ६७ ॥
उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम् ।
न चाऽहं पुरुषानन्यान्प्रभाषेयं कथंचन ॥ ६८ ॥
प्रार्थयेद्यदि मां कश्चिद्दण्डयस्ते स पुमान्भवेत् ।
वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम् ॥ ६९ ॥
भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम् ।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः ॥ ७० ॥
अतोऽन्यथा न मे वासो वर्तते हृदये क्वचित् ।
तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ॥ ७१ ॥
सर्वमेतत्करिष्यामि दिष्ट्या ते व्रतमीदृशम् ।
एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशांपते ॥ ७२ ॥
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत ।
सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ॥ ७३ ॥
वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम् ।

कहा—हे कल्याणी ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम मेरे पास रहो। मेरे अनुचर लोग तुम्हारे स्वामी का पता लगा देंगे। अथवा स्वयं तुम्हारे स्वामी ही किसी समय घूमते-फिरते इधर आ निकलें। तात्पर्य यह है कि तुम यहीं रहो। अवश्य पति से तुम्हारी भेंट हो जायगी। अब दमयन्ती ने राजमाता से कहा—हे वीर पुत्र की माता ! आपके पास रहना मुझे स्वीकार है। मैं आपके पास इस नियम से रह सकती हूँ कि न मैं किसी का जूठा खाऊँगी, न किसी के पैर धोऊँगी और न किसी पुरुष से बातचीत करूँगी। और यदि कोई मनुष्य मेरे पातिव्रत धर्म को दूर करना चाहे तो आप उसे उसी समय दण्ड दें। जो वह उसपर भी न माने तो आपको उसे प्राणदण्ड देना होगा। जो लोग मेरे स्वामी का पता लगाने के लिये जायँगे उनसे मैं स्वयं सब वृत्तान्त पूछूँगी। यदि मेरे इन नियमों का पालन यहां अच्छीतरह हो सकेगा तो मैं आपके पास रहूँगी। यदि न हो सकेगा तो मैं यहां कदापि न रह सकूँगी ॥६०।७०॥

दमयन्ती की बातें सुनकर राजमाता बहुत प्रसन्न हुई। उन्होंने कहा—हे दमयन्ती ! मैं ऐसा यत्न करूँगी जिसमें तुम्हारे इन नियमों का पालन अच्छीतरह हो सके। तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो।

एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः सदा ॥ ७४ ॥
ततः परमसंहृष्टा सुनन्दा गृहमागमत् ।
दमयन्तीमुपादाय सखीभिः परिवारिता ॥ ७५ ॥
सा तत्र पूज्यमाना वै दमयन्ती व्यनन्दत ।
सर्वकामैः सुविहितैर्निरुद्वेगाऽवसत्तदा ॥ ७६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीचेदिराजगृहवासे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥६५॥

राजमाता ने उसी समय अपनी कन्या सुनन्दा को बुलाकर कहा—हे पुत्री ! यह असाधारण रूप लावण्य-वाली स्त्री है। विशेषकर यह तुम्हारी हमजोली की है। तुम इसे अपनी सखियों में रख लो। इसके साथ बराबर क्रीड़ाकौतुक किया करो। सुनन्दा प्रसन्न होकर दमयन्ती को अपने गृह में ले गई। पतिव्रता दमयन्ती वहां यथोचित आदर और सम्मान पाकर, तरह-तरह की भोग की सामग्रियों का उपभोग करती हुई, रहने लगी ॥७१:७६॥

वनपर्व का पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

बृहदश्व उवाच—उत्सृज्य दमयन्तीं तु नलो राजा विशांपते ।
ददर्श दावं दह्यन्तं महान्तं गहने वने ॥ १ ॥
तत्र शुश्राव शब्दं वै मध्ये भूतस्य कस्यचित् ।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चाऽसकृत् ॥ २ ॥
मा भैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम् ।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम् ॥ ३ ॥
स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा ।
उवाच मां विद्धि राजन्नागं कर्कोटकं नृप ॥ ४ ॥

छासठवां अध्याय ॥ ६६ ॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! इधर दमयन्ती को छोड़कर राजा नल एक सघन वन के भीतर घुसे। आगे चलकर उन्होंने देखा, वह वन दावानल से जल रहा है। वहां उन्होंने किसी प्राणी को बारम्बार ऊँचे स्वर से यह पुकारते हुए सुना कि हे राजा नल ! शीघ्र दौड़ो, शीघ्र दौड़ो। "डरो मत" कहते हुए राजा नल दावानल के भीतर घुस गये। वहां पहुंचकर देखते क्या हैं कि एक सर्प कुण्डली बांधे हुए बैठा हुआ है। नल को देखकर वह सर्प नम्रता से कहने लगा—हे राजन् ! मैं नाग-वंश में उत्पन्न हूं। मेरा नाम कर्कोटक है। मैंने एक समय असत्य बोलकर नारद को धोखा दिया था। तब उन्होंने यह कहकर

मया प्रलब्धो महर्षिर्नारदः सुमहातपाः ।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप ॥ ५ ॥
तिष्ठ त्वं स्थावर इव यावदेव नलः क्वचित् ।
इतो नेता हि तत्र त्वं शापान्मोक्ष्यसि मत्कृतात् ॥ ६ ॥
तस्य शापान्न शक्तोऽस्मि पदाद्विचलितुं पदम् ।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ ७ ॥
सखा च ते भविष्यामि मत्समो नास्ति पन्नगः ।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम् ॥ ८ ॥
एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाऽङ्गुष्ठमात्रकः ।
तं गृहीत्वा नलः प्रायाद्देशं दावविवर्जितम् ॥ ९ ॥
आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना ।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत् ॥ १० ॥
पदानि गणयन्गच्छ स्वानि नैषध कानिचित् ।
तत्र तेऽहं महाबाहो श्रेयो धास्यामि यत्परम् ॥ ११ ॥
ततः संख्यातुमारब्धमदशद्दशमे पदे ।
तस्य दष्टस्य तद्रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ १२ ॥

मुझे शाप दिया था कि "आज से तुम जड़ जीवों की तरह अचल होकर यहीं पड़े रहोगे। जब महाराज नल घूमते फिरते यहां आवेंगे और तुम्हें इस जगह से हटावेंगे, तब शाप से तुम्हारा छुटकारा होगा।" ॥१।६॥

हे राजन्! इस शाप के कारण से मैं एक पग भर भी नहीं चल सकता हूँ तभी से यहां पड़ा हूँ। आप कृपा करके शीघ्र मुझे यहां से हटा दीजिए। हे महाराज! मैं आपका सखा होऊँगा और आपको हित की बात बताऊँगा। हे राजन्! मेरे समान दूसरा कोई सर्प नहीं है। मैं अभी अपने शरीर को छोटा किये लेता हूँ। यह कहकर वह सर्प अँगूठे भर का और बहुत हलका हो गया और नल उसे उठाकर वहां ले आया जहां अग्नि न थी। जब नल ने उसे छोड़ना चाहा तब वह कहने लगा कि हे महाराज नल! आप अभी मुझे न रखिए। मुझे लिये हुए, गिनते हुए, कई पग चलिए! मैं आपका बड़ा भारी उपकार करूंगा ॥७।११॥

यह सुनकर राजा नल गिनते हुए कई पग चले। दशवें पग पर जब नल ने दश* कहा, तब नाग ने उनको डस लिया। उसके डसते ही नल का पहला रूप एक दम बदल गया। इससे उनको बड़ा

* संस्कृत में दश शब्द का अर्थ 'काटो' भी है। नाग बिना आज्ञा के नहीं काटते। इसलिये नल के मुँह से 'दश' कहलाकर कर्कोटक ने उनको डस लिया।

स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्यावात्मानं विकृतं नलः ।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श स महीपतिः ॥ १३ ॥
ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन्नलमब्रवीत् ।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वां विद्युर्जना इति ॥ १४ ॥
यत्कृते चाऽसि निकृतो दुःखेन महता नल ।
विषेण स मदीयेन त्वयि दुःखं निवत्स्यति ॥ १५ ॥
विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत्त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत्त्वयि महाराज दुःखं वै स निवत्स्यति ॥ १६ ॥
अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ॥ १७ ॥
न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ॥ १८ ॥
राजन्विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
संग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥
गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि चैवाऽक्षनैपुणः ॥ २० ॥
अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य वै निषधेश्वर ।

आश्चर्य हुआ। अब नागराज ने अपना पहला रूप धारण करके नल को धैर्य देते हुए कहा—हे महाराज नल! मैंने जो आपको डसा, उसका तात्पर्य यही है कि रूप बदल जाने से अब आपको कोई पहचान न सकेगा। विशेषकर वह पापी कलियुग जो आपके शरीर में घुसकर आपको तरह तरह के दुःख दे रहा है वह मेरे विष के प्रभाव से अब पीड़ित होता रहेगा। जबतक वह दुरात्मा आपके शरीर में रहेगा तब-तक उसे मेरे अत्यन्त तीक्ष्ण विष की जलन सहनी पड़ेगी। जिसने आपको अनेक प्रकार के क्लेश दिये हैं उसे उसकी करनी का उचित दण्ड देकर मैंने आपका उपकार किया है। हे महाराज! आप निश्चय समझिए, मेरे अनुकूल होने के कारण अब आपको किसी का भय नहीं रहा। हिंसक जीव या शत्रु अब आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। मेरी कृपा से आपको किसी का शाप भी न लगेगा। मेरे काटने से और मेरे तीक्ष्ण विष से आपको तनिक भी कष्ट न होगा। युद्ध में आप सदा विजयी होंगे ॥१२।१९॥

अब आप इसी अवस्था में अयोध्यापुरी को जाइए। वहाँ इक्ष्वाकुवंशी महाराज ऋतुपर्ण राज्य करते हैं। उनके पास जाकर आप उनके सारथि का काम कीजिए। आप उन्हें अपना यह परिचय दीजिएगा

स तेऽक्षहृदयं दाता राजाऽश्वहृदयेन वै ॥ २१ ॥
इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान्मित्रं चैव भविष्यति ।
भविष्यसि यदाऽक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ॥ २२ ॥
सममेष्यसि दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
राज्येन तनयाभ्यां च सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥
स्वं रूपं च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप ।
संस्मर्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं निवासयेः ॥ २४ ॥
अनेन वाससा छन्नः स्वंरूपं प्रतिपत्स्यसे ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ॥ २५ ॥
एवं नलं च संदिश्य वासो दत्त्वा च कौरव ।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्कोटकसंवादे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

कि "मेरा नाम बाहुक है। मैं घोड़े हाकने की कला में बहुत ही चतुर हूँ।" महाराज ऋतुपर्ण को पाँसे खेलने की विद्या अच्छीतरह मालम है। वे अपनी विद्या देकर आपसे घोड़े चलाने की विद्या सीखेंगे। अन्त को वे आपके मित्र हो जायँगे। पाँसे खेलने की विद्या में निपुण होने से आपका भला होगा। राज्य, ऐश्वर्य, पुत्र, कन्या और स्त्री को फिर पाकर आप निस्सन्देह परम सुख से अपना जीवन व्यतीत करेंगे। अब आपको शोक न करना चाहिये। मैं आपको ये दो वस्त्र देता हूँ, इन्हें ले लीजिए। जब आप अपने पहले रूप को प्राप्त करना चाहें तब मुझे स्मरण करके इन वस्त्रों को पहन लीजिएगा। तुरन्त ही आपको अपना पहला रूप प्राप्त हो जायगा। महाराज नल को दो वस्त्र देकर कर्कोटक नाग, उनके देखते ही देखते वहीं अन्तर्द्धान हो गया ॥२०।२६॥

वनपर्व का छासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

बृहदश्व उवाच—तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः ।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद्दशमेऽहनि ॥ १ ॥

सड़सठवां अध्याय ॥ ६७ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! उस नागराज के अन्तर्द्धान हो जाने पर राजा नल अयोध्या नगरी की ओर चल दिये और दसवें दिन वहां जा पहुँचे और राजा ऋतुपर्ण के समीप जाकर कहने लगे—हे राजेन्द्र! मेरा नाम बाहुक है। मैं घोड़े चलाने की विद्या में बहुत ही निपुण हूँ। [इसके सिवाय मैं और

स राजानमुपातिष्ठद्बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ॥ २ ॥
अर्थकृच्छ्रेषु चैवाऽहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च ।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ॥ ३ ॥
यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन्यच्चैवाऽन्यत्सुदुष्करम् ।
सर्वं यतिष्ये तत्कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥ ४ ॥
ऋतुपर्ण उवाच—वस बाहुक भद्रं ते सर्वमेतत्करिष्यसि ।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥ ५ ॥
स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम ।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शता ॥ ६ ॥
त्वामुपस्थास्यतश्चैव नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक ॥ ७ ॥
बृहदश्व उवाच—एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत्तत्र पूजितः ।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ॥ ८ ॥
स वै तत्राऽवसद्राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन् ।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ॥ ९ ॥
क नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी ।

भी कई तरह की कारीगरियां जानता हूँ।] समय समय पर धन की कमी के कारण यदि कुछ गड़बड़ हो तो उसे दूर करने की सलाह भी मैं दे सकता हूँ। तरह-तरह की रसोई बनाने में भी मैं बहुत निपुण हूँ। इसके सिवाय मैं और भी जो है जो कारीगरी का काम विशेष यत्न और परिश्रम के साथ कर सकता हूं। इसलिये हे राजन्! आप मुझको नौकर रख लीजिये ॥१४॥

यह सुनकर राजा ऋतुपर्ण ने कहा—बाहुक! तुमने जिन जिन बातों का वर्णन किया, उन सबको यहां रहकर तुम कर सकोगे। तुम यहां रहकर विशेष यत्न करो जिसमें मेरे रथ के घोड़े शीघ्र चल सकें। आज से मैंने तुमको अपने यहां की अश्वशाला का अध्यक्ष बनाया। तुम्हें वेतन के तौर पर हर महीने दस हज़ार सुवर्ण की मोहरें मिला करेंगी। ये वार्ष्णेय और जीवल नाम के दो सारथी, तुम्हारे अधीन रहकर, इस कार्य में तुम्हारी सहायता करेंगे। तुम इनके साथ यहां सुख से रहो। राजा नल अब परम आदर पाकर ऋतुपर्ण के राज्य में रहने लगे। वे बीच बीच में अपनी प्यारी दमयन्ती को स्मरण किया करते थे। नित्य सायंकाल को वे यह कहकर विलाप किया करते थे कि हाय! प्रियतमा की कैसी दशा हुई?

स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साऽद्योपतिष्ठति ॥ १० ॥
एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत् ।
कामेनां शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ॥ ११ ॥
आयुष्मन्कस्य वा नारी यामेवमनुशोचसि ।
तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
आसीद्बहुमता नारी तस्याऽदृढतरं वचः ।
स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ॥ १३ ॥
विप्रयुक्तः स मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः ।
दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १४ ॥
निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेकं स्म गायति ।
स विभ्रमन्महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किंचन ।
वसत्यनर्हस्तद्दुःखं भूय एवाऽनुसंस्मरन् ॥ १५ ॥
सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ।
त्यक्ता तेनाऽल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति ॥ १६ ॥
एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गी दुष्करं यदि जीवति ॥ १७ ॥
श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ।
त्यक्ता तेनाऽल्पभाग्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष ॥ १८ ॥

अकेली वह भूख और प्यास से व्याकुल होकर किसकी शरण में है ॥५।१०॥

जीवल नित्य रात को नल के मुँह से विलाप के वाक्य सुना करता था। वह एक दिन कहने लगा-हे बाहुक ! तुम नित्य किस स्त्री के लिये इस तरह विलाप करते हो ! मैं सुनना चाहता हूँ, वह किसकी स्त्री है ! नल ने कहा-हे जीवल ! एक मन्दबुद्धि पुरुष की गुणवती स्त्री थी। वह अभागा पुरुष किसी कारण उस पतिव्रता स्त्री को वन में अकेली छोड़कर अब उसके विरह में अधीर होकर मारा-मारा फिरा करता है। और स्त्री-वियोग के शोक में उसे दिन-रात नींद नहीं आती। रात्रि के समय उसी को स्मरण करके वह मूढ़ विलाप किया करता है। वह अभागा पुरुष अनेक स्थानों में घूमकर अन्त को एक जगह किसी ओछे-काम में लग गया है और उसी काम को करके अपनी जीविका चला रहा है। अहो ! वह पतिव्रता स्त्री अत्यन्त दुर्दशा और कष्ट में पड़कर भी वन में अपने पति के साथ आई थी,

इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ।
अज्ञातवासं न्यवसद्राज्ञस्तस्य निवेशने ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलविलापे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

किन्तु वह पुरुष उसे वहीं छोड़कर चल दिया। [हाय! न जाने उस स्त्री की अब कैसी दुर्दशा हुई होगी।] भूख और प्यास से व्याकुल होकर वह न जाने कैसे कष्ट सह रही होगी, या यही कौन कह सकता है कि उस हिंसक भयानक जङ्गली जानवरों से भरे वन में, पति से अलग होकर, वह स्त्री जीती है या मर गई। इस प्रकार दमयन्ती को स्मरण करते हुए महाराज नल ऋतुपर्ण के राज्य में गुप्त रूप से रहकर समय बिताने लगे ॥११।१९॥

वनपर्व का सड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६७ ॥

अथ अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

बृहदश्व उवाच—हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये प्रेष्यतां गते ।
द्विजान्प्रस्थापयामास नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥
सन्दिदेश च तान्भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम् ।
मृगयध्वं नलं चैव दमयन्तीं च मे सुताम् ॥ २ ॥
अस्मिन्कर्मणि संपन्ने विज्ञाते निषधाधिपे ।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ॥ ३ ॥
अग्रहारांश्च दास्यामि ग्रामं नगरसंमितम् ।
न चेच्छक्याविहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा ॥ ४ ॥
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ।
इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतोदिशम् ॥ ५ ॥
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्यया ।

अड़सठवां अध्याय ॥ ६८ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! विदर्भदेश के राजा भीम राजा नल के राज्यहरण और स्त्रीसहित वन को जाने का हाल सुनकर नल को देखने की इच्छा से सब ब्राह्मणों को बुलाकर कहने लगे कि आप लोग चारों ओर जाकर नल और दमयन्ती को ढूँढ़िए। जो कोई उन दोनों का अथवा एक का भी पता लगाकर लावेगा उसको मैं एक हज़ार गायें दूंगा और जो उनको यहां ले आवेगा उसको मैं एक नगर के बराबर बड़ा गाँव दूँगा। राजा भीम की बातों से पूर्ण रूप से उत्साहित होकर सब ब्राह्मण लोग उसी समय चारों दिशाओं को चल दिये और प्रदेशों में नल और दमयन्ती को ढूँढ़ने लगे परन्तु

नैव काऽपि प्रपश्यन्ति नलं वा भीमपुत्रिकाम् ॥ ६ ॥
ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः ।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद्राजवेश्मनि ॥ ७ ॥
पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ।
मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेणाऽप्रतिमेन ताम् ।
निबद्धां धूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ॥ ८ ॥
तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ॥ ९ ॥
सुदेव उवाच—यथेयं मे पुरा दृष्टा तथारूपेयमङ्गना ।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम् ॥ १० ॥
पूर्णचन्द्रनिभां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम् ।
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ॥ ११ ॥
चारुपद्मविशालाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव ।
इष्टां समस्तलोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव । १२ ॥
विदर्भसरसस्तस्माद्दैवदोषादिवोद्धृताम् ।
मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १३ ॥
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम् ।

किसी ने कुछ पता उन दोनों का न पाया ॥१।६॥

उनमें से एक सुदेव नाम का ब्राह्मण, उन दोनों को ढूंढ़ता हुआ अन्त में चेदि देश की राजधानी में पहुंचा। उस समय राजभवन में पुण्याहवाचन हो रहा था सुदेव ब्राह्मण भी वहां चला गया और वहां उसने सुनन्दा के साथ दमयन्ती को देखा जो पति-वियोग के शोक से बहुत ही मुरझाई हुई थी। उसके बड़े नेत्र, सूर्य की सी प्रभा, सुन्दर स्वरूप और मलिन वेष में इस प्रकार से चमकती हुई देखकर जैसे धुएँ में जलती हुई अग्नि दिखाई देती है उसके अनेक कारणों से यह निश्चय किया कि यह महाराज भीम की ही पुत्री है। उस समय सुदेव अपने मन में कहने लगा कि अहो! इस राजकुमारी को पहले अच्छी दशा में देखकर मुझे जैसी प्रसन्नता हुई थी वैसी प्रसन्नता ऐसी हीन अवस्था में देखकर भी हो रही है। आज इस त्रिलोक-सुन्दरी को देखकर मैं कृतार्थ हो गया ॥७।१०॥

यह सुवर्ण के समान कान्तिवाली, पीन स्तनोंवाली, पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली, सुडौल अङ्गोंवाली स्त्री अपने अनुपम रूप-लावण्य की आभा से सब ओर प्रकाश फैला रही है। इसके नेत्र कमलदल के समान विशाल हैं। इसे एकाएक देखने से कामदेव

पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ॥ १४ ॥
विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ॥ १५ ॥
सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
दह्यमानामिवाऽर्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १६ ॥
रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ॥ १७ ॥
कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च ।
देहं धारयतीं दीनं भर्तृदर्शनकाङ्क्षया ॥ १८ ॥
भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा हि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ॥ १९ ॥
दुष्करं कुरुतेऽत्यन्तं हीनो यदनया नलः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनाऽपि सीदति ॥ २० ॥
इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममाऽपि व्यथते मनः ॥ २१ ॥
कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा ।

की स्त्री रति का भ्रम होता है। वह रत्नजटित राजमहल में रहने के योग्य, रूप और गुण से युक्त, सुकुमारी, भीम राजा की कन्या पति वियोग के शोक से अत्यन्त दुबली और मलिन होकर ऐसी जान पड़ती है, जैसे राहु के ग्रास में पड़े हुए चन्द्रमा से युक्त पूर्णिमा की रात्रि हो; या घाम से सूखी हुई नदी हो; या सरोवर में से हाथी ने सूंड से जिसे खींचा हो; वह दलित, पङ्क मालिन, अपने स्थान से भ्रष्ट, कान्ति-शून्य कमलिनी हो। औदार्य गुणशालिनी, आभूषणों से रहित यह त्रिलोक-सुन्दरी अपने प्रिय पति और भाई-बन्धुओं के साथ छूटकर, सूर्य के ताप में तपी हुई उखड़ी पड़ी कमलिनी की तरह, नील बादल से ढकी हुई नवीन चन्द्ररेखा की तरह, अत्यन्त मलिन और क्षीण होती जा रही है। फिर अपने पति के मिलने की आशा से ही यह अबतक जी रही है। अहो! पति ही पतिव्रता स्त्री का एकमात्र प्रधान आभूषण है। यद्यपि इस सर्वाङ्ग सुन्दरी का सहज-सौन्दर्य असीम है, तो भी केवल पतिरूप रत्न के बिना इसकी कुछ भी शोभा नहीं है। महाराज नल का हृदय कैसा कठोर है जो ऐसी स्त्री को छोड़कर भी वे अबतक जीवित हैं ॥११।२०॥

इस सुख भोगने के योग्य, विशाल नेत्रोंवाली को ऐसे दुःख के समुद्र में मग्न देखकर मेरा जी दुखी हो रहा है। इसका दुःख पति के मिलने ही

भर्तुः समागमात्साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ॥ २२ ॥
अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति ।
राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वा च मेदिनीम् ॥ २३ ॥
तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंवृताम् ।
नैषधोऽर्हति वैदर्भी तं चेयमसितेक्षणा ॥ २४ ॥
युक्तं तस्याऽप्रमेयस्य वीर्यसत्त्ववतो मया ।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनलालसाम् ॥ २५ ॥
अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्तां ध्यानतत्पराम् ॥ २६ ॥
बृहदश्व उवाच—एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम् ।
उपागम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥
अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा ।
भीमस्य वचनाद्राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहाऽऽगतः ॥ २८ ॥
कुशली ते पिता राज्ञि जननी भ्रातरश्च ते ।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च तौ ॥ २९ ॥
त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवाऽऽसते ।
अन्वेष्टारो ब्राह्मणाश्च भ्रमन्ति शतशो महीम् ॥ ३० ॥
बृहदश्व उवाच—अभिज्ञाय सुदेवं तं दमयन्ती युधिष्ठिर ।

पर दूर होगा और उस समय इसका दुःख ऐसे जाता रहेगा जैसे रोहिणी का दुःख चन्द्रमा के समागम से जाता रहता है। महाराज नल भी इसको फिर पाकर इस प्रकार से प्रसन्न होंगे और इससे प्रीति करेंगे जैसे गये हुए राज्य को पाकर राजा प्रसन्न होता है। राजा नल अपने कुल, शील, स्वभाव और अवस्था से दमयन्ती के योग्य हैं और दमयन्ती भी उनके योग्य है। अब इस समय इस पति के दर्शन की इच्छा रखनेवाली, दुःख से अत्यन्त पीड़ित, दमयन्ती को धैर्य देना ही मेरा कर्त्तव्य है ॥२१।२५॥

बृहदश्व कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! अब मन में ऐसा निश्चय करके दमयन्ती के पास जाकर सुदेव ने कहा—हे दमयन्ती ! मैं तुम्हारे भाई का परम-मित्र सुदेव नाम ब्राह्मण हूँ। राजा भीम की आज्ञा से यहां तुम्हें ढूँढने को आया हूँ। तुम्हारे पिता, माता, भाई आदि सब प्रकार कुशल से हैं। तुम्हारे पुत्र और कन्या दोनों भी कुशल से हैं। परन्तु तुम्हारे कारण से वे सब निर्जीव के समान हो रहे हैं।

पर्यपृच्छत तान्सर्वान्क्रमेण सुहृदः स्वकान् ॥ ३१ ॥
रुरोद च भृशं राजन्वैदर्भी शोककर्शिता ।
दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ॥ ३२ ॥
ततो रुदन्तीं तां दृष्ट्वा सुनन्दां शोककर्शिताम् ।
सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीं च भारत ॥ ३३ ॥
जनित्र्याः कथयामास सैरन्ध्री रुदते भृशम् ।
ब्राह्मणेन सहागम्य तां वेद यदि मन्यसे ॥ ३४ ॥
अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चाऽन्तःपुरात्तदा ।
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाऽभवत् ॥ ३५ ॥
ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशांपते ।
पप्रच्छ भार्या कस्येयं सुता वा कस्य भाविनी ॥ ३६ ॥
कथं च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्तुर्वा वामलोचना ।
त्वया च विदिता विप्र कथमेवंगता सती ॥ ३७ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः सर्वमशेषतः ।
तत्त्वेन हि ममाऽऽचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ॥ ३८ ॥
एवमुक्तस्तया राजन् सुदेवो द्विजसत्तमः ।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसुदेवसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥६८॥

तुम्हारे ढूँढ़ने के लिये सैकड़ों ब्राह्मण भेजे गये हैं और वे देश-देश में तुम्हें तालाश कर रहे हैं। ॥२६।३०॥

यह सुनकर दमयन्ती ने सुदेव को अच्छीतरह देखा और पहचाना और उससे क्रमपूर्वक अपने सुहृदों का हाल पूछने लगी और उसे अपने भाई का मित्र जानकर और अकस्मात् देखकर वह शोक से रोने लगी। सुनन्दा उसको इस प्रकार से रोती और एकान्त में ब्राह्मण से बात-चीत करती देखकर शोकाकुल होकर अपनी माता के पास गई और कहने लगी—हे माता जी! यह सैरन्ध्री (दमयन्ती का कल्पित नाम है) एक ब्राह्मण से मिलकर क्यों रो रही है? आपकी इच्छा हो तो वहां चलकर उससे इसका कारण पूछिए। कन्या के वचन सुनकर राजमाता महल से निकलकर उस स्थान पर आई जहां दमयन्ती उस ब्राह्मण के पास बैठी थी और सुदेव को बुलाकर पूछने लगी—यह बाला किसकी स्त्री और किसकी पुत्री है? अपने पति और जातिवालों से किस कारण से अलग हुई? तुमने इसे कैसे पहचाना? मैं यह सब विस्तारपूर्वक सुनना चाहती हूँ। राजमाता के

वचन सुनकर और अधिक आग्रह देखकर सुदेव एक आसन पर बैठ गये और दमयन्ती का सब वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुनाने लगे ॥३१।३९॥

वनपर्व का अड़सठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

अथ एकोनसप्ततितमोऽध्याय: ॥ ६९ ॥

सुदेव उवाच—विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो नाम महाद्युतिः ।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ॥ १ ॥
राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः ।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः ॥ २ ॥
स द्यूतेन जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः ।
दमयन्त्या गतः सार्धं न प्राज्ञायत कस्यचित् ॥ ३ ॥
ते वयं दमयन्त्यर्थे चरामः पृथिवीमिमाम् ।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने ॥ ४ ॥
अस्या रूपेण सदृशी मानुषी न हि विद्यते ।
अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः ॥ ५ ॥
श्यामायाः पद्मसंकाशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया ।
मलेन संवृतो ह्यस्याश्छन्नोऽभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ६ ॥
चिह्नभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः ।

उनहत्तरवाँ अध्याय ॥ ६९ ॥

सुदेव ब्राह्मण कहने लगे हे राजमाता ! यह कल्याणी विदर्भ देश के राजा भीम की पुत्री है । इसका नाम दमयन्ती है । और राजा वीरसेन के नल नामी यशस्वी पुत्र की भार्या है जो निषद देश के अधिपति हैं । वे राजा नल अपने भाई से जुए में सब राज्य और धन हारकर दमयन्ती सहित बिना किसी के जाने वन को चले गये थे । उनके और इस दमयन्ती के ढूँढ़ने को हम सैकड़ों ब्राह्मण देश-देश में फिर रहे हैं । आज सौभाग्य से मैंने इस दमयन्ती को आपकी कन्या के भवन में देखा ॥१।४॥

मनुष्यलोक में इसके समान स्वरूपवाली स्त्री दूसरी कोई नहीं देख पड़ती । विधाता ने इसकी भौंहों के बीच में एक लाल रङ्ग का तिलक-चिह्न स्थापित कर दिया है । वह चिह्न इस समय मैल से छिप जाने के कारण मेघ में चन्द्रमा के समान छिपा हुआ है । यह कन्या अतुल ऐश्वर्य की अधिकारिणी होगी—इसी बात का सूचक यह चिह्न इसके माथे में है । इस समय पड़वा के चन्द्रमा की तरह इस सुन्दरी का सौन्दर्य छिपा हुआ है । धोये न जाने से इसका शरीर यद्यपि बहुत मलिन हो रहा है, तो

प्रतिपत्कलुषस्येन्दोर्लेखा नाऽतिविराजते ॥ ७ ॥
न चाऽस्या नश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम् ।
असंस्कृतमभिव्यक्तं भाति काञ्चनसंनिभम् ॥ ८ ॥
अनेन वपुषा बाला पिप्लुनाऽनेन सूचिता ।
लक्षितेयं मया देवी निभृतोऽग्निरिवोष्मणा ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशांपते ।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम् ॥ १० ॥
स मलेनाऽपकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत ।
दमयन्त्या यथा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः ॥ ११ ॥
पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत ।
रुदन्त्यौ तां परिष्वज्य मुहूर्तमिव तस्थतुः ॥ १२ ॥
उत्सृज्य बाष्पं शनकै राजमातेदमब्रवीत् ।
भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनाऽनेन सूचिता ॥ १३ ॥
अहं च तव माता च राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
सुते दशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने ॥ १४ ॥
भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः ।
त्वं तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितुर्गृहे ॥ १५ ॥

भी सुवर्ण के समान चमक रहा है। आँच या गर्मी के द्वारा जैसे राख से ढकी हुई अग्नि का अस्तित्व जाना जाता है, वैसे ही भौंहों के बीच में स्थित यह चिह्न और मलिन शरीर-कान्ति देखकर मैंने पहचान लिया कि यही दमयन्ती है ॥५।९॥

सुदेव की उक्त बातों को सुनकर सुनन्दा ने उस मैल को पानी मँगवाकर धुलवा डाला जिससे वह चिह्न ढका हुआ था और मैल के दूर होने पर वह इस प्रकार से प्रकाश करने लगा मानों निर्मल आकाश में चन्द्रमा उदय हुआ है। उस चिह्न को देखकर अब सुनन्दा और उसकी माता, दोनों ने अत्यन्त दुःखित हो दमयन्ती को गले से लगा लिया। एक मुहूर्त के पीछे राजमाता रोती-रोती दमयन्ती से कहने लगी—हे पुत्री! तुम्हारे मस्तक के चिह्न को देखकर मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि तुम्हीं मेरी बहन की बेटी दमयन्ती हो। हे बेटी! तुम्हारी माता और मैं दोनों ही दशार्ण देश के स्वामी राजा सुदामा की कन्या हैं। पिता ने तुम्हारी माता का विवाह महाराज भीम के साथ कर दिया और मेरा विवाह महाराज वीरबाहु के साथ कर दिया था। मैंने तुम्हें बालकपन में अपने बाप के घर में देखा था। हे बेटी! मेरे घर को तुम अपने पिता के

यथैव ते पितुर्गेहं तथैव मम भाविनि ।
यथैव च ममैश्वर्यं दमयन्ति तथा तव ॥ १६ ॥
तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशांपते ।
प्रणम्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥
अज्ञायमानाऽपि सती सुखमस्म्युषिता त्वयि ।
सर्वकामैः सुविहिता रक्ष्यमाणा सदा त्वया ॥ १८ ॥
सुखात्सुखतरो वासो भविष्यति न संशयः ।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥
दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ ।
पित्रा विहीनौ शोकार्तौ मया चैव कथं नु तौ ॥ २० ॥
यदि चापि प्रियं किंचिन्मयि कर्तुमिहेच्छसि ।
विदर्भान्यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ॥ २१ ॥
बाढमित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृष्वसा नृप ।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्याऽनुमते ततः ॥ २२ ॥
प्रास्थापयद्राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना ।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम् ॥ २३ ॥
ततः सा न चिरादेव विदर्भानगमत्पुनः ।
तां तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः समपूजयत् ॥ २४ ॥
सर्वान्कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान्दारकौ च तौ ।

घर के समान समझो। मेरा सब ऐश्वर्य तुम अपना ही समझो ॥१०।१६॥

यह सुनकर दमयन्ती ने प्रसन्न होकर कहा—हे मौसी! अबतक यद्यपि आप मुझे पहचान नहीं सकी थीं तो भी आपके यहां मुझे किसी बात के लिये कष्ट नहीं हुआ। आपने सदा मेरी रक्षा की और देख-रेख रक्खी है। मैंने बड़े सुख से आपके यहां रहकर इतना समय व्यतीत किया है। हे मौसी! मैं बहुत दिनों से परदेश में रह रही हूँ। अब आज्ञा दीजिए, मैं अपने पिता के घर जाऊँ। मेरे पुत्र और पुत्री अभी बालक हैं न जाने वे बिना माता और पिता के यहां कैसे रहते होंगे ॥१७।२०॥

यदि आप मेरा प्रिय करना चाहती हैं तो शीघ्र मुझे मेरे पिता के यहां भेज दीजिए। यह सुनकर राजमाता बहुत प्रसन्न हुईं और उन्होंने अपने पुत्र की आज्ञा से अन्न वस्त्र और अन्य अनेक प्रकार की

मातरं पितरं चोभौ सर्वं चैव सखीजनम् ॥ २५ ॥
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी ।
परेण विधिना देवी दमयन्ती विशांपते ॥ २६ ॥
अतर्पयत्सुदेवं च गोसहस्रेण पार्थिवः ।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ॥ २७ ॥
सा व्युष्टा रजनीं तत्र पितुर्वेश्मनि भाविनी ।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २८ ॥
दमयन्त्युवाच—मां चेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नरवीरस्य चैतस्य नलस्याऽऽनयने यत ॥ २९ ॥
दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता ।
बाष्पेणाऽऽपिहिता राज्ञी नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ॥ ३० ॥
तदवस्थां तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं तदा ।
हाहाभूतमतीवाऽऽसीद्भृशं च प्ररुरोद ह ॥ ३१ ॥
ततो भीमं महाराजं भार्या वचनमब्रवीत् ।
दमयन्ती तव सुता भर्तारमनुशोचति ॥ ३२ ॥
अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप ।
प्रयतन्तु तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य मार्गणे ॥ ३३ ॥

बहुत सी सामग्रियां देकर, बहुत सी सेना के साथ, दमयन्ती को पालकी में बैठाकर विदर्भ नगर को भेज दिया। वह थोड़े ही दिनों में विदर्भ देश में आ पहुँची उसके सब भाई-बन्धुओं ने प्रसन्न होकर उसका बड़ा आदर किया। और दमयन्ती ने भी अपने सब भाई, पुत्र, पुत्री, माता, पिता और सब सखियों को कुशलपूर्वक देखकर देवता और ब्राह्मणों की पूजा की ॥२१।२६॥

राजा भीम ने बहुत दिनों के बाद अपनी कन्या को देखकर, प्रतिज्ञा के अनुसार, सुदेव ब्राह्मण को हजार गायें, बहुत सा धन और एक नगर के बराबर गाँव दिया। रात्रि भर विश्राम कर चुकने के उपरांत दमयन्ती ने माता से कहा—हे माता! यदि तुम मेरा जीना चाहती हो तो राजा नल को ढूँढ़ने के लिये कोई मनुष्य भेजो। कन्या के वचन सुनकर माता बहुत ही दुःखित हुई; कुछ उत्तर न देकर वह लगातार आंसू बहाने लगी ॥२७।३०॥

उसको रोती हुई देखकर रनिवास की और स्त्रियां भी रोने लगीं। इसके पीछे रानी ने राजा भीम से कहा—हे महाराज! तुम्हारी कन्या पति के शोक से महाव्याकुल होकर विलाप कर रही है। उसने लज्जा छोड़कर मुझसे अपने मन का भाव प्रकट किया

तथा प्रदेशितो राजा ब्राह्मणान्वशवर्तिनः ।
प्रास्थापयद्दिशः सर्वा यतध्वं नलमार्गणे ॥ ३४ ॥
ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद्ब्राह्मणास्तदा ।
दमयन्तीमथो दृष्ट्वा प्रस्थितास्ते तथाऽब्रुवन् ॥ ३५ ॥
अथ तानब्रवीद्भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः ।
ब्रूयास्त जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनः पुनः ॥ ३६ ॥
क नु त्वं कितव च्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ ३७ ॥
सा वै यथा त्वया दृष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाऽभिसंवृता ॥ ३८ ॥
तस्या रुदन्त्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥ ३९ ॥
एवमन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद्यथा मयि ।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः ॥ ४० ॥
भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी हि पतिना सदा ।
तन्नष्टमुभयं कस्माद्धर्मज्ञस्य सतस्तव ॥ ४१ ॥
ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशो भवान्सदा ।

है। इसलिये आप अपने अनुचरों को आज्ञा दीजिए कि वे शीघ्र ही महाराज नल का पता लगाने के लिये, दूर दूर के देशों में जायँ। बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! रानी के यों कहने पर राजा ने उसी समय राजा नल का पता लगाने के लिये ब्राह्मणों को चारों ओर भेजा। उनसे कह दिया कि तुम लोग नल के पता लगाने का यत्न करो। राजा की आज्ञा पाकर दमयन्ती के पास आकर ब्राह्मणों ने कहा—हे राजकुमारि! हम लोग तुम्हारे पिता की आज्ञा से महात्मा नल का पता लगाने जा रहे हैं। दमयन्ती ने कहा—हे ब्राह्मणो! आप लोग जिस राज्य और जिस सभा में जाओ वहा यही कहो कि "हे छली! हे कपटी! अपनी पतिव्रता स्त्री को सोते समय भयानक जङ्गल में अकेली छोड़कर, उसका आधा वस्त्र फाड़कर, कहा भाग आये हो? वह तुम्हारी प्रतीक्षा में उसी तरह है जिसतरह तुमने उसे देखा था। तुम्हीं को अपना जीवन प्राण समझनेवाली वह सुन्दरी वही आधा वस्त्र पहने तुम्हारे विरह में रात दिन रोया करती है। इसलिये तुम प्रसन्न होकर शीघ्र उसकी बातों का उत्तर दो।" हे ब्राह्मणो! आप लोग ये सब बातें कहकर उनके चित्त में मेरे ऊपर दया उत्पन्न करने की चेष्टा करना। अग्नि जैसे वायु की सहायता से

संवृत्तो निरनुक्रोशः शंके मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ ४२ ॥
तत्कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः ॥ ४३ ॥
एवं ब्रुवाणान्यदि वः प्रतिब्रूयात्कथंचन ।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चाऽसौ क नु वर्तते ॥ ४४ ॥
यश्चैवं वचनं श्रुत्वा ब्रूयात्प्रतिवचो नरः ।
तदादाय वचस्तस्य ममाऽऽवेद्यं द्विजोत्तमाः ॥ ४५ ॥
यथा च वो न जानीयाद् ब्रुवतो मम शासनात् ।
पुनरागमनं चैव तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ ४६ ॥
यदि वाऽसौ समृद्धः स्याद्यदि वाऽप्यधनो भवेत् ।
यदि वाऽप्यसमर्थः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम् ॥ ४७ ॥
एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतोदिशम् ।
नलं मृगयितुं राजंस्तदा व्यसनिनं तथा ॥ ४८ ॥
ते पुराणि सराष्ट्राणि ग्रामान्घोषांस्तथाऽऽश्रमान् ।
अन्वेषन्तो नलं राजन्नाऽधिजग्मुर्द्विजातयः ॥ ४९ ॥

बढ़कर सारे वन को भस्म कर देती है उसी प्रकार विरह की अग्नि इस अबला नारी का अन्त करना चाहती है। ऐसा मन में विचार हे राजा नल! उस अबला के ऊपर कृपा कीजिए ॥३१।४०॥

आप लोग मेरी ओर से यह भी कहिएगा कि "विवाही हुई स्त्री की सदा रक्षा और देख भाल करना पति का अवश्य कर्त्तव्य है। इसके विपरीत आचरण करके क्या तुम धार्मिक का काम कर रहे हो? तुम बड़े धर्मात्मा, दयालु, अच्छे हृदयवाले, प्राज्ञ, सुशील और कुलीन हो। फिर इस समय क्या मेरे भाग्य के दोष से निठुर बन गये? हे नाथ! तुमने आप ही कितनी बार कहा है कि निठुरता न करना ही प्रधान धर्म है। फिर इस समय तुम्हारे ऐसे निठुर बन जाने का कारण क्या है? बहुत हो चुका अब दया करो।" हे ब्राह्मणो! आप लोगों की इन बातों पर जो कोई कुछ उत्तर दे उसका सब वृत्तान्त जानने की आप लोग चेष्टा करें। उससे उसी समय उसका नाम, धाम पूछें। वह पुरुष अनेक प्रश्नों के उत्तर में जो कुछ कहे, सो सब प्रकार मुझसे कहिएगा। यह चिन्ता न कीजिएगा कि वह धनी है या निर्धन या असमर्थ। किन्तु इस बात को और कोई न जान सके कि मैं आप लोगों को इस काम के लिये भेज रही हूँ। इस प्रकार निर्विघ्न रूप से यह काम करके आप लोग शीघ्र लौट आवें। वे ब्राह्मण लोग दमयन्ती की आज्ञा से विदर्भ देश से, चलकर अनेक देशों में फिरने लगे, सैकड़ों नद, नदी, गाँव, नगर, वन और आश्रम

तच्च वाक्यं तथा सर्वे तत्र तत्र विशांपते ।
श्रावयांचक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलान्वेषणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

लाँघकर दमयन्ती ने जो कुछ कहा था उसी की घोषणा स्थान-स्थान पर करते हुए विचरने लगे। परन्तु महाराज नल का कहीं कुछ पता न लगा ॥४१।५०॥

वनपर्व का उनहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

बृहदश्व उवाच—अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः ।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
नैषधं मृगयाणेन दमयन्ति मया नलम् ।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ २ ॥
श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने ।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ॥ ३ ॥
तच्छ्रुत्वा नाऽब्रवीत्किञ्चिदृतुपर्णो नराधिपः ।
न च पारिषदः कश्चिद्भाष्यमाणो मयाऽसकृत् ॥ ४ ॥
अनुज्ञातं तु मां राजा विजने कश्चिदब्रवीत् ।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ॥ ५ ॥
सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः ।
शीघ्रयानेषु कुशलो मृष्टकर्ता च भोजने ॥ ६ ॥
स विनिःश्वस्य बहुशो रुदित्वा च पुनः पुनः ।

सत्तरवां अध्याय ॥ ७० ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजन् ! बहुत दिनों के पीछे एक पर्णाद नाम का ब्राह्मण लौटकर दमयन्ती के पास आया और कहने लगा—हे दमयन्ती ! मैं राजा नल को ढूँढ़ता हुआ अयोध्या नगरी में राजा ऋतुपर्ण के यहां पहुँचा। वहां मैंने राजसभा में तुम्हारे शिक्षा किये हुए वाक्य सुनाये परन्तु उनको सुनकर राजा ऋतुपर्ण अथवा उसके सभासदों में से किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। मैं वहां से विदा होकर जब दूसरे स्थान को जाने लगा तब एक पुरुष एकान्त में मेरे पास आया। उसका नाम बाहुक था। वह बड़ा ही कुरूप था। वह महाराज ऋतुपर्ण के यहां सारथि का काम किया करता है। घोड़े चलाने और रसोई बनाने में वह बड़ा ही चतुर है। श्वास लेता हुआ और आंसू बहाता हुआ वह मेरे पास आया।

कुशलं चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ॥ ७ ॥
वैषम्यमपि संप्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥ ८ ॥
रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान्धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ ९ ॥
विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत्सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ १० ॥
प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ ११ ॥
सत्कृताऽसत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम् ।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ १२ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहाऽऽगतः ।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ॥ १३ ॥
एतच्छ्रुत्वाऽश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशांपते ।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥
अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कदाचन ।
त्वत्संनिधौ नियोक्ष्येऽहं सुदेवं द्विजसत्तमम् ॥ १५ ॥

मुझसे कुशल-प्रश्न करके उसने कहा—अच्छे कुल की स्त्रियां घोर दुर्दशा में पड़कर भी तनमन से अपनी रक्षा करती हैं। इसी कारण उन्हें मरने पर अवश्य ही स्वर्गलोक मिलता है। पति के पास रहने पर भी वे प्राणपण से आत्मरक्षा करने में तनिक भी सुस्ती नहीं होने देतीं। पति पर क्रोध करके कुमार्ग में पाँव रखने की प्रवृत्ति कभी उनको नहीं होती। इसलिये यदि राजा नल ने राज्य से भ्रष्ट होकर, ऐसी दुर्दशा में पड़कर, अपनी प्यारी स्त्री दमयन्ती को वन में अकेली छोड़ दिया है तो भी दमयन्ती को उनपर कोप या असन्तोष प्रकट न करना चाहिये॥१।१०॥

पक्षियों के द्वारा वस्त्र हर जाने के कारण से महाराज नल बहुत ही अधीर हो रहे थे। इस समय भी वे दारुण मानसिक वेदना भोगते हुए बड़े कष्ट से जीवित हैं। दमयन्ती को किसी तरह भी उनपर क्रोध न करना चाहिये। विशेषकर इस समय वे राज्य से भ्रष्ट, लक्ष्मी से हीन, भूख और प्यास से व्याकुल होकर, किसी तरह जीवित हैं। वे दमयन्ती पर प्रीति प्रकट करें या न करें, उनकी ऐसी दशा देखकर दमयन्ती को उनपर कोप न करना चाहिये। हे दमयन्ती! मैं बाहुक के मुँह से उक्त उत्तर को सुनकर शीघ्र यहां चला आया हूँ। अब आप जो कर्त्ता

यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम् ।
तथा त्वया प्रकर्तव्यं मम चेत्प्रियमिच्छसि ॥ १६ ॥
यथा चाऽहं समानीता सुदेवेनाऽऽशु बान्धवान् ।
तेनैव मङ्गलेनाऽऽशु सुदेवो यातु मा चिरम् ॥ १७ ॥
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः ।
विश्रान्तं तु ततः पश्चात्पर्णादं द्विजसत्तमम् ॥ १८ ॥
अर्चयामास वैदर्भी धनेनाऽतीव भाविनी ।
नले चेहाऽऽगते तत्र भूयो दास्यामि ते वसु ॥ १९ ॥
त्वया हि मे बहु कृतं यदन्यो न करिष्यति ।
यद्भर्त्राऽहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ॥ २० ॥
स एवमुक्तोऽथाऽऽश्वास्य आशीर्वादैः समङ्गलैः ।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः सुमहामनाः ॥ २१ ॥
ततः सुदेवमानाय्य दमयन्ती युधिष्ठिर ।
अब्रवीत्संनिधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ॥ २२ ॥
गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम् ।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि संपतन्निव कामगः ॥ २३ ॥
आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम् ।

उचित हो सो करें। पर्णाद के मुख से ये बातें सुनकर दमयन्ती का शोक उमड़ पड़ा। वह आँसू बहाती हुई अपनी माता के पास गई और एकान्त में जाकर कहने लगी—हे माता! मैं सुदेव ब्राह्मण को अयोध्यापुरी में महाराज नल का पता लगाने के लिये शीघ्र भेजना चाहती हूँ। वे जैसे मेरा पता लगाकर मुझे आपके पास ले आये हैं, वैसे ही वे महाराज नल का भी पता लगाकर उन्हें यहां ले आवेंगे। पर्णाद जब विश्राम कर चुके तब दमयन्ती ने बहुत सा धन और रत्न देकर उन्हें सन्तुष्ट किया और कहा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! राजा नल जब यहां आ जायेंगे तो मैं आपको और भी धन दूँगी। आपने मेरा यह उपकार किया है जो दूसरा कदापि नहीं कर सकता। अब पति से मेरी शीघ्र भेंट हो जायगी। इसके पश्चात् वह ब्राह्मण धन लेकर आशीर्वाद देता हुआ घर को चला गया ॥११।२०॥

अब दमयन्ती ने दुःखी होकर सुदेव ब्राह्मण को बुलाया और अपनी माता के सन्मुख उससे कहा—हे सुदेव! शीघ्र अयोध्यापुरी में जाकर राजा ऋतुपर्ण को यह सूचना दे दीजिए कि "राजा भीम की कन्या दमयन्ती का फिर से स्वयम्वर होगा। कल स्वयम्वर का दिन है। जगह-जगह यह सूचना फैलने से अनेक

तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥
तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति ।
यदि संभावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम ॥ २५ ॥
सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति ।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा ॥ २६ ॥
एवं तया यथोक्तो वै गत्वा राजानमब्रवीत् ।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपुनःस्वयंवरकथने सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥

राजपुत्र स्वयम्वर-सभा में एकत्र हो रहे हैं। कल सूर्योदय होते ही दमयन्ती दूसरे पति का वरण करेगी। उसके इस दुबारा स्वयम्वर का अभिप्राय यह है कि उसे यह नहीं मालूम पड़ता कि नल जीते हैं या नहीं। जो हो, यदि आप उस स्वयम्वर में जाना चाहें तो अभी तैयार हों।" दमयन्ती ने यों कहकर अब सुदेव को अयोध्या में भेज दिया। वह ब्राह्मण बड़ी शीघ्रता के साथ जाकर महाराज ऋतुपर्ण से मिला और उसने दमयन्ती के कथनानुसार सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥२१।२७॥

वनपर्व का सत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

अथ एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

बृहदश्व उवाच—श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः ।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
विदर्भान्यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ॥ २ ॥
एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह ।
व्यदीर्यत मनो दुःखात्प्रदध्यौ च महामनाः ॥ ३ ॥
दमयन्ती वदेदेतत्कुर्याद्दुःखेन मोहिता ।

इकहत्तरवां अध्याय ॥ ७१ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! राजा ऋतुपर्ण सुदेव ब्राह्मण की बात को सुनकर मधुर वाणी के साथ बाहुक से कहने लगा—हे हयतत्त्व के ज्ञाता ! सुनता हूँ कि दमयन्ती का दुबारा स्वयम्वर होगा। कल उसका दिन नियत हुआ है। मैं आज ही विदर्भ नगर में पहुँच जाना चाहता हूँ। यह सुनकर बाहुक अर्थात् नल का मन दुःख से विदीर्ण हो गया। वह विचार करने लगा कि क्या दमयन्ती सचमुच फिर अपना विवाह करना चाहती है; या मुझे पाने के लिये यह उपाय निकाला गया है ? हाय बड़े

असमर्थे भवेद्वाऽयमुपायश्चिन्तितो महान् ॥ ४ ॥
नृशंसं वत वैदर्भी भर्तृकामा तपस्विनी ।
मया क्षुद्रेण निकृता कृपणा पापबुद्धिना ॥ ५ ॥
स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः ।
स्यादेवमपि कुर्यात्सा विवासाद्धतसौहृदा ॥ ६ ॥
मम शोकेन संविग्ना नैराश्याच्चनुमध्यमा ।
नैवं सा कर्हिचित्कुर्यात्सापत्या च विशेषतः ॥ ७ ॥
यदत्र सत्यं वाऽसत्यं गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम् ।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थं च करोम्यहम् ॥ ८ ॥
इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं जनाधिपम् ॥ ९ ॥
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप ।
एकाह्ना पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ॥ १० ॥
ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन्स बाहुकः ।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गासुरिनृपाज्ञया ॥ ११ ॥
स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः ।
अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः ।

दुःख की बात है जो मेरे जैसे नीच, कृपण और पापबुद्धि मनुष्य ने इस तपस्विनी विदर्भ राजा की पुत्री का जो अब पति वरना चाहती है निरादर किया ॥१।५॥

हा, संसार में स्त्रियों का स्वभाव बहुत ही चञ्चल होता है। मैंने उस अबला स्त्री के साथ जैसा निठुर व्यवहार किया है उसका ख्याल करके, उसके ऐसे विचार के लिये, मैं उसे दोष नहीं दे सकता। मेरे विरह से दमयन्ती अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही है। फिर मेरे वीर्य से उसके एक बालक और एक कन्या भी उत्पन्न हो चुके हैं। जो कुछ इसमें सत्य और असत्य है वह वहां ही जाने पर निश्चय होगा। इसमें अब मुझको अपने मनोरथ को जानने के लिये इस राजा ऋतुपर्ण की कामना पूरी करनी चाहिये। यह विचारकर और दुःखी होकर बाहुक ने हाथ जोड़कर राजा ऋतुपर्ण से कहा—हे महाराज! मैं आपकी इच्छा के अनुसार एक ही दिन में विदर्भ देश में आपको पहुँचा दूँगा ॥६।१०॥

इसके पीछे बाहुक ने राजा ऋतुपर्ण की आज्ञा से घुड़साल (अस्तबल) में जाकर फुर्तीले घोड़ों के विशेष विशेष लक्षणों के अनुसार घोड़े छाँटे। महाराज ऋतुपर्ण को विदर्भ नगर जाने के लिये अत्यन्त अधीर देखकर बाहुक ने शीघ्र चलनेवाले अच्छी

अध्यगच्छत्कृशानश्वान्समर्थानध्वनि क्षमान् ॥ १२ ॥
तेजोवलसमायुक्तान्कुलशीलसमन्वितान् ।
वर्जितॉंल्लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान्महाहनून् ॥ १३ ॥
शुद्धान्दशभिरावर्तैः सिन्धुजान्वातरंहसः ।
दृष्ट्वा तानब्रवीद्राजा किंचित्कोपसमन्वितः ॥ १४ ॥
किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या न ते वयम् ।
कथमल्पवलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम् ।
महानध्वा च तुरगैर्गन्तव्यः कथमीदृशैः ॥ १५ ॥
वाहुक उवाच—एको ललाटे द्वौ मूर्ध्नि द्वौ द्वौ पार्श्वोपपार्श्वयोः ।
द्वौ द्वौ वक्षसि विज्ञेयौ प्रयाणे चैक एव तु ॥ १६ ॥
एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान्नाऽत्र संशयः ।
यानन्यान्मन्यसे राजन् ब्रूहि तान्योजयामि ते ॥ १७ ॥
ऋतुपर्ण उवाच— त्वमेव हयतत्त्वज्ञः कुशलो ह्यसि वाहुक ।
यान्मन्यसे समर्थास्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ॥ १८ ॥
ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान् ।
योजयामास कुशलो जवयुक्तान्रथे नलः ॥ १९ ॥
ततो युक्तं रथं राजा समारोहत्त्वरान्वितः ।

जाति के दुबले-पतले घोड़े छांट लिये। वे घोड़े अच्छे वंश में उत्पन्न, सुशिक्षित, सिन्धु देश के, हीन लक्षणों से शून्य, शीघ्रगामी, बड़े बलवान् और उत्तम थे। उनपर दस भौंरियां थीं। उनकी नाक मोटी थी और थूथन चौड़ा था। ऐसे घोड़ों को छांटकर निकालते देख ऋतुपर्ण को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा-हे वाहुक! तुम क्या मेरे कार्य को बिगाड़ना चाहते हो! ये दुबले और कमज़ोर घोड़े किस तरह इतनी राह एक दिन में चल सकेंगे! ॥११।१५॥

वाहुक ने कहा-हे महाराज! इन घोड़ों के माथे पर एक भौंरी, मूर्द्धन पर दो, अगल बगल के चारों पुट्ठों पर चार, छाती में दो, पीछे एक, इस प्रकार दस भौंरियां हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ये घोड़े निर्विघ्न रूप से एक ही दिन में आपको विदर्भ नगर में पहुँचा देंगे। अथवा जो आप इन घोड़ों को पसन्द न करें तो जिन घोड़ों के लिये आप आज्ञा दें उन्हीं को रथ में जोतने के लिये तैयार हूँ। ऋतुपर्ण ने कहा-हे वाहुक! तुम अश्व विद्या में चतुर हो। तुम जिन घोड़ों को अच्छे लक्षणोंवाला समझो उन्हीं को रथ में जोतो। यह सुनकर वाहुक ने उन वायु के तुल्य वेग रखनेवाले चारों घोड़ों को रथ में जोता और ऋतुपर्ण उस रथ पर आतुरता के साथ सवार

अथ पर्यपतन्भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ॥ २० ॥
ततो नरवरः श्रीमान्नलो राजा विशांपते ।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ॥ २१ ॥
रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः ।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ॥ २२ ॥
ते चोद्यमाना विधिवद्बाहुकेन हयोत्तमाः ।
समुत्पेतुरथाऽऽकाशं रथिनं मोहयन्निव ॥ २३ ॥
तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान्वहतो वातरंहसः ।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान्विस्मयं परमं ययौ ॥ २४ ॥
रथघोषं तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणं च तत् ।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ॥ २५ ॥
किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः ।
तथा तल्लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ॥ २६ ॥
शालिहोत्रोऽथ किं नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित् ।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ॥ २७ ॥
उताऽऽहोस्विद्भवेद्राजा नलः परपुरञ्जयः ।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ॥ २८ ॥
अथ चेह नलो विद्यां वेत्ति तामेव बाहुकः ।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ॥ २९ ॥

हो गया। उसके सवार होते ही वह घोड़े घोटुओं के बल गिर पड़े ॥१६।२०॥

तब बाहुक ने शीघ्रता से उन घोड़ों के पास जाकर उनको पुचकारा और वार्ष्णेय सारथि को हटाकर घोड़ों की बागडोर आप हाथ में ले ली और घोड़ों को बड़े वेग के साथ हाँका। विधि के अनुसार हाँकने से ऐसा ज्ञान पड़ता था मानों यह घोड़े आकाश को उड़े जा रहे हैं। यह देखकर अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। और वार्ष्णेय सारथी उस रथ के शब्द को सुनकर विचारने लगा कि यह बाहुक तो बड़ा गुणवान् और हयतत्त्व का ज्ञाता है। क्या यह इन्द्र का सारथि मातलि है! क्योंकि बाहुक में मातलि के सब श्रेष्ठ लक्षण देख पड़ते हैं। अथवा यह घोड़ों की जाति को पहचानने-वाला शालिहोत्र, मनुष्य-शरीर धारणकर, पृथ्वी पर आकर, घोड़ों की रास पकड़े रथ को हांक रहा है!

अपि चेदं वयस्तुल्यं वाहुकस्य नलस्य च ।
नाऽयं नलो महावीर्यस्तद्विधश्च भविष्यति ॥ ३० ॥
प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
दैवेन विधिना युक्ताः शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥ ३१ ॥
भवेन्न मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति ।
प्रमाणात्परिहीनस्तु भवेदिति मतिर्मम ॥ ३२ ॥
वयःप्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्ययः ।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये वाहुकमन्ततः ॥ ३३ ॥
एवं विचार्य वहुशो वार्ष्णेयः पर्यचिन्तयत् ।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ॥ ३४ ॥
ऋतुपर्णश्च राजेन्द्रो वाहुकस्य हयज्ञताम् ।
चिन्तयन्मुमुदे राजा सहवार्ष्णेयसारथिः ॥ ३५ ॥
ऐकाग्र्यं च तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत् ।
परं यत्नं च संप्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णविदर्भगमने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

या यह वही महाराज नल है ! क्योंकि यह बाहुक घोड़े चलाने में उससे किसी बात में कम नहीं है । यदि यह महात्मा नल न भी हो तो उसके शिष्य या उसके सदृश और कोई महापुरुष होगा ॥२१।३०॥

दैव के कोप में पड़कर या शास्त्रनिर्दिष्ट नियम के अनुसार सैंकड़ों महात्मा और गुणी, रूप बदले हुए, इस पृथ्वी पर विचरते हैं । तात्पर्य यह है कि बाहुक के नल होने में मुझे सन्देह होता है, क्योंकि यद्यपि बाहुक और नल की अवस्था समान देख पड़ती है, तो भी रूप-रङ्ग आकार आदि में अन्तर है सब प्रकार विचार करके देखने से मुझे बाहुक में नल के सभी गुण देख पड़ते हैं । बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार से उस नल के सारथि वार्ष्णेय ने बहुत सी बातें विचार कर बड़ी चिन्ता की और राजा ऋतुपर्ण बाहुक के हयतत्त्व के ज्ञान को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी एकाग्रता, उत्साह, यत्न और घोड़ों के पकड़ने की विधि को जानकर परम हर्षित हुआ ॥३१।३६॥

वनपर्व का इकहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

बृहदश्व उवाच—स नदीः पर्वतांश्चैव च वनानि च सरांसि च ।
अचिरेणाऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १ ॥
तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
उत्तरीयमधोऽपश्यद्भ्रष्टं परपुरञ्जयः ॥ २ ॥
ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा ।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ॥ ३ ॥
निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान्महाजवान् ।
वार्ष्णेयो यावदेनं मे पटमानयतामिह ॥ ४ ॥
नलस्तं प्रत्युवाचाऽथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो नाऽऽहर्तुं शक्यते पुनः ॥ ५ ॥
एवमुक्ते नलेनाऽथ तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन् फलवन्तं बिभीतकम् ॥ ६ ॥
तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।
ममाऽपि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ॥ ७ ॥
सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नाऽस्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठाऽस्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥ ८ ॥
वृक्षेऽस्मिन्यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।

बहत्तरवाँ अध्याय ॥ ७२ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हैं वैसे ही बाहुक बड़े वेग से रथ चलाता हुआ अनेक नद, नदी, वन, उपवन, सरोवर और पर्वत आदि को लाँघता छोड़ता चला जाता था। इसी बीच में राजा ऋतुपर्ण का उत्तरीय वस्त्र रथ से नीचे गिर पड़ा। उस समय ऋतुपर्ण ने नल से कहा—हे बाहुक ! तुम तनिक रास खींचकर घोड़ों को रोक लो। मेरा वस्त्र गिर गया है। वार्ष्णेय जाकर उसे ले आवेगा। बाहुक ने कहा—हे महाराज ! वह वस्त्र यहाँ से एक योजन पर रह गया है। इस समय वह नहीं लाया जा सकता। इसके पीछे राह में राजा ऋतुपर्ण ने एक बहेड़े के वृक्ष को देखकर नल से कहा—हे बाहुक ! देखो, मैं गिनने में कैसा फुर्तीला और जानकार हूँ। इस बहेड़े के वृक्ष में जितने पत्ते और फल हैं, सो मैं अभी गिनकर तुम्हें बताये देता हूँ। देखो, सभी विषयों को सब लोग नहीं जानते। कोई भी सर्वज्ञ नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान या सब विद्याएँ एक ही पुरुष में नहीं हो सकतीं ॥१।८॥

पतितान्यपि यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ॥ ९ ॥
एकपत्राधिकं चाऽत्र फलमेकं च वाहुक ।
पञ्चकोट्योऽथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ॥ १० ॥
प्रचिनु ह्यस्य शाखे द्वे याश्चाऽप्यन्याः प्रशाखिकाः ।
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ॥ ११ ॥
ततो रथमवस्थाप्य राजानं वाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन् कत्थसे शत्रुकर्शन ॥ १२ ॥
प्रत्यक्षमेतत्कर्ताऽस्मि शातयित्वा विभीतकम् ।
अथाऽत्र गणिते राजन् विद्यते न परोक्षता ॥ १३ ॥
प्रत्यक्षं ते महाराज शातयिष्ये विभीतकम् ।
अहं हि नाऽभिजानामि भवेदेवं न वेति वा ॥ १४ ॥
संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप ।
मुहूर्तमपि वार्ष्णेयो रश्मीन्यच्छतु वाजिनाम् ॥ १५ ॥
तमब्रवीन्नृपः सूतं नाऽयं कालो विलम्बितुम् ।
वाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ॥ १६ ॥
प्रतीक्षस्व मुहूर्तं त्वमथवा त्वरते भवान् ।
एप याति शिवः पन्था याहि वार्ष्णेयसारथिः ॥ १७ ॥
अब्रवीदृतुपर्णस्तु सान्त्वयन्कुरुनन्दन ।
त्वमेव यन्ता नाऽन्योऽस्ति पृथिव्यामपि वाहुक ॥ १८ ॥

इस वृक्ष के नीचे एक सौ एक पत्ते और एक सौ एक फल पड़े हुए हैं। और इसकी दोनों शाखाओं में पांच कोड़ पत्ते और दो हज़ार पचानवें फल हैं। राजा ऋतुपर्ण के ये वाक्य सुनकर बाहुक ने रथ को रोककर कहा—हे महाराज ! जबतक मैं स्वय इस वृक्ष के पत्ते और फलों को न गिन लूँ तबतक कुछ विश्वास नहीं कर सकता। मैं अभी इस वृक्ष को काटकर इसके पत्तों और फलों को गिनकर देखूँगा। आपका सारथि वार्ष्णेय दमभर के लिये घोड़ों की रास थाम रहे ॥९।१५॥

यह सुनकर ऋतुपर्ण ने कहा—हे बाहुक ! व्यर्थ देर करने का कुछ प्रयोजन नहीं। चलो, शीघ्र विदर्भ देश में पहुँचना होगा। बाहुक ने कहा—हे राजन् ! आपको यहां एक मुहूर्त भर ठहरना होगा। मैं इसके पत्ते और फलों को गिन लूँ। यदि आप ठहरना न चाहें तो वार्ष्णेय सारथि घोड़ों की रास पकड़कर इस

त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान्हयकोविद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥
कामं च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक ।
विदर्भान्यदि यात्वाऽद्य सूर्यं दर्शयिताऽसि मे ॥ २० ॥
अथाऽब्रवीद्बाहुकस्तं संख्याय च विभीतकम् ।
ततो विदर्भान्यास्यामि कुरुष्वैवं वचो मम ॥ २१ ॥
अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह ।
एकदेशं च शाखायाः समादिष्टं मयाऽनघ ॥ २२ ॥
गणयस्वाऽश्वतत्त्वज्ञ ततस्त्वं प्रीतिमावह ।
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ॥ २३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत् ।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि तु ॥ २४ ॥
अत्यद्भुतमिदं राजन् दृष्टवानस्मि ते बलम् ।
श्रोतुमिच्छामि तां विद्यां ययैतज्ज्ञायते नृप ॥ २५ ॥
तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने नृप ।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां संख्याने च विशारदम् ॥ २६ ॥

भले मार्ग से आपको विदर्भ देश में ले जायगा। राजा ने कहा—हे बाहुक ! तुम्हारे जैसा श्रेष्ठ सारथि इस जगत् में दूसरा कोई नहीं है। तुमने सारथि बनना स्वीकार किया है, इसी से आज मैं इस कठिन काम में आगे बढ़ा हूँ। मैं इस समय तुम्हारी शरण में हूँ। तुम्हें इस समय विघ्न न करना चाहिये। यदि आज ही तुम मुझे विदर्भ देश में पहुँचा दोगे और सूर्य वहाँ पहुँचकर निकले तो तुम जो कहोगे वह तुम्हारी इच्छा मैं पूरी करूँगा ॥१६।२०॥

बाहुक ने कहा—हे महाराज ! मैं इस वृक्ष के फलों और पत्तों को गिनकर विदर्भ देश को चलूँगा आप मेरे कहने के अनुसार ठहरिये। अब राजा ऋतुपर्ण को लाचार होकर बाहुक का कहना मानना पड़ा। राजा ने बाहुक से कहा—अच्छा गिन लो। हे अश्वविद्या के जाननेवाले बाहुक ! तुम इस शाखा के केवल एक हिस्से के पत्तों और फलों को गिनकर देख लो। इतने से ही तुमको मेरी गिनती पर विश्वास हो जायगा। बाहुक ने उसी समय रथ से उतरकर वृक्ष को काट डाला। उसके पत्तों और फलों को गिन लेने पर बाहुक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—हे महाराज ! मैंने आपकी यह अलौकिक गिनने की शक्ति प्रत्यक्ष देख ली। आप जिस विद्या के प्रभाव से पत्तों और फलों की ठीक-ठीक संख्या इतनी जल्दी जान गये उसका हाल सुनने की मुझे बड़ी इच्छा

बाहुकस्तमुवाचाऽथ देहि विद्यामिमां मम ।
मत्तोऽपि चाऽश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥
ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्यगौरवात् ।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तं तथेत्यब्रवीद्वचः ॥ २८ ॥
यथोक्तं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।
निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठतु बाहुक ॥ २९ ॥
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ।
तस्याऽक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः ॥ ३० ॥
कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात्सततमुद्वमन् ।
कलेस्तस्य तदार्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः ॥ ३१ ॥
स तेन कर्शितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ।
ततो विषविमुक्तात्मा स्वं रूपमकरोत्कलिः ।
तं शप्तुमैच्छत्कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ॥ ३२ ॥
तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः ।
कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ॥ ३३ ॥
इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माऽशपत्पुरा ।
यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीडितः ॥ ३४ ॥

है । कृपा करके बतलाइए । ऋतुपर्ण ने कहा—हे बाहुक ! मैं गणना की विद्या और पाँसों की विद्या में बड़ा चतुर हूँ ॥२१।२६॥

बाहुक ने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप मुझे अपनी ये दोनों विद्याएँ सिखा दीजिए । इसके बदले में आपको मैं अश्व-विज्ञान बतला दूँगा । राजा ऋतुपर्ण यह सुनकर अपने कार्य की गौरवता और अश्वविद्या के लोभ के कारण से बोला कि "ऐसा ही होगा"। लो, तुमको मैं अक्षहृदय विद्या विधिपूर्वक बताता हूँ और अक्षहृदय विद्या को अपने पास मेरी धरोहर रक्खो। यह कहकर राजा ने नल को वह विद्या बतला दी । उसके जानते ही नल के शरीर में से कर्कोटक के विष की अग्नि को उगलता हुआ कलि और उसकी शापाग्नि जिसके कारण से नल इतने दिनों से मूढ़ हो रहा था बाहर निकल आया । विष की अग्नि के शान्त होने पर कलियुग ने अपना स्वरूप धारण किया । उसके स्वरूप को देखकर राजा नल ने क्रोधित होकर शाप देना चाहा ॥२७।३२॥

परन्तु नल शाप नहीं देने पाया था कि कलि ने भय से कम्पित होकर दोनों हाथ जोड़कर नल से नम्रता के साथ कहा—हे महाराज ! पहले जब आप अकारण दमयन्ती को अकेली वन में छोड़ आये थे

अवसं त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित ।
विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३५ ॥
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि श्रृणु चेदं वचो मम ।
ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः ॥ ३६ ॥
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद्भविष्यति ।
भयार्तं शरणं यातं यदि मां त्वं न शप्स्यसे ।
एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत्कोपमात्मनः ॥ ३७ ॥
ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश बिभीतकम् ।
कलिस्त्वन्यैस्तदाऽदृश्यः कथयन्नैषधेन वै ॥ ३८ ॥
ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा ।
संप्रणष्टे कलौ राजा संख्यायाऽस्य फलान्युत ॥ ३९ ॥
मुदा परमया युक्तस्तेजसाऽथ परेण वै ।
रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ॥ ४० ॥
बिभीतकश्चाऽप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात् ।
हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
नलः संनोदयामास प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ।
विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महायशाः ॥ ४२ ॥

तब उन्होंने अत्यन्त दुखित होकर मुझे शाप दिया था। तभी से मैं दुखित होकर कर्कोटक नाग के विष की यन्त्रणा सहता हुआ आपके शरीर में रहता था। हे शत्रुनाशन! इस समय दमयन्ती के शाप से मेरा छुटकारा हुआ है। अब आप कुपित होकर मुझे शाप मत दीजिए। मैं आपकी शरण में हूँ। हे महाराज! आप यदि मुझ भयभीत और शरणागत पर क्रोध न दिखाकर शाप नहीं देंगे तो मैं आपको यह वरदान दूँगा कि जगत् में जो कोई आपका नाम लेगा, उसे मुझसे कुछ भी डर न रह जायगा। तब राजा ने अपने क्रोध के वेग को रोक लिया। कलियुग भी डर के मारे जल्दी से उस बहेडे के वृक्ष में घुस गया। कलियुग और नल के उक्त वार्तालाप को और किसी ने नहीं जाना। कलियुग के प्रवेश करते ही बहेडे का वृक्ष छोटा हो गया। इस प्रकार कलियुग से छुटकारा मिलने पर राजा नल को शान्ति मिली। अपना स्वभाविक तेज पाकर, स्वस्थ होकर, नल ने वृक्ष के पत्तों और फलों को गिना। फिर परम प्रसन्न होकर रथ पर चढ़कर, वायु के समान वेग से नल विदर्भ नगर की ओर चले ॥३३।४०॥

तब से बहेड़े का वृक्ष कलि से संसर्ग होने के कारण से अधम माना जाता है। क्रमशः नल को

नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद्गृहम् ।
ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत्पृथिवीपतिः ।
विमुक्तः कलिना राजन् रूपमात्रवियोजितः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिनिर्गमे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

आँखों की ओट होते देखकर कलियुग भी उस वृक्ष से निकलकर अपने स्थान को गया। महाराज नल का कलियुग से छुटकारा तो हो गया किन्तु उनका रूप वैसा ही बना रहा उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हुआ ॥४१।४३॥

वनपर्व का बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

बृहदश्व उवाच—ततो विदर्भान्संप्राप्तं सायाह्ने सत्यविक्रमम् ।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥
स भीमवचनाद्राजा कुण्डिनं प्राविशत्पुरम् ।
नादयन्रथघोषेण सर्वाः स विदिशो दिशः ॥ २ ॥
ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः ।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसंनिधौ ॥ ३ ॥
दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम् ।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ॥ ४ ॥
परं विस्मयमापन्ना श्रुत्वा नादं महास्वनम् ।
नलेन संगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु ।
सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ॥ ५ ॥

तिहत्तरवाँ अध्याय ॥ ७३ ॥

बृहदश्व कहते है—हे राजा युधिष्ठिर! महाराज ऋतुपर्ण सन्ध्या के समय विदर्भ देश की राजधानी में जा पहुँचे। राजा भीम ने, उनके आने की सूचना पाते ही, उन्हें राजमहल में ले आने के लिये जल्दी से अपने अनुचरों को भेजा। तब महाराज ऋतुपर्ण रथ के पहियों की ध्वनि से दसों दिशाओं को व्याप्त करते हुए राजधानी के भीतर गये। पहले नल के आने पर जैसे उनके घोड़े सन्तुष्ट होते थे वैसे ही इस समय, ऋतुपर्ण के रथ का शब्द सुनकर, वे प्रसन्नता प्रकट करने लगे। वर्षाकाल के मेघ के गरजने के समान रथ के पहियों की घरघराहट सुनकर दमयन्ती को बड़ा अचरज हुआ। वह सोचने लगी कि पहले महाराज नल जब रथ चलाते थे तब ऐसा ही शब्द होता था। महलों पर बैठे हुए मोर और

प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालास्थाश्चैव वारणाः ।
हयाश्च शुश्रुवुस्तस्य रथघोषं महीपतेः ॥ ६ ॥
तच्छ्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा ।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन् मेघनाद इवोत्सुकाः ॥ ७ ॥
दमयन्त्युवाच—यथाऽसौ रथनिर्घोषः पूरयन्निव मेदिनीम् ।
ममाऽऽह्लादयते चेतो नल एष महीपतिः ॥ ८ ॥
अथ चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि ।
असंख्येयगुणं वीरं विनंक्ष्यामि न संशयः ॥ ९ ॥
यदि वै तस्य वीरस्य बाह्वोर्नाऽद्याऽहमन्तरम् ।
प्रविशामि सुखस्पर्शं न भविष्याम्यसंशयम् ॥ १० ॥
यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः ।
अद्य चामीकरप्रख्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ ११ ॥
यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणविक्रमः ।
नाऽभिगच्छति राजेन्द्रो विनंक्ष्यामि न संशयः ॥ १२ ॥
न स्मराम्यनृतं किंचिन्न स्मराम्यपकारताम् ।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि कदाचन ॥ १३ ॥
प्रभुः क्षमावान्वीरश्च दाता चाऽप्यधिको नृपैः ।

हस्तिशाला में बँधे हुए हाथी, बादल की गरज के समान उस रथ के शब्द को सुनकर, नाचने-बोलने और गरजने लगे । तब दमयन्ती कहने लगी कि इस रथ का शब्द पृथ्वी को पूर्ण और मेरे चित्त को प्रसन्न करता है इसमें महाराज नल अवश्य हैं । और जो वे चन्द्रमा का सा मुख और असंख्य गुण रखनेवाले नल इसमें नहीं हुए तो मैं अवश्य अपने प्राणों को छोड़ दूँगी । नल की भुजाओं का स्पर्श बड़ा सुख-दायी है जो उन भुजाओं के बीच में मेरा यह शरीर न प्रवेश होगा तो यह मेरा शरीर न रहेगा ॥१।१०॥

आज जो महाराज नल मुझसे नहीं मिले और उन्होंने बात-चीत न की तो मैं निस्सन्देह आत्महत्या कर दूँगी । यदि वे गजराज और सिंह के समान पराक्रमी नल मेरे पास नहीं आये तो मैं अपने आपको अग्नि में जला दूँगी । मैंने कभी भी अपने पति के साथ असत्य नहीं बोला है न कभी उनका कुछ अपकार ही किया है और स्वतन्त्र रहने पर भी कभी उनके विपरीत काम नहीं किया । मेरे स्वामी बड़े क्षमाशील, उदार और दयालु हैं । उन्होंने कभी भी पराई स्त्री की ओर दृष्टि नहीं की । अबतक मैं उन्हीं में मन लगाये हुए उन्हीं का ध्यान कर रही हूँ । उनके विरह से उत्पन्न शोक से मेरा हृदय दिन और रात

रहोऽनीचानुवर्ती च क्लीववन्मम नैषधः ॥ १४ ॥
गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम् ।
हृदयं दीर्यत इदं शोकात्प्रियविनाकृतम् ॥ १५ ॥
एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत ।
आरुरोह महद्वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया ॥ १६ ॥
ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम् ।
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम् ॥ १७ ॥
ततोऽवतीर्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात् ।
हयांस्तानवमुच्याऽथ स्थापयामास वै रथम् ॥ १८ ॥
सोऽवतीर्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः ।
उपतस्थे महाराजं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १९ ॥
तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परया ततः ।
स तेन पूजितो राज्ञा ऋतुपर्णो नराधिपः ॥ २० ॥
स तत्र कुण्डिने रम्ये वसमानो महीपतिः ।
न च किंचित्तदाऽपश्यत्प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ।
स तु राज्ञा समागम्य विदर्भपतिना तदा ॥ २१ ॥
अकस्मात्सहसा प्राप्तं श्रीमन्तं न स्म विन्दति ।

विदीर्ण हुआ जारहा है। बृहदश्व कहते हैं—हे युधिष्ठिर! अपने मन में इस तरह विलाप और सन्ताप करके पुण्यश्लोक नल के दर्शन की इच्छा से, दमयन्ती बिलकुल ही अचेत की तरह महल के ऊपर जा चढ़ी। वहां से उसने देखा, वार्ष्णेय और बाहुक सारथि के साथ महाराज ऋतुपर्ण बीच की कक्षा (ड्योढी) में पहुँच गये हैं। इसके पश्चात् वार्ष्णेय, और बाहुक ने रथ से उतरकर, घोड़ों को खोलकर, रथ खड़ा कर दिया। ऋतुपर्ण रथ से उतरकर राजा भीम के पास आये। महाराज भीम ने समुचित सत्कार के साथ उनकी अभ्यर्थना की ॥११।२०॥

महाराज ऋतुपर्ण विचित्र आसन पर बैठकर मन ही मन स्वम्यवर के सम्बन्ध की बातों पर विचार करने लगे। अबतक उन्हें इस बात की खबर न थी कि दमयन्ती ने पिता से बिना कहे, केवल माता से ही सम्मति करके, उनके पास अयोध्या को दूत भेजा था। इधर महाराज भीम भी अकस्मात् ऋतुपर्ण के आने का कुछ भी तात्पर्य नहीं जानते थे। उन्होंने कुशल-प्रश्न पूछने के उपरान्त उनसे अपने यहां आने का कारण पूछा। राजा भीम को यह पता न था कि उनकी कन्या के लिये ही ऋतुपर्ण आये हैं। तब ऋतुपर्ण बड़े सोच-विचार में पड़े व कुछ निश्चय न

किं कार्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टः स भारत ॥ २२ ॥
नाऽभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम् ।
ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान्सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥
राजानं राजपुत्रं वा न स्म पश्यति कञ्चन ।
नैव स्वयंवरकथां न च विप्रसमागमम् ॥ २४ ॥
ततो विगणयद्राजा मनसा कोसलाधिपः ।
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ॥ २५ ॥
राजाऽपि च स्मयन्भीमो मनसा समचिन्तयन् ।
अधिकं योजनशतं तस्याऽगमनकारणम् ॥ २६ ॥
ग्रामान्बहूनतिक्रम्य नाऽध्यगच्छद्यथातथम् ।
अल्पकार्यं विनिर्दिष्टं तस्याऽऽगमनकारणम् ॥ २७ ॥
पश्चादुदर्के ज्ञास्यामि कारणं यद्भविष्यति ।
नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ॥ २८ ॥
विश्राम्यतामित्युवाच क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः ।
स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ॥ २९ ॥
राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत् ।
ऋतुपर्णे गते राजन्वार्ष्णेयसहिते नृपे ॥ ३० ॥
बाहुको रथमादाय रथशालामुपागमत् ।

कर सके कि भीम नरेश को अब क्या उत्तर दें। वे एकाएक क्या कहकर स्वयम्वर की बात का उल्लेख करते। राजा ऋतुपर्ण ने देखा कि यहां न और कोई राजपुत्र आया है न यहां कुछ स्वयम्वर की चर्चा ही है और न ब्राह्मण ही आये हैं। थोड़ी देर रुक कर उन्होंने कहा—हे महाराज! बहुत दिनों से आपसे भेंट नहीं हुई थी, इसी से आपसे मिलने आया हूँ। ऋतुपर्ण के बनाये हुए इस कारण को सुनकर भीम राजा को सन्देह हुआ। उन्होंने मन में कहा कि चार सौ कोस से भी अधिक राह चलकर यहां इनके आने का कारण क्या है, सो कुछ समझ में नहीं आया। इन्होंने जो कारण बतलाया है, वह बिलकुल साधारण जान पड़ता है। खैर, बाद को अवश्य इसका गूढ़ कारण मालूम हो जायगा। अब राजा भीम ने ऋतुपर्ण से कहा—महाराज! दूर से चलकर आने से आप बहुत थक गये होंगे, इससे विश्राम कीजिए। अनुचरों सहित महाराज ऋतुपर्ण बतलाये हुए विश्राम भवन में गये। इधर बाहुक ने घोड़ों की सेवा करके

स मोचयित्वा तानश्वानुपचर्य च शास्त्रतः ॥ ३१ ॥
स्वयं चैतान्समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत् ।
दमयन्त्यपि शोकार्ता दृष्ट्वा भाङ्गासुरिं नृपम् ॥ ३२ ॥
सूतपुत्रं च वार्ष्णेयं वाहुकं च तथाविधम् ।
चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिःस्वनः ॥ ३३ ॥
नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम् ।
वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ॥ ३४ ॥
तेनाऽद्य रथनिर्घोषो नलस्येव महानभूत् ।
आहोस्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा ।
यथाऽयं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ॥ ३५ ॥
एवं सा तर्कयित्वा तु दमयन्ती विशांपते ।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे शुभा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि भीमपुरीप्रवेशे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

रथ को रथशाला में रख दिया ॥२१।३०॥

फिर वह उसी रथ के भीतर जा बैठा। राजा ऋतुपर्ण,वार्ष्णेय और कपटवेषधारी बाहुक को देखकर दमयन्ती मन में बारबार चिन्ता करने लगी कि रथ के आते समय उसके पहियों की घरघराहट सुनकर मैंने सोचा था कि महाराज नल ही आ रहे हैं, किन्तु वे तो नहीं देख पड़ते। उधर वह रथ का शब्द लगातार कानों में गूँजकर महात्मा नल की सी याद दिला रहा है। वार्ष्णेय भी महात्मा नल के समान अश्वविज्ञान-विद्या को जानता है। इसी कारण उसके हाकने से इस रथ के पहियों का वैसा ही शब्द हो रहा है। अथवा यह बात है कि महाराज ऋतुपर्ण भी महात्मा नल के समान रथ को चला सकते हों। बहुत देर तक तरह-तरह के विचार करके दमयन्ती ने एक दासी को, नल का पता लगाने के लिये, रथशाला में भेजा ॥२१।३६॥

वनपर्व का तिहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

दमयन्त्युवाच—गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः ।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ॥ १ ॥

चौहत्तरवा अध्याय ॥ ७४ ॥

अब दमयन्ती ने केशिनी नाम की दासी को बुलाकर कहा—हे केशिनी! तुम एक बार इस छोटी छोटी बाहें रखनेवाले, विकृत शरीर, सारथि के पास जाओ और उसका परिचय करो। उसे जब से देखा

अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता ।
पृच्छेथाः पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ॥ २ ॥
अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः ।
यथा च मनसस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ॥ ३ ॥
ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा ।
प्रतिवाक्यं च सुश्रोणि बुद्ध्येथास्त्वमनिन्दिते ॥ ४ ॥
ततः समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत् ।
दमयन्त्यपि कल्याणि प्रासादस्था ह्युपैक्षत ॥ ५ ॥
केशिन्युवाच—स्वागतं ते मनुष्येन्द्र कुशलं ते ब्रवीम्यहम् ।
दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ॥ ६ ॥
कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चाऽऽगताः ।
तत्त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ ७ ॥
बाहुक उवाच—श्रुतः स्वयंवरो राज्ञा कोसलेन महात्मना ।
द्वितीयो दमयन्त्या वै भविता श्व इति द्विजात् ॥ ८ ॥
श्रुत्वैतत्प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः ।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ॥ ९ ॥
केशिन्युवाच—अथ योऽसौ तृतीयो वः स कुतः कस्य वा पुनः ।

है तभी से मेरा मन और हृदय सन्तुष्ट सा हो रहा है, इससे जान पड़ता है कि यही महाराज नल हैं। तुम इस पुरुष के पास जाकर बातचीत करो। उसी प्रसङ्ग में पर्णाद के वचन सुनाना। उसपर यह जो उत्तर दे वह स्मरण रखना और मेरे पास आकर सब कहना। दमयन्ती इस प्रकार केशिनी दासी को बाहुक के पास भेजकर, उत्कण्ठित होकर, राजमहल की छत पर जा चढ़ी। दमयन्ती की आज्ञा से केशिनी ने बाहुक के पास जाकर नम्र मधुर वचनों से कुशल-प्रश्न किया। केशिनी ने कहा–हे महाराज! आप लोग किस समय अयोध्या से चलकर इस समय यहां पहुँचे है? यहां आप लोगों के आने का कारण क्या है? हमारी स्वामिनी दमयन्ती ने यह जानने के लिये मुझे यहां भेजा है वे जानना चाहती हैं। इस कारण आप विशेष रूप से सब वृत्तान्त कहिए ॥१।७॥

यह सुनकर बाहुक ने कहा--मै राजा कोशल का सारथि हूँ। राजा कोशल ने किसी ब्राह्मण के मुख से सुना था कि कल के दिन दमयन्ती का दूसरा स्वयम्वर होगा। यह सुनकर वह राजा चार सौ कोस चलनेवाले घोड़ों को रथ में जुतवाकर यहां आया है और मैं उसके साथ आया हूँ। यह सुनकर केशिनी ने कहा-हे महाराज! आप कौन हैं? आप किसके

त्वं च कस्य कथं चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ॥ १० ॥

वाहुक उवाच—पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः ।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ ११ ॥
अहमप्यश्वकुशलः सूतत्वे च प्रतिष्ठितः ।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ॥ १२ ॥

केशिन्युवाच—अथ जानाति वार्ष्णेयः क्व नु राजा नलो गतः ।
कथं च त्वयि वा तेन कथितं स्यात्तु वाहुक ॥ १३ ॥

वाहुक उवाच—इहैव पुत्रौ निक्षिप्य नलस्य शुभकर्मणः ।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ॥ १४ ॥
न चाऽन्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि ।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन्नष्टरूपो महीपतिः ॥ १५ ॥
आत्मैव तु नलं वेद या चाऽस्य तदनन्तरा ।
न हि वै स्वानि लिंगानि नलः शंसति कर्हिचित् ॥ १६ ॥

केशिन्युवाच—योऽसावयोध्यां प्रथमं गतोऽसौ ब्राह्मणस्तदा ।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ॥ १७ ॥
क्व नु त्वं कितव छित्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ १८ ॥

सेवक हैं ? आपको किसलिये यह कार्य सौंपा गया है ? यह तीसरा मनुष्य कौन है और किसका पुत्र है, कहां से आया है ? वाहुक ने कहा—हे शुभे ! यह तीसरा मनुष्य राजा नल का सारथि है। इसका नाम वार्ष्णेय है। राजा नल के सब राज्य हारकर चले जाने पर उसने राजा ऋतुपर्ण के यहां वेतन प्राप्त किया है अर्थात् नौकरी कर ली है। मैं भी अश्व विद्या में पण्डित हूँ। इसलिये महाराज ने मुझे अपना सारथि बना लिया है। मैं भोजन बनाने में भी बड़ा चतुर हूँ। इसी से कभी-कभी महाराज का भोजन भी बनाता हूँ। केशिनी ने पूछा—हे महाराज ! वार्ष्णेय जानता है कि राजा नल कहां चले गये हैं ? या उसने कभी आपके आगे यह बात कही है ? वाहुक ने कहा—हे भद्रे ! वार्ष्णेय राजा नल के पुत्र और पुत्री को वहां छोड़कर चला गया था वह राजा नल का हाल कुछ नहीं जानता है और न कोई और मनुष्य है जो नल को जानता हो। नल नष्टरूप होकर गुप्त विचरता है ॥८।१५॥

उन्होंने अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से हीन होकर क्या किया, सो केवल यही बता सकते हैं। और कोई इनका हाल नहीं जानता। केशिनी ने कहा—हे महाराज! पहले आपके पास अयोध्यापुरी में एक

सा वै यथा समादिष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना दिवा रात्रौ वस्त्रार्धेनाऽभिसंवृता ॥ १९ ॥
तस्या रुदन्त्याः सततं तेन दुःखेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु मे वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥ २० ॥
तस्यास्तत्प्रियमाख्यानं प्रवदस्व महामते ।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ॥ २१ ॥
एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल ।
यत्पुरा तत्पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ २२ ॥
बृहदश्व उवाच—एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन ।
हृदयं व्यथितं चाऽऽसीदश्रुपूर्णे च लोचने ॥ २३ ॥
स निगृह्याऽऽत्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः ।
बाष्पसंदिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ २४ ॥
बाहुक उवाच—वैशम्यमपि संप्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥ २५ ॥
रहिता भर्तृभिश्चाऽपि न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान्धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ २६ ॥
विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।

ब्राह्मण ने जाकर बारम्बार, स्त्री के कहे हुए, ये वाक्य कहे थे कि "हे धूर्त ! अपनी पतिव्रता स्त्री को, अपने ऊपर अत्यन्त अनुराग रखनेवाली जानकर भी उसका आधा वस्त्र फाड़कर, तुम क्यों निपट निठुर की तरह वन में अकेली छोड़कर भाग आये ! तुम जो कुछ आज्ञा दे आये थे उसको वह अबतक बड़े कष्ट और यत्न के साथ निबाहती चली आ रही है । वही आधा वस्त्र पहने, दिन रात आँखों में आँसू भरे, अत्यन्त शोक और सन्ताप प्रकट किया करती है । इसलिये तुम प्रसन्न होकर इस बात का ठीक-ठीक उत्तर दो ।" हे महाराज ! आपने इसके उत्तर में जो कुछ उपदेश के वाक्य कहे थे उन्हें हमारी राजकुमारी फिर सुना चाहती है ॥१६।२२॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! केशिनी दासी के ये वचन सुनकर नल का हृदय मानों फटने लगा । आँखों में आँसू भर आये । पहले दमयन्ती के पूर्वोक्त वचन सुनकर बाहुक ने पर्णाद ब्राह्मण से जो कुछ कहा था वही इस समय भी, अपने सन्ताप और दुःख के वेग को रोककर, महाराज नल कहने लगे—जो स्त्रियां कुलीन होती हैं वे आपत्ति काल के पड़ने पर अपने आप अपनी रक्षा करती हैं और ऐसी स्त्रियां निश्चय स्वर्ग को अपने वश में कर लेती हैं ।

यस्मा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ २७ ॥
प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ २८ ॥
सत्कृताऽसत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथाविधम् ।
राज्यभ्रष्टं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ २९ ॥
एवं ब्रुवाणस्तद्वाक्यं नलः परमदुर्मनाः ।
न वाष्पमशकत्सोढुं प्ररुरोद च भारत ॥ ३० ॥
ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
तत्सर्वं कथितं चैव विकारं तस्य चैव तम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकेशिनीसंवादे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

दैवयोग से यदि उनके पति उनको छोड़ देते हैं तो भी वे किसी तरह उनपर क्रोध नहीं करतीं बल्कि सदाचार की रक्षा करती हुई धर्म का पालन करती हैं। इस कारण महाराज नल ने यदि वैसी बुरी दशा में पड़कर, भ्रष्टबुद्धि होकर, दमयन्ती को छोड़ दिया है तो भी इसके लिये दमयन्ती को उनपर क्रोध या असन्तोष प्रकट न करना चाहिये। खाने के लिये पक्षी पकड़ने को इन्होंने वस्त्र फेंका तो वे उसे ले भागे इससे राजा नल अत्यन्त दुःखी थे। इसके सिवा आपदाओं ने उन्हें सता रक्खा था। महाराज नल दमयन्ती के ऊपर स्नेह का भाव प्रकट करें या न करें, तो भी उन्हें राज्य से भ्रष्ट, श्रीहीन और विवर्ण देखकर दमयन्ती को किसी तरह क्रोध करना उचित नहीं। बृहदश्व कहते हैं—हे महाराज! बाहुक इस प्रकार से कहकर अपने दुःख के वेग को न रोक सके और रो-रोकर आंसू बहाने लगे। यह देखकर केशिनी दमयन्ती के पास चली गई और उससे सब वृत्तान्त कहकर बाहुक के दुखी होने और रोने का सब हाल कह सुनाया ॥२३।३१॥

वनपर्व का चौहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७४ ॥

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

बृहदश्व उवाच—दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा ।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

पचहत्तरवां अध्याय ॥ ७५ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! केशिनी के मुख से बाहुक का सब हाल सुनकर दमयन्ती ने अनुमान कर लिया कि वही राजा नल हैं। वह मन ही मन में नल के सम्बन्ध की अनेक बातों पर विचार करके शोक से व्याकुल होने लगी। उसने केशिनी को सम्बोधन करके कहा—हे केशिनी! तुम फिर

गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके ।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ॥ २ ॥
यदा च किंचित्कुर्यात्स संलक्ष्यं तत्र भामिनि ।
तत्र संचेष्टमानस्य लक्षयन्ती विचेष्टितम् । ३ ॥
न चाऽस्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि ।
याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ॥ ४ ॥
एतत्सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय ।
निमित्तं यत्त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ५ ॥
यच्चाऽन्यदपि पश्येथास्तच्चाऽऽख्येयं त्वया मम ।
दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाऽथ च केशिनी ॥ ६ ॥
निशम्याऽथ हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागमत् ।
सा तत्सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
निमित्तं यत्तया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ७ ॥
केशिन्युवाच—दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित् ।
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ॥ ८ ॥
ह्रस्वमासाद्य संचारं नाऽसौ विनमते क्वचित् ।
तं तु दृष्ट्वा यथासङ्गमुत्सर्पति यथासुखम् ॥ ९ ॥
संकटेऽप्यस्य सुमहान्विवरो जायतेऽधिकः ।

बाहुक के पास जाकर उनसे कुछ न कहो, केवल उनके चरित्र की जाँच करो, मन लगाकर उनके सब कामों और चेष्टाओं की देख भाल करो। यदि बाहुक अग्नि और जल माँगें तो न देना। यदि एक बेर देना भी तो बहुत देर कर देना। तुम इस तरह के बर्ताव से उनकी जाँच करना। तुम्हारे ऐसे व्यवहार के बाद वे जो कुछ करें सो तुम आकर मुझसे कहना। इसके सिवा उनके जो लौकिक और अलौकिक काम देखना उन सब पर विशेष लक्ष्य रखकर सब हाल मुझसे कह देना। यों समझाकर दमयन्ती ने केशिनी को फिर बाहुक के पास भेजा। दमयन्ती की आज्ञा से केशिनी बाहुक के पास गई। वहां रहकर बाहुक के सब कामों और चेष्टाओं पर लक्ष्य रखकर केशिनी दमयन्ती के पास लौट गई। वहा जाकर उसने कहा—हे राजकुमारी! मैंने पहले कभी बाहुक के समान मनुष्य देखा-सुना नहीं। अग्नि और जल आदि पदार्थ भी उनकी आज्ञा मानते हैं। छोटे से छोटे द्वार में घुसते समय भी वे न तो झुकते हैं और न सिकुड़ते

ऋतुपर्णस्य चाऽर्थाय भोजनीयमनेकशः ॥ १० ॥
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं बहु च पाशवम् ।
तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥
ते तेनाऽऽवेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाऽभवंस्ततः ।
ततः प्रक्षालनं कृत्वा समधिश्रित्य बाहुकः ॥ १२ ॥
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत् ।
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ॥ १३ ॥
तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताऽहमिहाऽऽगता ।
अन्यच्च तस्मिन्सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया ॥ १४ ॥
यदग्निमपि संस्पृश्य नैवाऽसौ दह्यते शुभे ।
छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम् ॥ १५ ॥
अतीव चाऽन्यत्सुमहदाश्चर्यं दृष्टवत्यहम् ।
यत्स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः ॥ १६ ॥
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि नाऽन्यथा ।
भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति हि ।
एतान्यद्भुतलिङ्गानि दृष्ट्वाऽहं द्रुतमागता ॥ १७ ॥
बृहदश्व उवाच—दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम् ।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ॥ १८ ॥

हैं—दरवाज़ा अपने आप बढ़ जाता है । महाराज भीम ने ऋतुपर्ण के लिये जो सामग्री भेजी थी उसमें बहुत से पशुओं का कच्चा मास भी था ॥१।१०॥

उस मांस को धोने के लिये बहुत से खाली घड़े रक्खे थे । बाहुक के देखते ही देखते वे सब घड़े पानी से भर गये । उस पानी से सब भोजन-सामग्री धोकर बाहुक ने चूल्हे पर चढ़ा दी । फिर मुट्ठी भर तिनके हाथ में लेकर थोड़ी देर तक सूर्यदेव की ओर देखा तो वे तिनके जल उठे । मैं यह सब अपनी आँखों देख आई हूँ । और भी कई अद्भुत बातें मैंने देखी हैं । वे आग को छूकर भी नहीं जलते उनके इच्छा करते ही पानी उनके पास होकर बहता है । मैंने यह भी देखा कि उन्होंने बहुत से फूलों को धीरे धीरे हाथों से मल डाला किन्तु वे फूल जैसे के तैसे बने रहे । उन फूलों में से पहले से भी अधिक सुगन्ध निकलने लगी । इन अद्भुत बातों को देखकर मैं बहुत ही विस्मित हुई हूँ । यह सब देखकर मैं आपके पास दौड़ी आई हूँ ॥११।१७॥

सा शङ्कमाना भर्तारं बाहुकं पुनरिङ्गितैः ।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ॥ १९ ॥
पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम् ।
महानसाच्छ्रितं मांसमानयस्वेह भाविनि ॥ २० ॥
सा गत्वा बाहुकस्याऽग्रे तन्मांसमपकृष्य च ।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणात्प्रियकारिणी ॥ २१ ॥
दमयन्त्यै ततः प्रादात्केशिनी कुरुनन्दन ।
सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा ॥ २२ ॥
प्राश्य मत्वा नलं सूतं प्राक्रोशद् भृशदुःखिता ।
वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ॥ २३ ॥
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत ।
इन्द्रसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः ॥ २४ ॥
अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याऽङ्कमानयत् ।
बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ ॥ २५ ॥
भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह ।
नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत्तदा ।

बृहदश्व कहते हैं–हे राजा युधिष्ठिर ! केशिनी के मुख से बाहुक के इन विचित्र कामों की बात सुनकर दमयन्ती ने मन ही मन उन्हीं को अपना पति समझ लिया । परन्तु बिलकुल ही सन्देह न रहने देने के लिये वह अनेक प्रकार के कौशलों से काम लेने लगी । रोती हुई दमयन्ती ने फिर केशिनी को बुलाकर कहा–हे केशिनी ! तुम एक बार फिर बाहुक के पास जाओ और वहां से, रसोई से, बाहुक का पकाया हुआ मांस ले आओ ॥१८।२०॥

केशिनी ने उसी समय जाकर, [बाहुक की और काम में लगा पाकर] थोड़ा सा गर्म मांस निकाल लिया और दमयन्ती को लाकर दिया। उस मांस को चखकर, उसका स्वाद देखकर, दमयन्ती को विश्वास हो गया कि बाहुक महाराज नल ही हैं। वह बहुत देर तक रोती रही । फिर उसने मुँह धोया और केशिनी के साथ देवस्वरूप अपने पुत्र और पुत्री को बहुत दिनों के बाद देखकर नल का हृदय स्नेहरस से भर गया । वे आनन्दपूर्वक केशिनी की गोद से दोनों बालकों को लेकर, अपनी गोद में बिठाकर बारम्बार उनके मुँह को निहारने लगे। इसी बीच में व्यतीत हुआ हुआ वृत्तान्त स्मरण हो आने से वे व्याकुल हो उठे। उनका शोक उमड़ पड़ा । किसी तरह आंसुओं को रोक न सकने के कारण वे ज़ोर से रोने लगे । फिर अपने वृत्तान्त को छिपाये रखने

उत्सृज्य सहसा पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥
इदं च सदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः ।
अतोऽदृष्ट्वैव सहसा बाष्पमुत्सृष्टवानहम् ॥ २७ ॥
बहुशः संपतन्तीं त्वां जनः शङ्केत दोषतः ।
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे यथासुखम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कन्यापुत्रदर्शने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

के लिये उन्होंने, एकाएक बच्चों को गोद से उतारकर, केशिनी से कहा—हे भद्रे ! अपने बालकों के समान रङ्ग-रूपवाले इन बच्चों को देखने से ही मेरे आंसू बह चले। तुम और तरह की शङ्का न करना। मैं इस देश में अतिथि रूप से आया हूँ । तुम यदि बारम्बार मेरे पास आओगी तो लोग तरह तरह के सन्देह करने लगेंगे । तुम यहां से चली जाओ । ॥२१।२८॥

वनपर्व का पचहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

बृहदश्व उवाच—सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः ।
आगत्य केशिनी सर्वं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ॥ १ ॥
दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम् ।
मातुः सकाशं दुःखार्ता नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ २ ॥
परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया ।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥
स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वाऽनुज्ञातुमर्हसि ।
विदितं वाऽथवाऽज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम् ॥ ४ ॥

छियत्तरवा अध्याय ॥ ७६ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! बाहुक के चित्त का ऐसा विकार देखकर केशिनी दमयन्ती के पास गई । वहां उसने सब हाल कह सुनाया । पति के वियोग से व्याकुल दमयन्ती नल से मिलने के लिये आतुर हो गई । उसने उसी समय केशिनी से कहा कि तुम शीघ्र जाकर मेरी माता से यह सब हाल कहो । उनसे कहना कि राजकुमारी दमयन्ती ने अनेक युक्तियों के द्वारा परीक्षा करके जान लिया है कि बाहुक ही महाराज नल हैं । केवल उनके रूप को देखकर उसे सन्देह हो रहा है । सो उस बारे में वह स्वय मिलकर जानना चाहती है। कुमारी चाहती है कि महाराज भीम को जताकर या उन्हें बिना जताये ही आप या तो बाहुक को महल के भीतर बुला लीजिए, या कुमारी को बाहुक के पास

एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सा देवी भीममब्रवीत् ।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानात्स पार्थिवः ॥ ५ ॥
सा वै पित्राऽभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रतिश्रयः ॥ ६ ॥
तां स्म दृष्ट्वैव सहसा दमयन्तीं नलो नृपः ।
आविष्टः शोकदुःखाभ्यां बभूवाऽश्रुपरिप्लुतः ॥ ७ ॥
तं तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा ।
तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ॥ ८ ॥
ततः काषायवसना जटिला मलपंकिनी ।
दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पूर्वं दृष्टस्त्वया कश्चिद्धर्मज्ञो नाम बाहुक ।
सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ॥ १० ॥
अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम् ।
अपहाय तु को गच्छेत्पुण्यश्लोकमृते नलम् ॥ ११ ॥
किमु तस्य मया बाल्यादपराद्धं महीपतेः ।
यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान्निद्रयार्दिताम् ॥ १२ ॥
साक्षाद्देवानपाहाय वृतो यः स पुरा मया ।

जाकर उनसे मिलने की आज्ञा दीजिए ॥१।४॥

केशिनी ने जाकर रानी से कहा। रानी ने जाकर महाराज भीम को सब हाल सुनाया। उन्होंने दमयन्ती के इरादे को सुनकर पसन्द किया। माता की आज्ञा पाकर दमयन्ती ने अपने भवन की ड्योढ़ी में बाहुक-नामधारी नल को बुलाया। बहुत समय के बाद अपनी पतिव्रता धर्मपत्नी को देखकर राजा नल एक दम शोक के समुद्र में डूब गये। वे लगातार आँसू बहाने लगे। नल की ऐसी दशा देखकर दमयन्ती को बड़ा शोक हुआ। मलिन शरीरधारी दमयन्ती कषाय वस्त्र धारण किये हुए थी, उसके बाल रूखे और उलझे हुए थे। अपने हृदय का दुःख प्रकट करती हुई वह बाहुक से कहने लगी—हे बाहुक! तुमने कभी ऐसा भी धर्मात्मा मनुष्य देखा है जो अपनी स्त्री को वन में सोती हुई छोड़कर चला गया हो? ॥५।१०॥

सिवाय राजा नल के और कौन ऐसा पुरुष होगा। जो अपनी प्यारी, निष्पाप और थकी हुई स्त्री को निर्जन वन में अकेली छोड़कर चला जावे। तुम जानते हो कि मैंने उन राजा का अपनी अज्ञानता में क्या अपराध किया था जो वे मुझको वन में सोती हुई छोड़कर चले गये। पहले मैंने स्वयंवर की सभा

अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान्कथम् ॥ १३ ॥
अग्नौ पाणिं गृहीत्वा तु देवानामग्रतस्तथा ।
भविष्यामीति सत्यं तु प्रतिश्रुत्य क्व तद्गतम् ॥ १४ ॥
दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिन्दम ।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद्बहु ॥ १५ ॥
अतीव कृष्णताराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलं तु तत् ।
परिस्रवन्नलो दृष्ट्वा शोकार्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
मम राज्यं प्रनष्टं यन्नाऽहं तत्कृतवान्स्वयम् ।
कलिना तत्कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ॥ १७ ॥
यत्त्वया धर्मकृच्छ्रे तु शापेनाऽभिहतः पुरा ।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां दिवानिशम् ॥ १८ ॥
स मच्छरीरे त्वच्छापाद्दह्यमानोऽवसत्कलिः ।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नावग्निरिवाऽऽहितः ॥ १९ ॥
मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः ।
दुःखस्याऽन्तेन चाऽनेन भवितव्यं हि नौ शुभे ॥ २० ॥
विमुच्य मां गतः पापस्ततोऽहमिह चाऽऽगतः ।

में साक्षात् लोकपाल देवताओं को छोड़कर उन्हें अपना पति बनाया। उन्होंने मुझे पतिप्राणा, अत्यन्त अनुरागिणी और पुत्रवती देखकर भी न जाने किस दोष से छोड़ दिया। विवाह के समय उन्होंने कहा था—"इन देवताओं को और अग्नि को साक्षी बनाकर कहता हूँ कि मैं जन्म भर के लिये तुम्हारी आज्ञा का अनुगामी पति होता हूँ।" इस समय उनका वह सत्यवादी होना कहा गया? इस प्रकार से अनेक विलाप-वचनों से व्यतीत हुए-हुए वृत्तान्त का परिचय देते देते दमयन्ती के हृदय में शोक का वेग प्रबल हो उठा। उसकी आंखों से आंसू बहने लगे। दमयन्ती को रोते देखकर महाराज नल बोले—॥११।१६॥

हे दमयन्ती! मैं जो अपने राज्य से चला आया और तुमको विशुद्ध पतिव्रता जानकर भी छोड़ आया, उसमें मेरा किञ्चितमात्र भी अपराध नहीं है; क्योंकि कलियुग के प्रभाव से ही यह दुर्घटना हुई है। प्रिये, मेरी अनुगामिनी होकर, मेरी दुर्दशा देख अत्यन्त दुखित होकर, तुमने जिसे शाप दिया था वही कलियुग, अग्नि के भीतर अग्नि की तरह, तुम्हारे शाप और कर्कोटक नाग के विष की अग्नि से जलता हुआ बड़े कष्ट से मेरे शरीर में रहता था। मेरे आचार-व्यवहार और तपस्या के प्रभाव से असमर्थ होकर पापरूप कलियुग अब मुझे छोड़कर चला गया है। जान पड़ता है, अब हमारे दुःखों के अन्त का समय

त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत्प्रयोजनम् ॥ २१ ॥
कथं तु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम् ।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ॥ २२ ॥
दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात् ।
भैमी किल स्म भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥ २३ ॥
स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवाऽऽत्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गासुरिरुपस्थितः ॥ २४ ॥
दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥
दमयन्त्युवाच—न मामर्हसि कल्याण दोषेण परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ॥ २६ ॥
तवाऽभिगमनार्थं तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः ।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ॥ २७ ॥
ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान्पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत्कोसलायामृतुपर्णनिवेशने ॥ २८ ॥
तेन वाक्ये कृते सम्यक्प्रतिवाक्ये तथाऽऽहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधाऽऽनयने तव ॥ २९ ॥

आ गया। प्यारी! मैं केवल तुम्हारे ही लिये यहां आया हूँ ॥१७।२१॥

भला ऐसी कौनसी स्त्री होगी जो अपने अनुरक्त प्रीति करनेवाले पति को त्यागकर दूसरा पति करना चाहे, जैसा तुम करना चाहती हो। पृथ्वी पर चारों ओर दूत यह कहते फिरते हैं कि राजा भीम की कन्या दमयन्ती अपनी इच्छा के अनुसार अपने सदृश दूसरे भर्ता को फिर वरेगी यही सुनकर राजा ऋतुपर्ण भी यहां आये हैं। नल के ऐसे वचन सुनकर दमयन्ती बहुत ही घबराई और कांपने लगी। ॥२२।२४॥

फिर हाथ जोड़कर उसने कहा-हे महाभाग! आप जानते हैं कि मैंने देवताओं को छोड़कर आपको अपना पति बनाया है। इस समय मेरे ऊपर ऐसा दोष लगाकर मुझपर सन्देह करना आपको उचित नहीं है। मेरी बातों को कहते हुए जो ब्राह्मण आपका पता लगाने इधर-उधर भेजे गये थे, उनमें से पर्णाद नाम के ब्राह्मण ने राजा ऋतुपर्ण के यहां आपको देखा। उस ब्राह्मण ने आपके आगे भी वही बातें कहीं जो मैंने उससे कह दी थीं। आपने उनका जो कुछ उत्तर दिया वह उसने आकर मुझसे कह दिया। तब आपको यहां लाने के लिये ही मैंने यह उपाय

त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ॥ ३० ॥
स्पृशेयं तेन सत्येन पादावेतौ महीपते ।
यथा नाऽसत्कृतं किंचिन्मनसाऽपि चराम्यहम् ॥ ३१ ॥
अयं चरति लोकेऽस्मिन्भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मे मुञ्चतु प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३२ ॥
यथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स मुञ्चतु मम प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३३ ॥
चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स मुञ्चतु मम प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३४ ॥
एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै ।
विब्रुवन्तु यथासत्यमेतद्देवास्त्यजन्तु माम् ॥ ३५ ॥
एवमुक्तस्तथा वायुरन्तरिक्षादभाषत ।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥
राजञ्छीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः ।
साक्षिणो रक्षिणश्चाऽस्या वयं त्रीन्परिवत्सरान् ॥ ३७ ॥
उपायो विहितश्चाऽयं त्वदर्थमतुलोऽनया ।

निकाला था। क्योंकि मैं अच्छी तरह जानती थी कि सिवाय आपके दूसरा मनुष्य घोड़ों के द्वारा एक दिन में चार सौ कोस नहीं जा सकता है ॥२५।३०॥

मैं आपके पाव छूकर सौगन्ध खाती हूँ कि मैंने भूलकर भी किसी पाप को अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। हे नाथ ! मैं आपके आगे सौगन्ध खाती हूँ कि यदि मैंने कभी कोई बुरा आचरण किया हो तो सब प्राणियों के भले बुरे कामों के साक्षी सदागति वायुदेव मेरे प्राणों को नष्ट कर डालें। यदि मैंने किसी पाप का आचरण किया हो तो सब प्राणियों के साक्षी भगवान् सूर्य अभी मेरे प्राणों को नष्ट कर दें। यदि मन वचन काया से मैंने कभी कुछ बुरा आचरण किया हो तो सब लोकों के साक्षी चन्द्रदेव अभी मेरी जान ले लें। हे तीनों देवताओ! आप लोग यथार्थ कह दें कि मैंने अभी तक कुछ अधर्म तो नहीं किया ॥३१।३५॥

अब वायु ने अन्तरिक्ष में स्थित होकर कहा—हे नल ! मैं सत्य कहता हूँ कि दमयन्ती ने कभी कुछ बुरा काम नहीं किया। दमयन्ती ने सदा अत्यन्त यत्न के साथ धर्म कर्म करके अच्छी तरह अपने सतीत्व की रक्षा की है। इन तीनों व्यतीत हुए हुए वर्षों में हम देवताओं ने बराबर दमयन्ती की रक्षा

न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वामृतेऽन्यः पुमानिह ॥ ३८ ॥
उपपन्ना त्वया भैमी त्वं च भैम्या महीपते ।
नाऽत्र शङ्का त्वया कार्या संगच्छ सह भार्यया ॥ ३९ ॥
तथा ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ॥ ४० ॥
तदद्भुतमयं दृष्ट्वा नलो राजाऽथ भारत ।
दमयन्त्यां विशङ्कां तामुपाकर्षदरिन्दमः ॥ ४१ ॥
ततस्तद्वस्त्रमरजः प्रावृणोद्वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजं तं ततो लेभे स्वकं पुः ॥ ४२ ॥
स्वरूपिणं तु भर्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ॥ ४३ ॥
भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चाऽपि यथावत्प्रत्यनन्दत ॥ ४४ ॥
ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना ।
परीता तेन दुःखेन निशश्वासाऽऽयतेक्षणा ॥ ४५ ॥
तथैव मलदिग्धाङ्गीं परिष्वज्य शुचिस्मिताम् ।

और देख-भाल की है और इस समय आपके विश्वास के लिये साक्षी दे रहे हैं। आपको यहाँ तक बुलाने के लिये ही दमयन्ती ने यह उपाय निकाला था; क्योंकि उसे निश्चय था कि आपके सिवाय और कोई एक दिन में चार सौ कोस रथ नहीं ले जा सकता। इस समय सौभाग्य से आप दोनों मिल गये हैं। अब आप बिना किसी सन्देह के मिलकर सुख भोगते हुए शेष जीवन बिताइए। वायु के यों कह चुकने पर स्वर्ग से फूलों की वर्षा होने लगी। देवता नगाड़े बजाने लगे। सुशीतल वायु फूलों की सुवास लेकर मन्द-मन्द चलने लगी॥३६।४०॥

अकस्मात् ऐसी अद्भुत घटना देखकर महाराज नल को दमयन्ती के पतिव्रता होने में ज़रा भी सन्देह नहीं रह गया। पहले का सा अनुराग प्रकट करके राजा नल ने उसी समय दमयन्ती का हाथ पकड़ लिया। नल ने नागराज कर्कोटक के दिये हुए वस्त्र पहनकर ज्योंही उसे स्मरण किया त्योंही उनका रूप पहले का सा हो गया। नल को पहले के समान रूपवान् देखकर दमयन्ती ने उनको गले से लगा लिया। शोक का वेग उमड़ आने से पहले के दुःखों को स्मरण करके वह ऊँचे स्वर से रोने लगी। अपनी प्रिया और पुत्र-पुत्री को देखकर नल ने उन्हें छाती से लगा लिया। पतिव्रता दमयन्ती प्रियतम की छाती पर अपना सिर रखकर, अपने

सुचिरं पुरुषव्याघ्रस्तस्थौ शोकपरिप्लुतः ॥ ४६ ॥
ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाऽकथयत्प्रीत्या वैदर्भ्या जननी नृप ॥ ४७ ॥
ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं कल्ये द्रष्टा सुखोषितम् ॥ ४८ ॥
ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम् ।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ॥ ४९ ॥
गृहे भीमस्य नृपतेः परस्परसुखैषिणौ ।
वसेतां हृष्टसंकल्पौ वैदर्भी च नलश्च ह ॥ ५० ॥
स चतुर्थे ततो वर्षे संगम्य सह भार्यया ।
सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान्परमां मुदम् ॥ ५१ ॥
दमयन्त्यपि भर्तारमासाद्याऽऽप्यायिता भृशम् ।
अर्धसंजातशस्येव तोयं प्राप्य वसुन्धरा ॥ ५२ ॥
सैवं समेत्य व्यपनीय तन्द्रां शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।
रराज भैमी समवाप्तकामा शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥ ५३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदमयन्तीसमागमे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥७६॥

पिछले दुःखों को याद करके, बारम्बार ठण्डी सांस लेने लगी। विरह-वेषधारिणी, दुबली, मलिन शरीर-वाली दमयन्ती को छाती से लगाकर राजा नल खेद करने लगे ॥४१।४६॥

इधर राजकुमारी दमयन्ती की माता ने नल और दमयन्ती के सम्बन्ध की सब बातें राजा भीम से कहीं। उन्होंने कहा—मैं कल सवेरे कन्या और दामाद को नाती-नातिन सहित एक आसन पर सुख से बैठे देखूँगा। आज उन्हें सुखपूर्वक विश्राम करने दो। रात्रि को राजा नल और दमयन्ती दोनों एक ही जगह सोये। बीती हुई बातें करने में ही उनका अधिक समय बीत गया। महाराज नल ने तीन वर्ष बड़े ही क्लेश से बिताये थे। इस समय अपनी प्यारी पत्नी को पाकर, सब दुःखों को भूलकर, वे परम प्रसन्न हुए। जल के पड़ने से जैसे खेती बढ़ती है वैसे ही अपने पति नल को पाकर दमयन्ती को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। बिना मेघ के पूर्ण चन्द्र को हृदय में धारण करने से रात्रि जैसी सुहावनी लगती है वैसे ही अपने पति को पाकर, आलस्य और सन्ताप से रहित होकर, दमयन्ती भी शोभायमान हुई ॥४७।५३॥

वनपर्व का छियत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७६ ॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

बृहदश्व उवाच-अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः ।
वैदर्भ्या सहितः काले ददर्श वसुधाधिपम् ॥ १ ॥
ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः ।
ततोऽनु दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा ॥ २ ॥
तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत्परया मुदा ।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः ॥ ३ ॥
नलेन सहितां तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम् ।
तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य यथाविधि ॥ ४ ॥
परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत्प्रत्यवेदयत् ।
ततो बभूव नगरे सुमहान्हर्षजः स्वनः ॥ ५ ॥
जनस्य संप्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथागतम् ।
अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम् ॥ ६ ॥
सिक्ताः सुमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः स्वलंकृताः ।
द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गोपकल्पिताः ॥ ७ ॥
अर्चितानि च सर्वाणि दैवतायतनानि च ।
ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मिनं नलम् ॥ ८ ॥

सतहत्तरवाँ अध्याय ॥ ७७ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! प्रातःकाल होने पर नल और दमयन्ती ने स्नान किया और सुन्दर वस्त्र और भूषण पहनकर राजा भीम के पास गये । वहाँ जाकर नल ने राजा के चरणों में प्रणाम किया । दमयन्ती ने भी पिता को प्रणाम किया । राजा भीम ने अपने दामाद का आदर, पुत्र की तरह, किया और हृदय से लगाया । अपने श्वसुर से आदर सत्कार पाकर महात्मा नल ने कृतज्ञता प्रकट की । सब नगर निवासी लोग बहुत दिनों के बाद नल को आये देखकर बहुत ही सुखी हुए । नगर में चारों ओर हर्ष-सूचक कोलाहल होने लगा । हरएक घर में अनेक प्रकार के हर्ष सूचक उत्सव होने लगे । हरएक द्वार पर जल से भरे हुए कलश, पताका और वन्दनवार शोभा बढ़ाने लगे । सड़कों पर सुगन्धित जल का छिड़काव हो गया । फूलों की वर्षा होने लगी । चारों ओर रङ्ग-बिरङ्गी ध्वजाएँ फहराने लगीं । सारे नगर की अपूर्व शोभा हुई । नगर के रहनेवाले लोग तरह-तरह के पुष्पोपहार ले-लेकर देवमन्दिरों में देवताओं की पूजा करने लगे । उधर महाराज ऋतुपर्ण भी यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए कि बाहुक-

दमयन्त्या समायुक्तं जहर्षे च नराधिपः ।
समानाय्य नलं राजा क्षमयामास पार्थिवम् ॥ ९ ॥
स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसम्मितैः ।
स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मिताननः ॥ १० ॥
उवाच वाक्यं तत्त्वज्ञो नैषधं वदतां वरः ।
दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभिनन्दितः ॥ ११ ॥
कच्चित्तु नाऽपराधं ते कृतवानस्मि नैषध ।
अज्ञातवासे वसतो मद्गृहे वसुधाधिप ॥ १२ ॥
यदि वाऽबुद्धिपूर्वाणि यदि बुद्ध्यापि कानिचित् ।
मया कृतान्यकार्याणि तानि त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १३ ॥
नल उवाच—न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव ।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ॥ १४ ॥
पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि संबन्धी च जनाधिप ।
अत ऊर्ध्वं तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥
सर्वकामैः सुविहितैः सुखमस्म्युषितस्त्वयि ।
न तथा स्वगृहे राजन् यथा तव गृहे सदा ॥ १६ ॥
इदं चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति ।

वेषधारी महाराज नल ही थे और वे अब अपनी प्रियतमा पत्नी दमयन्ती के साथ हैं ॥१।९॥

ऋतुपर्ण ने उसी समय महाराज नल को सम्मान के साथ बुलाया और विनयपूर्ण मधुर वचनों से कहा—हे निषध-नरेश ! आप बहुत दिनों के बाद अपने प्रिय परिवार से मिले, इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है। अब कृपा करके आप मुझे क्षमा प्रदान कीजिए। आप जबतक मेरे यहां कपट वेष से रहे, उस बीच में यदि मैंने जानकर या बिना जाने आपका कुछ अपराध किया हो तो उसे क्षमा कर दीजिए। ऋतुपर्ण के ये वचन सुनकर नल ने कहा—हे महाराज ! मैं सत्य कहता हूं, आपने कभी मेरा कुछ अपराध नहीं किया। और, यदि कभी भूल से या बिना जाने कुछ अपराध आपसे बन भी पड़ा हो तो भी उसके लिये मैं आप पर क्रोध नहीं कर सकता। मुझे क्षमा ही करना चाहिये। आप मेरे पहले से ही मित्र और सम्बन्धी थे। इस कारण क्षमा-प्रार्थना की कुछ आवश्यकता नहीं। आप खेद न करें, प्रसन्न हों और मुझसे पहले के समान ही प्रीति रक्खें। मैं आपके यहां इतने दिनों तक बड़े सुख से रहा। ऐसा सुख मुझे और कहीं नहीं मिल सकता था। जो हो, आपने जो अश्वविज्ञान-विद्या मेरे पास धरोहर के तौर पर छोड़ रक्खी है उसे

तदुपाकर्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव ॥ १७ ॥
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥
गृहीत्वा चाऽश्वहृदयं राजन् भाङ्गासुरिर्नृपः ।
निषधाधिपतेश्चापि दत्त्वाऽक्षहृदयं नृपः ।
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव ह ॥ १९ ॥
ऋतुपर्णे गते राजन्नलो राजा विशांपते ।
नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवाऽवसत् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्वदेशगमने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

कब लीजिएगा ? आप चाहें तो मैं अभी देने को तैयार हूँ। तब महाराज ऋतुपर्ण ने नल से अश्व-विज्ञान विद्या सीखी और उसके बदले में नल को अक्षविद्या (पासों) का कौशल सिखाया। फिर अन्य एक सारथि को लेकर, रथ पर चढ़कर, वे अपने राज्य को चल दिये। महाराज ऋतुपर्ण के चले जाने पर नल भी थोड़े समय तक विदर्भ नगर में रहे ॥१०।२०॥

वनपर्व का सतहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७७ ॥

अथ अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

बृहदश्व उवाच—स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः ।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान्प्रति ॥ १ ॥
रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः ।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ॥ २ ॥
स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः ।
प्रविवेशाऽथ संरब्धस्तरसैव महामनाः ॥ ३ ॥

अठहत्तरवां अध्याय ॥ ७८ ॥

बृहदश्व कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! राजा नल एक महीने तक श्वशुर के घर में रहे। फिर उनसे विदा हुए और थोड़े से मनुष्यों को साथ लेकर वे अपने देश को चल दिये। केवल एक रथ, सोलह हाथी, पचास घोड़े, और छ सौ पैदल उनके साथ चले। वे बड़ी शीघ्रता से मानों पृथ्वी को कँपाते हुए शीघ्र ही अपने राज्य में आ पहुँचे। वहां उन्होंने अपने भाई पुष्कर से भेंट की और कहा—हे भाई ! मैं फिर तुमसे जुआ खेलूँगा। अब की मैं बहुत सा धन लाया हूँ। यह देखो, धन राशि मेरे साथ ही है। इसके सिवा और जो कुछ मेरे पास है उसे, और प्राणों से भी अधिक प्यारी दमयन्ती को भी,

ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः ।
उवाच दीव्याव पुनर्बहुवित्तं मयाऽऽर्जितम् ॥ ४ ॥
दमयन्ती च यच्चाऽन्यन्मम किंचन विद्यते ।
एष वै मम संन्यासस्तव राज्यं तु पुष्कर ॥ ५ ॥
पुनः प्रवर्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः ।
एकपाणेन भद्रं ते प्राणयोश्च पणावहे ॥ ६ ॥
जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु ।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परमो धर्म उच्यते ॥ ७ ॥
न चेद्वाञ्छसि त्वं द्यूतं युद्धद्यूतं प्रवर्तताम् ।
द्वैरथेनाऽस्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ॥ ८ ॥
वंशभोज्यमिदं राज्यमर्थितव्यं यथातथा ।
येन केनाऽप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ॥ ९ ॥
द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर ।
कैतवेनाऽक्षवत्यां तु युद्धे वा नाम्यतां धनुः ॥ १० ॥
नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव ।
ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ॥ ११ ॥
दिष्ट्या त्वयाऽर्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध ।

दाँव में लगा देने में आगा पीछा नहीं करूँगा। आओ, अब ज्यादा देरी करने की आवश्यकता नहीं। अभी खेल शुरू हो जाय। तुमको भी अपना राज्य बद देने में सङ्कोच न करना होगा। दूसरे का राज्य और सारी धन सम्पत्ति तुमने जीत ली है, सो सब तुमको भी बदना पड़ेगा। शास्त्रकारों ने इसे परम-धर्म कहा है। यदि किसी कारण तुम जुआ न खेलना चाहो तो तुमको मुझसे युद्ध करना पड़ेगा। इस युद्ध में और किसी की सहायता न ली जायगी। उस युद्ध में, तुम या मैं, एक को अवश्य विजय प्राप्त होगी। प्राचीन पण्डितों का कहना है कि जिस तरह हो, पुरखों का राज्य प्राप्त करना चाहिये। इसलिये आओ, या तो फिर जुआ खेलो, या युद्ध के लिये तैयार हो जाओ ॥१।१०॥

नल के ये वचन सुनकर पुष्कर ने सोचा कि जय तो मेरी ही होगी। उसने हँसकर कहा—हे नल! आज मैं अपने सौभाग्य का वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि बहुत सा धन लेकर तुम दाव लगाने आये हो। जान पड़ता है, अब दमयन्ती के बुरे दिन गये। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि तुम अपनी स्त्री सहित उपस्थित हो। मैं सर्वदा बड़ी उत्कण्ठा के साथ तुम्हारे आने की प्रतीक्षा किया करता था। जब

दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ॥ १२ ॥
दिष्ट्या च ध्रियसे राजन् सदारोऽद्य महाभुज ।
धनेनाऽनेन वै भैमी जितेन समलंकृता ॥ १३ ॥
मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाऽप्सराः ।
नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षेऽपि च नैषध ॥ १४ ॥
देवने न मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः ।
जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि ।
श्रुत्वा तु तस्य ता वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ॥ १६ ॥
इयेष स शिरच्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः ।
स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच नलो नृपः ॥ १७ ॥
पणावः किं व्याहरसे जितो न व्याहरिष्यसि ।
ततः प्रावर्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ॥ १८ ॥
एकपाणेन भद्रं ते नलेन स पराजितः ।
स रत्नकोशनिचयैः प्राणेन पणितोऽपि च ॥ १९ ॥
जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मम सर्वमिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ॥ २० ॥
वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम् ।

मैं तुम्हारी सारी धन-सम्पत्ति जीत लूँगा तब अवश्य ही दमयन्ती स्वयं आकर मुझे भजेगी। उस त्रिलोक-सुन्दरी को मैं आज जुए में जीतकर अपनी अभिलाषा पूरी करूँगा। दमयन्ती को जब मैं लूँगा तब अप्सराएँ जैसे इन्द्र की सेवा करती हैं वैसे ही, वह मेरी सेवा करेगी। पुष्कर के ऐसे असङ्गत बकवाद को सुनकर नल को बड़ा क्रोध चढ़ आया। वे तलवार से उसी समय पुष्कर का सिर काटने के लिये तैयार हो गये। फिर धैर्य धारणकर लाल लाल आँखें निकाल कर उन्होंने कहा—अरे पुष्कर! इस समय तू ऐसा क्यों बक रहा है। जब जुए में हारेगा तब तेरे मुँह से बात भी न निकलेगी। इसके पश्चात् नल और पुष्कर दोनों खेलने लगे। नल ने एक ही दाँव में पुष्कर का सर्वस्व जीत लिया। पुष्कर ने अपने प्राण तक दाँव में लगा दिये। नल ने उस दाँव को भी जीतकर मुसकराते हुए कहा—अरे राजाओं में अधम! अब तेरी सभी आशाओं की जड़ कट गई। मेरा राज्य निष्कण्टक हो गया ॥११।२०॥

तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ॥ २१ ॥
न त्वया तत्कृतं कर्म येनाऽहं विजितः पुरा ।
कलिना तत्कृतं कर्म त्वं च मूढ न बुध्यसे ॥ २२ ॥
नाऽहं परकृतं दोषं त्वय्याधास्ये कथंचन ।
यथासुखं वै जीव त्वं प्राणानवसृजामि ते ॥ २३ ॥
तथैव सर्वसंभारं स्वमंशं वितरामि ते ।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ॥ २४ ॥
सौहार्दं चापि मे त्वत्तो न कदाचित्प्रहास्यति ।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीव शरदः शतम् ॥ २५ ॥
एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः ।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ॥ २६ ॥
सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम् ।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २७ ॥
कीर्तिरस्तु तवाऽक्षय्या जीव वर्षायुतं सुखी ।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानं च पार्थिव ॥ २८ ॥
स तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृपः ।
प्रययौ पुष्करो हृष्टः स्वपुरं स्वजनावृतः ॥ २९ ॥

अरे नराधम! अब तो दमयन्ती की ओर आँख उठाकर देखने की भी क्षमता तुझे नहीं है । अब सपरिवार तुझको दमयन्ती का दास बनना पड़ेगा । अरे मूढ़ ! तू नहीं जानता है कि केवल कलियुग की सहायता से ही तूने पहले मुझको हरा दिया था । दूसरे की सहायता पर भरोसा करके जीतने में तेरी बहादुरी क्या थी? एक के अपराध से दूसरे के ऊपर क्रोध प्रकट करना उचित नहीं । मैं चाहूँ तो अभी तुझे प्राण दण्ड दे सकता हूँ; किन्तु मैं यह कुछ नहीं करूँगा । मैं इस समय तुझे जीवन की भिक्षा देता हूँ । तेरी जो सब सम्पत्ति मैंने जीत ली है वह भी तुमको देता हूँ । लेकर अपने स्थान को जा । भाई का स्नेह कभी मिट नहीं सकता । तू मेरा छोटा भाई है । तुझपर मेरी प्रीति पहले की सी ही रहेगी । मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ कि तू चिरजीवी होकर सुखसे अपने जीवन का समय बिता॥२१।२५॥

राजा नल ने इस प्रकार से पुष्कर को धैर्य देकर और बारम्बार मिलकर उसे अपने नगर को जाने की आज्ञा दी । इसके पीछे नल के धैर्य देने पर पुष्कर ने नल को प्रणाम किया और कहने लगा—हे राजन्! आपने कृपा करके मुझको धन, प्राण और आश्रय दिया । इस कारण मैं आपका कृतज्ञ रहूँगा । आपकी

महत्या सेनया सार्धं विनीतैः परिचारकैः ।
भ्राजमान इवाऽऽदित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥
प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तवन्तमनामयम् ।
प्रविवेश पुरं श्रीमानत्यर्थमुपशोभिताम् ॥ ३१ ॥
प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः ।
पौरा जानपदाश्चापि संप्रहृष्टतनूरुहाः ॥ ३२ ॥
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सामात्यप्रमुखा जनाः ।
अद्य स्म निर्वृता राजन् पुरे जनपदेऽपि च ।
उपासितुं पुनः प्राप्ता देवा इव शतक्रतुम् ॥ ३३ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि पुष्करपराभवपूर्वकराज्यप्रत्यानयने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

यह चिरस्मरणीय कीर्ति कभी नष्ट न होगी। अब मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप चिरजीवी होकर अत्यन्त काल तक अपने साम्राज्य का भोग कीजिए। इसके उपरान्त नल से सत्कार पाकर पुष्कर एक मास तक वहां रहा। उपरान्त प्रसन्नतापूर्वक अपने भाई, बन्धु, सेना और सेवकों सहित सूर्य के तुल्य प्रकाश करता हुआ अपने नगर को चला गया। उसके चले जाने पर महाराज नल ने अपनी प्रजा को बुलाया और बड़े स्नेह के साथ सबको धैर्य दिया। बहुत दिनों के बाद अपने राजा को देखने से सबको बड़ा आनन्द हुआ। मन्त्री आदि प्रधान-प्रधान पुरवासी प्रजागण नल के पास आकर हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक कहने लगे-हे महाराज! आज आपको देखकर हम बड़े सुखी हुए हैं। देवता जैसे स्वर्ग में इन्द्र की उपासना किया करते हैं वैसे ही हम लोग भी फिर आपकी सेवा करने के लिये उपस्थित हैं ॥२६।३३॥

वनपर्व का अठहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७८ ॥

अथ ऊनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

बृहदश्व उवाच—प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे संप्रवृत्ते महोत्सवे ।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ॥ १ ॥
दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा ।
प्रस्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ॥ २ ॥

उन्यासीवां अध्याय ॥ ७९ ॥

बृहदश्व कहते हैं-हे राजा युधिष्ठिर! जब नगर में सब प्रकार से शान्ति हो गई और अनेक उत्सव होने लगे तब राजा नल ने बहुत सी सेना भेजकर दमयन्ती को बुलवाया। राजा भीम ने उसे सत्कार सहित विदा किया और वह पुत्र और कन्या को साथ लेकर यहां आ गई। उसके आने पर राजा

आगतायां तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः ।
वर्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ॥ ३ ॥
तथा प्रकाशतां यातो जम्बुद्वीपे स राजसु ।
पुनः शशास तद्राज्यं प्रत्याहृत्य महायशाः ॥ ४ ॥
ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवच्चाऽऽसदक्षिणैः ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद्वक्ष्यसेऽचिरात् ॥ ५ ॥
दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरञ्जयः ।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ॥ ६ ॥
एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते ।
दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाऽभ्युदयः पुनः ॥ ७ ॥
त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव ।
रमसेऽस्मिन्महारण्ये धर्ममेवाऽनुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥
अक्षाणां हृदये प्राप्ते ऋतुपर्णस्य संनिधौ ।
नलेन याचितं राज्ञा कलिना च प्रतिश्रुतम् ॥ १० ॥

नल प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार से रहने लगे जैसे नन्दन वन में देवताओं का राजा रहता है । इसके उपरान्त नल के प्रताप का उदय हुआ और वे राज्य शासन नीतिपूर्वक करने से इस जम्बुद्वीप में अत्यन्त सुशोभित हो गये । उस राजा नल ने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ करके अक्षय यश का सञ्चय किया । इसी प्रकार से हे राजा युधिष्ठिर ! थोड़े ही दिनों में तुम भी महाराज नल के समान शीघ्र ही फिर अपना राज्य, धन, ऐश्वर्य, और अन्य सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करके परमसुख से जीवन व्यतीत करोगे । इस समय व्यर्थ चिन्ता में समय बिताना किसी प्रकार उचित नहीं है। इस जगत् में सुख या दुःख सदा बना नहीं रहता। सोचकर देखिए कि राजा नल देवकोप से जुए में हारकर राज्य से भ्रष्ट हुए, वन-वन में अपनी प्रियतमा पत्नी के साथ घूमकर अनेक कष्ट भोगते रहे । अन्त को अपनी धर्मपत्नी के वियोग का विशेष कष्ट भी उनको भोगना पड़ा। किन्तु फिर उन्होंने अपना राज्य पाया, सैकड़ों प्रकार के धर्म-कर्म किये और वे अपना अमर यश पृथ्वी पर छोड़ गये । तुम तो द्रौपदी और भाइयों के साथ इसी वन में रहकर धर्म-कर्म कर रहे हो । वेद-वेदाङ्ग के जानकर ब्राह्मण लोग सदा तुम्हारे साथ रहते हैं । तुम्हारा विलाप और सन्ताप करना किसी तरह उचित नहीं । जो मनुष्य मन लगाकर कर्कोटक नाग, नल, दमयन्ती और राजा ऋतुपर्ण

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥ ११ ॥
य इदं पठते नित्यं य इदं शृणुयान्नरः ।
न तस्य विद्यते राजन् भयं वै कलिकारकम् ॥ १२ ॥
धर्मनित्यस्य युक्तस्य सदाऽऽर्जवरतस्य च ।
दान्तस्य च वदान्यस्य कलिः पुंसः करोति किम् ॥ १३ ॥
इतिहासमिमं चाऽपि कलिनाशनमच्युत ।
शक्यमाश्वसितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशांपते ॥ १४ ॥
अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १५ ॥
श्रुत्वेतिहासं नृपते समाश्वसिहि मा शुचः ।
व्यसने त्वं महाराज न विषीदितुमर्हसि ॥ १६ ॥
विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नाऽऽत्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो बुधाः ॥ १७ ॥
ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नाऽलक्ष्मीस्तान्भजिष्यति ॥ १८ ॥
अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ॥ १९ ॥

जो इतिहास को सुनता है उसे कलियुग में किसी प्रकार का भय नहीं रहता ॥११-१९॥

हे महाराज ! आप ऐसे पुरुष को यह सब वृत्तान्त सुनकर किसी तरह हताश न होना चाहिये। हे राजन् ! पुरुषार्थ की अस्थिरता को जानकर भी आप फिर किसलिये इसके विनाश या अभ्युदय की चिन्ता में मग्न होकर अपने आत्मा को क्लेश दे रहे हैं ? विपत्ति के समय शोक करना कायरों का लक्षण है। इसलिये अब शोक न करके धैर्य ही धारण करना चाहिये। दैव के प्रतिकूल होने और पौरुष से कुछ न होने पर धीर पुरुष हिम्मत नहीं हारते। जो लोग एकाग्र मन से इस अत्यन्त पवित्र नल के चरित्र को सुनते या कहते हैं उन्हें कभी दारिद्र्य नहीं सताता। वे निस्सन्देह धन और अतुल ऐश्वर्य पाते हैं। वे पुत्र, पौत्र, गाय, घोड़े आदि को पाकर अनन्त काल तक परम सुखी रहते हैं। उन्हें रोग या शोक नहीं सताता। अब आज्ञा दीजिए, मैं जाना चाहता हूँ। यदि फिर आपको इसी तरह की जुए के कारण होनेवाली आपत्ति

पुत्रान्पौत्रान्पशूंश्चापि लभते नृपु चाऽग्र्यताम् ।
आरोग्यप्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥ २० ॥
भयात्त्रस्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यति मां पुनः ।
अक्षज्ञ इति तत्तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ॥ २१ ॥
वेदाऽक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।
उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।
भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २३ ॥
ततोऽक्षहृदयं प्रादात्पाण्डवाय महात्मने ।
दत्त्वा चाऽश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ॥ २४ ॥
बृहदश्वे गते पार्थमश्रौपीत्सव्यसाचिनम् ।
वर्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ॥ २५ ॥
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः संपतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ॥ २६ ॥
इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ॥ २७ ॥
यथा धनञ्जयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः ।
मुनिरेकचरः श्रीमान्धर्मो विग्रहवानिव ॥ २८ ॥

का सामना करना पड़े तो आप मुझे स्मरण कीजिएगा। मैं उसी समय आकर उसका प्रतिकार करूँगा। हे महाराज! मैं अक्षविद्या में अद्वितीय जानकारी रखता हूँ आप पर प्रसन्न होकर मैं वह विद्या आपको देना चाहता हूँ। इसलिये आप उसे ग्रहण कीजिए ॥११।२२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! बृहदश्व के यों कह चुकने पर अब धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज! पूरी अक्षविद्या सीखने की मुझे बड़ी इच्छा है। यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके वह विद्या मुझे दीजिए। बृहदश्व ने धर्मराज को अक्षविद्या के साथ ही अश्वविद्या भी दे दी। फिर वे स्नान करने को चल दिये। महर्षि बृहदश्व के चले जाने पर युधिष्ठिर ने हिमालय पर्वत पर से आये हुए तपस्वियों के मुँह से सुना कि महावीर अर्जुन केवल वायु भक्षण करके अत्यन्त कठोर तपस्या कर रहे हैं। उनकी तप में तत्परता देखने से जान पड़ता है कि साक्षात् धर्मदेव शरीर धारण किये हुए तप कर रहे हैं। अर्जुन के ऐसे कठोर तप करने का हाल

तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने ।
अन्वशोचत कौन्तेयः प्रियं वै भ्रातरं जयम् ॥ २९ ॥
दह्यमानेन तु हृदा शरणार्थी महावने ।
ब्राह्मणान्विविधज्ञानान्पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वगमने ऊनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥
समाप्तं च नलोपाख्यानपर्व ।

सुनकर धर्मराज बहुत ही दुखी हुए। यह चिन्ता प्रबल होकर उनके हृदय के टुकड़े टुकड़े करने लगी कि हाय ! प्रियतम अर्जुन हमारे लिये कैसे-कैसे कठिन क्लेश सह रहे है। तब महाराज युधिष्ठिर बहुदर्शी ब्राह्मणों के शरणागत होकर उनसे अर्जुन के सम्बन्ध की बातें पूछने लगे ॥२९।३०॥

वनपर्व का उन्नासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७९ ॥

अथ तीर्थयात्रापर्व । अथ अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

जनमेजय उवाच-भगवन्काम्यकात्पार्थे गते मे प्रपितामहे ।
पाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १ ॥
स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित् ।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ॥ २ ॥
तेनेन्द्रसमवीर्येण सङ्ग्रामेष्वनिवर्तिना ।
विनाभूता वने वीराः कथमासन्पितामहाः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच–गते तु पाण्डवे तात काम्यकात्सत्यविक्रमे ।
बभूवुः पाण्डवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ॥ ४ ॥
आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः ।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ॥ ५ ॥

अस्सीवां अध्याय ॥ ८० ॥

जनमेजय ने कहा–हे महाराज ! मेरे प्रपितामह अर्जुन जब काम्यक वन से तप करने चले गये तब पाण्डवों ने उनके विरह में क्या किया ! विष्णु जैसे आदित्यों में प्रधान है वैसे ही महाधनुर्द्धर संग्रामविजयी अर्जुन पाण्डवों में प्रधान और उनके एकमात्र सहारा थे। मेरे प्रपितामह पाण्डव उन इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन के विरह में किस तरह रहे, यह मुझसे कहिए। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! सत्यपराक्रमी अर्जुन जब काम्यक वन से चले गये तब पाण्डव शोक में मग्न तथा अत्यन्त उदास होकर, डोरे से अलग मणियों या परकटे पक्षियों की तरह, अत्यन्त दुखी हो गये। वह वन भी अर्जुन के विरह

वनं तु तद्भूतेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।
कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ॥ ६ ॥
तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥ ७ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान्बहुविधान्मृगान् ॥ ८ ॥
नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिन्दमाः ।
उपाकृत्य उपाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ९ ॥
सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन् धनञ्जये ॥ १० ॥
विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम् ।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥
योऽर्जुनेनाऽर्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ।
शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ॥ १२ ॥
बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ।
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १३ ॥
नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ।

में कुबेरहीन चैत्ररथ वन के समान अत्यन्त शोभाहीन हो गया। हे राजा जनमेजय! इस प्रकार अर्जुन के विरह में अत्यन्त व्याकुल पाण्डव उसी वन में रहकर समय व्यतीत करने लगे। वे नित्य प्रति विचित्र बाणों से पवित्र मृग मारकर, उनके मास से और वन में उत्पन्न होनेवाली आहार की अन्यान्य सामग्रियों से ब्राह्मणों को तृप्त करते थे। अर्जुन के वियोग से वे अत्यन्त ही व्याकुल और पीड़ित हो रहे थे ॥१।१०॥

अर्जुन को स्मरण करके द्रौपदी अत्यन्त व्याकुल रहती थी। उसने युधिष्ठिर से कहा–हे महाराज! उन दो भुजावाले अर्जुन के बिना जो सहस्रबाहु के तुल्य हैं, मुझको यह वन अच्छा नहीं लगता है। मुझे यह सारी पृथ्वी शून्य सी जान पड़ती है। और यह वन भी यद्यपि फूला फला हुआ और शोभित है परन्तु उन अर्जुन के बिना, जिनका वर्ण नीले बादल के समान, चाल मतवाले हाथी की सी, आँखें कमल के सदृश और धनुष का शब्द वज्र के तुल्य

वनं तु तद्भूतेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।
कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ॥ ६ ॥
तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥ ७ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान्बहुविधान्मृगान् ॥ ८ ॥
नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिन्दमाः ।
उपाकृत्य उपाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ९ ॥
सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन् धनञ्जये ॥ १० ॥
विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम् ।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥
योऽर्जुनेनाऽर्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ।
शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ॥ १२ ॥
बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ।
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १३ ॥
नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ।

में कुबेरहीन चैत्ररथ वन के समान अत्यन्त शोभाहीन हो गया। हे राजा जनमेजय! इस प्रकार अर्जुन के विरह में अत्यन्त व्याकुल पाण्डव उसी वन में रहकर समय व्यतीत करने लगे। वे नित्य प्रति विचित्र बाणों से पवित्र मृग मारकर, उनके मास से और वन में उत्पन्न होनेवाली आहार की अन्यान्य सामग्रियों से ब्राह्मणों को तृप्त करते थे। अर्जुन के वियोग से वे अत्यन्त ही व्याकुल और पीड़ित हो रहे थे ॥१।१०॥

अर्जुन को स्मरण करके द्रौपदी अत्यन्त व्याकुल रहती थी। उसने युधिष्ठिर से कहा-हे महाराज! उन दो भुजावाले अर्जुन के बिना जो सहस्रबाहु के तुल्य हैं, मुझको यह वन अच्छा नहीं लगता है। मुझे यह सारी पृथ्वी शून्य सी जान पड़ती है। और यह वन भी यद्यपि फूला फला हुआ और शोभित है परन्तु उन अर्जुन के बिना, जिनका वर्ण नीले बादल के समान, चाल मतवाले हाथी की सी, आँखें कमल के सदृश और धनुष का शब्द वज्र के तुल्य

तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नाऽतिभाति मे ॥ १४ ॥
यस्य वा धनुषो घोषः श्रूयते चाऽशनिस्वनः ।
न लभे शर्म वै राजन् स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ॥ १५ ॥
तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा ।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
भीम उवाच—मनःप्रीतिकरं भद्रे यद्ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ॥ १७ ॥
यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ ।
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्धरौ ॥ १८ ॥
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाऽम्बरम् ॥ १९ ॥
यमाश्रित्य महाबाहुं पञ्चालाःकुरवस्तथा ।
सुराणामपि यत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ॥ २० ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ २१ ॥
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ।
पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणाऽऽवृता इव ॥ २२ ॥

नकुल उवाच—यस्मिन्दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति रणाजिरे ।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ॥ २३ ॥
उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयाँल्लेभे महाद्युतिः ॥ २४ ॥
राज्ञे तित्तिरकल्माषाञ्छ्रीमतोऽनिलरंहसः ।
प्रादाद्भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २५ ॥
तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २६ ॥
सहदेव उवाच—यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः ।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ॥ २७ ॥
यः समेतान्मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः ।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य संमते ॥ २८ ॥
तस्य जिष्णोर्वृसीं दृष्ट्वा शून्यामिव निवेशने ।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ २९ ॥
वनादस्माद्विवासं तु रोचयेऽहमरिन्दम ।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अर्जुनानुशोचने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इसके पीछे नकुल ने गद्गद् स्वर से कहा—उन अर्जुन के युद्ध सम्बन्धी कामों की प्रशंसा देवता भी करते हैं वे योद्धाओं में सब से श्रेष्ठ हैं उन्होंने उत्तर दिशा में जाकर बड़े-बड़े गन्धर्वों को रण में जीता और उनसे तीतर के तुल्य चिह्न, रखनेवाले और वायु के समान शीघ्रगामी सैकड़ों घोड़े लाकर अपने बड़े भाई को राजसूय यज्ञ में दिये, उन तेजस्वी देवसदृश अर्जुन के बिना मुझे काम्यक वन में रहना अच्छा नहीं लगता है। इसके उपरान्त सहदेव ने कहा—वे अर्जुन युद्ध में बहुत सा धन और बहुत सी कन्याएँ जीतकर राजसूय यज्ञ में लाये थे और वासुदेव जी की मति से सब यादवों को अकेला युद्ध में जीतकर सुभद्रा को लाये उन अर्जुन के आसन को खाली देखकर मेरा चित्त स्वस्थ नहीं रहता है और बिना उनके यह वन भी रमणीक नहीं लगता है। इसलिये यहां से तो और ही स्थान पर रहना ठीक है ॥२३।३०॥

वनपर्व का अस्सीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नाऽतिभाति मे ॥ १४ ॥
यस्य वा धनुषो घोषः श्रूयते चाऽशनिस्वनः ।
न लभे शर्म वै राजन् स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ॥ १५ ॥
तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा ।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
भीम उवाच—मनःप्रीतिकरं भद्रे यद्ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ॥ १७ ॥
यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ ।
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्धरौ ॥ १८ ॥
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाऽम्बरम् ॥ १९ ॥
यमाश्रित्य महाबाहुं पञ्चालाः कुरवस्तथा ।
सुराणामपि यत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ॥ २० ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ २१ ॥
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ।
पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणाऽऽवृता इव ॥ २२ ॥
ततोऽब्रवीत्साश्रुकण्ठो नकुलः पाण्डुनन्दनः ।

है रमणीक और अच्छा नहीं मालूम होता है। दिन रात अर्जुन को स्मरण करके मुझे कहीं सुख नहीं मिलता ॥११।१६॥

हे महाराज! द्रौपदी के ये वाक्य सुनकर भीमसेन ने कहा—हे द्रौपदी! मन को प्रसन्न करनेवाले तुम्हारे वचन सुनकर मेरे हृदय में अमृत पान का सा आनन्द उमड़ रहा है। जिनकी भुजाएँ बेलन के समान गोल और लम्बी हैं, पाँच सिरवाले नाग के समान हैं, धनुष की डोरी के घट्टों से शोभित हैं, मोटी हैं, और खड्ग, आयुध, धनुष, बिजायठ आदि से शोभित हैं, उन पुरुषसिंह अर्जुन के वियोग में सब कुछ सूर्यहीन आकाश के समान अन्धकारमय प्रतीत होता है पाञ्चाल और कौरव जिनका आश्रय पाकर युद्ध में पराक्रमी देवसेना से भी नहीं डरते और हम लोग जिनके बाहु-बल के सहारे युद्ध में शत्रुओं को परास्त और पृथ्वी को अपने हाथ में समझते हैं, उन महाबाहु अर्जुन के बिना इस वन में हमें तनिक भी सुख नहीं है; सब दिशाएँ अन्धकार से ढकी जान पड़ती हैं ॥१७।२२॥

नकुल उवाच—यस्मिन्दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति रणाजिरे ।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ॥ २३ ॥
उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयाँल्लेभे महाद्युतिः ॥ २४ ॥
राज्ञे तित्तिरकल्माषाञ्श्रीमतोऽनिलरंहसः ।
प्रादाद्भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २५ ॥
तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २६ ॥
सहदेव उवाच—यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः ।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ॥ २७ ॥
यः समेतान्मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः ।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य संमते ॥ २८ ॥
तस्य जिष्णोर्बृसीं दृष्ट्वा शून्यामिव निवेशने ।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ २९ ॥
वनादस्माद्विवासं तु रोचयेऽहमरिन्दम ।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अर्जुनानुशोचने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इसके पीछे नकुल ने गद्गद् स्वर से कहा—उन अर्जुन के युद्ध सम्बन्धी कार्मो की प्रशंसा देवता भी करते हैं वे योद्धाओं में सब से श्रेष्ठ हैं उन्होंने उत्तर दिशा में जाकर बड़े-बड़े गन्धर्वों को रण में जीता और उनसे तीतर के तुल्य चिह्न, रखनेवाले और वायु के समान शीघ्रगामी सैंकड़ों घोड़े लाकर अपने बड़े भाई को राजसूय यज्ञ में दिये, उन तेजस्वी देवसदृश अर्जुन के बिना मुझे काम्यक वन में रहना अच्छा नहीं लगता है । इसके उपरान्त सहदेव ने कहा–वे अर्जुन युद्ध में बहुत सा धन और बहुत सी कन्याएँ जीतकर राजसूय यज्ञ में लाये थे और वासुदेव जी की मति से सब यादवों को अकेला युद्ध में जीतकर सुभद्रा को लाये उन अर्जुन के आसन को खाली देखकर मेरा चित्त स्वस्थ नहीं रहता है और बिना उनके यह वन भी रमणीक नहीं लगता है । इसलिये यहां से तो और ही स्थान पर रहना ठीक है ॥२३।३०॥

वनपर्व का अस्सीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

अथ एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन उवाच धनञ्जयोत्सुकानां तु भ्रातॄणां कृष्णया सह ।
श्रुत्वा वाक्यानि विमना धर्मराजोऽप्यजायत ॥ १ ॥
अथाऽपश्यन्महात्मानं देवर्षिं तत्र नारदम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या हुतार्चिषमिवाऽनलम् ॥ २ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ।
प्रत्युत्थाय यथान्यायं पूजां चक्रे महात्मने ॥ ३ ॥
स तैः परिवृतः श्रीमान्भ्रातृभिः कुरुसत्तमः ।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ॥ ४ ॥
यथा च वेदान्सावित्री याज्ञसेनी तथा पतीन् ।
न जहौ धर्मतः पार्थान्मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥
प्रतिगृह्य च तां पूजां नारदो भगवानृषिः ।
आश्वासयद्धर्मसुतं युक्तरूपमिवाऽनघ ॥ ६ ॥
उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनाऽर्थः किं ददानि ते ॥ ७ ॥
अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा नारदं देवसंमितम् ॥ ८ ॥

इक्यासीवां अध्याय ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर द्रौपदी और भाइयों की बातें सुनकर अर्जुन के न होने के कारण से उदास हुए । उसी समय वहां परम तेजस्वी महात्मा और ब्राह्मणों की शोभा से अग्नि के सदृश तेज के धारण करनेवाले नारद जी आन पहुँचे उन्हें देखकर राजा युधिष्ठिर भाइयों सहित उठकर खड़े हो गये और बड़े आदर से उन्हें बैठाकर उनका विधिपूर्वक पूजन किया। उस समय युधिष्ठिर अपने भाइयों के बीच में बैठे हुए ऐसे शोभायमान दीखते थे मानों देवताओं सहित इन्द्र बैठे हुए हैं । और द्रौपदी ने उन अपने पतियों को इस प्रकार से धर्म से त्याग नहीं किया जैसे सावित्री वेदों को और सूर्य की प्रभा मेरु पर्वत को त्याग नहीं करती है । नारद जी पाण्डवों की पूजा को ग्रहण करके युधिष्ठिर को धैर्य देने लगे और बोले-हे धर्मधारियों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! कहो, तुम्हारा क्या प्रयोजन है और मैं तुम्हें क्या दूँ ? ॥१।७॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने भाइयों सहित नारद जी को प्रणाम किया और कहा-हे महाभाग ! आप सब लोकों में पूजित हैं । आपके प्रसन्न ही होने

त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात्तव सुव्रत ॥ ९ ॥
यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
संदेहं मे मुनिश्रेष्ठ तत्त्वतश्छेत्तुमर्हसि ॥ १० ॥
प्रदक्षिणां यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः ।
किं फलं तस्य कार्त्स्न्येन तद्भवान्वक्तु मर्हति ॥ ११ ॥
नारद उवाच—शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण धीमता ।
पुलस्त्यस्य सकाशाद्वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ॥ १२ ॥
पुरा भागीरथीतीरे भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन्मुनिभिः सह ॥ १३ ॥
शुभे देशे तथा राजन् पुण्ये देवर्षिसेविते ।
गङ्गाद्वारे महाभाग देवगन्धर्वसेविते ॥ १४ ॥
स पितॄंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः ।
ऋषींश्च तर्पयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥
कस्यचित्त्वथकालस्य जपन्नेव महायशाः ।
ददर्शाऽद्भुतसंकाशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥
स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया ।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परमं ययौ ॥ १७ ॥

मे मैं समझता हूँ कि मेरे सब कार्य सिद्ध हो गये। परन्तु जो आप मुझपर और मेरे भाइयों पर अनुग्रह करना चाहते हैं तो मेरा यह सन्देह विधिपूर्वक दूर कीजिए। मैं आपके मुख से यह बात सम्पूर्णता के साथ सुनना चाहता हूँ कि तीर्थयात्रा करते हुए पृथ्वी की परिक्रमा करने से क्या फल मिलता है? यह सुनकर नारद जी ने कहा—हे महाराज! पुलस्त्य जी ने यही कथा भीष्म जी से कही थी मैं भी उसको तुम्हें सुनाता हूँ तुम मन लगाकर सुनो॥८।१२॥

पहले समय में एक समय भीष्म जी ने पितृ-सम्बन्धी व्रत धारण करके मुनि लोगों के साथ गंगातट पर कुछ काल वास किया था और हरिद्वार में रहकर जहां देवऋषि, देवता और गन्धर्व वास करते हैं उसने अनेक वेदोक्त कर्मों को करके पितृ देवता और ऋषियों को तृप्त किया था। कुछ समय के पीछे एक दिन भीष्म जी जप कर रहे थे कि उन्होंने वहां ऋषियों में उत्तम, बड़े तेजस्वी, तपस्वी और ब्रह्मरूपी लक्ष्मी से प्रकाशमान् पुलस्त्य जी महाराज को आते

उपस्थितं महाभागं पूजयामास भारत ।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥
शिरसा चाऽर्घ्यमादाय शुचिः प्रयतमानसः ।
नाम संकीर्तयामास तस्मिन्ब्रह्मर्षिसत्तमे ॥ १९ ॥
भीष्मोऽहमस्मि भद्रं ते दासोऽस्मि तव सुव्रत ।
तव संदर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्बिषैः ॥ २० ॥
एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद्युधिष्ठिर ॥ २१ ॥
तं दृष्ट्वा नियमेनाऽथ स्वाध्यायाम्नायकर्शितम् ।
भीष्मं कुरुकुलश्रेष्ठ मुनिः प्रीतमनाऽभवत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पार्थनारदसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

हुए देखा। भीष्म जी उन्हें देखकर आश्चर्य करके बहुत प्रसन्न हुए और वेदोक्त रीति से उनकी पूजा कर शिर से अर्घ्य देकर कहने लगे—हे महाराज! मैं आपका दास भीष्म हूँ। आपका आज दर्शन पाकर मैं सब पापों से छूट गया। यह कहकर भीष्म जी हाथ जोड़े हुए चुपचाप उनके सन्मुख बैठ गये और पुलस्त्य जी उस कुरुकुल में श्रेष्ठ भीष्म को धर्म और नियम के साथ वेदपाठ करते हुए देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥१३।२२॥

वनपर्व का इक्यासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

अथ द्व्यशीतितमोऽध्याय ॥ ८२ ॥

पुलस्त्य उवाच—अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च ।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत ॥ १ ॥
यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याऽऽश्रितोऽनघ ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २ ॥
अमोघदर्शी भीष्माऽहं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

बयासीवाँ अध्याय ॥ ८२ ॥

पुलस्त्य ने कहा—हे भीष्म! मैं तुम्हारे सत्य, दम और विनय आदि सद्गुणों को देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुआ। तुम पितृभक्ति के कारण इस प्रकार के धर्म का अनुष्ठान कर रहे हो, इसी से मैं तुमपर प्रसन्न हुआ और तुमको मेरे दर्शन हुए। हे निष्पाप! मेरा दर्शन कभी निष्फल नहीं होता है। तुम्हारा

यद्वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दाताऽस्मि तेऽनघ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान्प्रभुम् ॥ ४ ॥
यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर ।
संदेहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥
अस्ति मे हृदये कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥
प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसंनिभ ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ७ ॥

पुलस्त्य उवाच—हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम् ।
तदेकाग्रमना पुत्र श्रृणु तीर्थेषु यत्फलम् ॥ ८ ॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ९ ॥
प्रतिग्रहादपावृत्तः संतुष्टो येनकेनचित् ।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १० ॥
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेंद्रियः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ११ ॥

मैं क्या प्रिय करूँ ? हे भीष्म ! तुम जो कहोगे मैं वही तुमको दूंगा ॥१।३॥

यह सुनकर भीष्मने कहा हे महाराज ! आपका मुझपर प्रसन्न होना और दर्शन देना ही मब कुछ है। मैं अपने सब कामों को केवल आपके दर्शनोंही से सिद्ध मानता हूँ। परन्तु जो आपको मुझपर और भी अनुग्रह करना है तो कृपा करके मुझे यह निश्चय करके सुनाइए कि पृथ्वी की परिक्रमा करने में मनुष्य को क्या फल प्राप्त होता है। मुझे तीर्थों के विषय में कुछ धर्म संशय हो रहा है आप इसको दूर कीजिए आप देवताओं के तुल्य और ब्रह्मऋषि हैं ॥४।७॥

पुलस्त्य ने प्रसन्न होकर कहा—हे पुत्र ! मैं ऋषियों की परमगति स्वरूप तीर्थयात्रा का फल कहता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। जिस पुरुष के हाथ पांव, मन, विद्या, तप और कीर्ति सुसंयत है वही तीर्थयात्रा का फल पाता है। जो पुरुष दान नहीं लेता और सदा संतुष्ट रहकर अहङ्कार को अपने पास नहीं आने देता वही तीर्थयात्रा का फल पाता है। जो पुरुष दम्भ आदि से बचा रहता है, अधिक उद्योग नहीं करता, थोड़ा आहार करता है, जितेन्द्रिय होकर सब पापों से बचा रहता है, क्रोधरहित है, सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ होकर सब

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥ १२ ॥
ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १३ ॥
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः ॥ १४ ॥
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नाऽर्थन्यूनैर्नाऽवगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥ १५ ॥
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ॥ १६ ॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥ १७ ॥
अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥ १८ ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥ १९ ॥
नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥ २० ॥

प्राणियों से वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि वह अपने साथ औरों से चाहता है, वह तीर्थयात्रा का फल पा सकता है ॥८।१२॥

हे युधिष्ठिर ! देवताओं को प्रसन्न करने के लिये ऋषियों ने यज्ञों का वर्णन किया है । किन्तु यज्ञों के लिये बहुत सी सामग्री और धन की आवश्यकता होती है; इस कारण निराश्रय, निर्धन या असहाय दरिद्र पुरुष उनको नहीं कर पाते । हां, राजा लोग और धनी पुरुष ही यज्ञों को कर सकते हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! दरिद्र पुरुष भी जिसको करके यज्ञों का पवित्र फल पा सकते हैं वह ऋषियों की परमगुप्त तीर्थयात्रा यज्ञों से भी बढ़कर मानी गई है । मैं तुमसे उसी तीर्थयात्रा का वर्णन करता हूँ; सुनो । तीन दिन उपवास न करके, तीर्थयात्रा न करके, ब्राह्मणों को सुवर्ण और गाय आदि न देकर मनुष्य दरिद्र होता है । तीर्थयात्रा करने से जो फल मिलता है वह फल बड़ी बड़ी दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञों के करने से भी नहीं प्राप्त होता । हे कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्यलोक में

दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ।
सांनिध्यं पुष्करे येषां त्रिसन्ध्यं कुरुनन्दन ॥ २१ ॥
आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं संनिहता विभो ॥ २२ ॥
यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महताऽन्विताः ॥ २३ ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ २४ ॥
तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान्कमलासनः ॥ २५ ॥
पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महताऽन्विताः ॥ २६ ॥
तत्राऽभिषेकं यः कुर्यात्पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥ २७ ॥
अप्येकं भोजयेद्विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनाऽसौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥ २८ ॥
शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम् ।

त्रिलोक प्रसिद्ध पुष्कर नाम का तीर्थ है ॥१९।२०॥ वहा दस करोड़ तीर्थ सदा निवास करते हैं। बारहों सूर्य, आठों वसु, ग्यारहों रुद्र, साध्यगण, मरुद्गण, अप्सरा, गन्धर्व आदि वहा नित्य बने रहते है। देवता, दैत्य और ब्रह्मर्षि उसी पुष्कर तीर्थ में तप करके दिव्य योगसिद्धि और पुण्य को प्राप्त हुए हैं। भाग्यशाली पुरुष को पहले उसी तीर्थ में जाना चाहिये। मनस्वी व्यक्ति मन में पुष्कर तीर्थ को जाने की इच्छा करने से भी सब पापों से छुटकारा पा जाता है। वह स्वर्गलोक में पूजित और आनन्दित होता है। हे राजा युधिष्ठिर! पितामह ब्रह्मा सदा प्रसन्न चित्त से इस तीर्थ में निवास करते है। हे महाभाग! पूर्व समय में ऋषि और देवता इसी पुष्कर तीर्थ में परम सिद्धि और पुण्य प्राप्त कर चुके हैं। बुद्धिमानों का कहना है कि इस तीर्थ में स्नान करने से दस अश्वमेध करने का पुण्य मिलता है। जो कोई पुष्कर तीर्थ में जाकर एक ब्राह्मण का भी भोजन करा सकता है वह इस लोक और परलोक में परम सुख पाता है। हे कौरव! वहा रहकर जो कोई साग, फल, मूल आदि आप खाता है और उन्हीं से श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों को तृप्त करता है उसे भी अश्वमेध का फल मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, जो कोई पुष्कर तीर्थ

तद्वै दद्याद्ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ॥ २९ ॥
तेनैव प्राप्नुयात्प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम ॥ ३० ॥
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ।
कार्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम् ॥ ३१ ॥
प्राप्नुयात्स नरो लोकान्ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ।
सायंप्रातः स्मरेद्यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥
उपस्पृष्टं भवेत्तेन सर्वतीर्थेषु भारत ।
जन्मप्रभृति यत्पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥ ३३ ॥
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ।
यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ॥ ३४ ॥
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ।
उष्य द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ॥ ३५ ॥
क्रतून्सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ।
यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ॥ ३६ ॥
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ।
त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ॥ ३७ ॥
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ।

में स्नान करता है उसे फिर जन्म-मरण का कष्ट नहीं भोगना पड़ता ॥२९।३०॥

विशेषकर जो कोई कार्तिकी की पूर्णिमा को पुष्कर तीर्थ में स्नान करता है उसे अक्षय ब्रह्मलोक मिलता है। हे पुरुषश्रेष्ठ! जो कोई हाथ जोड़कर शाम सबेरे पुष्कर तीर्थ का ध्यान करता है उसे सब तीर्थों में स्नान करने का फल मिलता है। स्त्री हो या पुरुष, पुष्कर तीर्थ में स्नान करने से ही, जन्मभर के पापों से छुटकारा पा जाता है। हे भारत! नारायण जैसे सब देवताओं में श्रेष्ठ है वैसे ही पुष्कर भी सब तीर्थों में श्रेष्ठ और सब तीर्थों का आदि है। जो कोई सदा पवित्र रहकर बारह वर्ष तक पुष्कर तीर्थ में रहता है वह ब्रह्मलोक पाता है और सब यज्ञों के फल का अधिकारी होता है। जो पुरुष पूरे सौ वर्ष तक अग्नि-होत्र करता है और जो पुरुष कार्तिकी पूर्णिमा के दिन पुष्कर तीर्थ में रहता है, उन दोनों को एक बराबर फल मिलता है। पुष्कर क्षेत्र में तीन पर्वत-शिखर, तीन झरने और तीन पुष्कर (कमल) हैं।

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः ॥ ३८ ॥
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ।
उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः ॥ ३९ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत् ।
जम्बूमार्गं समाविष्य देवर्षिपितृसेवितम् ॥ ४० ॥
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः ॥ ४१ ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ।
जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत्तन्दुलिकाश्रमम् ॥ ४२ ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ।
आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः ॥ ४३ ॥
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।
शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम् ॥ ४४ ॥
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम् ।
धर्मारण्यं हि तत्पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अर्चयित्वा पितृन्देवान्नियतो नियताशनः ॥ ४६ ॥

वे बहुत ही प्राचीन और सृष्टि के आदि से देख पड़ते हैं। उनकी उत्पत्ति के कारण को हम लोग नहीं जानते। पुष्कर तीर्थ में जाना, वहाँ तप करना, दान करना और रहना भी दुष्कर है। संयमपूर्वक उपवास करके पुष्कर तीर्थ में बारह दिन रहना चाहिये ॥३९।४०॥

उसकी प्रदक्षिणा करके फिर जम्बूमार्ग नाम के तीर्थ में जाना चाहिये। देवर्षियों और पितरों द्वारा सेवित जम्बूमार्ग तीर्थ में जाने से मनुष्य की सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं और उसे अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। जो पुरुष वहां पांच दिन रहता है उसका हृदय शुद्ध और आत्मा पवित्र हो जाता है। वह सब दुर्गतियों से छुटकारा पाकर परमसिद्धि पा जाता है। वहां से तन्दुलिकाश्रम में जाना चाहिये। वहा जाने से सब दुःख दूर होते हैं और ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। हे महाराज! जो कोई पितरों और देवताओं की सेवा करता हुआ वहां से अगस्त्य सरोवर में जाता है और वहां तीन दिन तक उपवास करता है उसे अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है। वहां जो कोई केवल साग और फल खाकर रहता है उसे कौमार पद प्राप्त होता है वहां से लोकपूजित और रमणीय कण्व ऋषि के आश्रम में जाना चाहिये। वह आदि

सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ।
प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत् ॥ ४७ ॥
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ।
महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ॥ ४८ ॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः ॥ ४९ ॥
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राऽभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५० ॥
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति ।
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः ॥ ५१ ॥
नर्मदां स समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
तर्पयित्वा पितॄन्देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ५२ ॥
दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाऽधिरोहति ॥ ५३ ॥
चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ५४ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।

और पवित्र धर्म-वन है। हे भरतश्रेष्ठ! कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचते ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं। वहां संयम के साथ थोड़ा आहार करके पितरों और देवताओं की पूजा करने से सब इच्छाएँ पूरी होती हैं, और यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है। कण्व आश्रम की प्रदक्षिणा करके ययातिपतन नाम के तीर्थ में जाने से अश्वमेध यज्ञ के करने का फल होता है। वहां से महाकाल तीर्थ में जाना चाहिये। वहां संयम और थोड़े आहार के साथ रहकर कोटि तीर्थ में जाना चाहिये। वहां स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। धर्मज्ञ पुरुष को वहां से महादेव के भद्रवट नाम के त्रिलोकप्रसिद्ध तीर्थ में जाना चाहिये ॥४१।५०॥

उस तीर्थ के दर्शन करने से सहस्र-गोदान का फल मिलता है। शिव की कृपा से यात्री परम समृद्धियुक्त गणपति के पद को पाता है। वहां से नर्मदा नदी को जाना चाहिये। त्रिलोकप्रसिद्ध नर्मदा नदी में देवताओं और पितरों का तर्पण करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिलता है। वहां से दक्षिण-सागर में जाकर ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय रहने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिलता है। अन्त को वह मनुष्य विमान पर चढ़कर स्वर्ग को

पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥
तत्राऽऽश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५६ ॥
पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ॥ ५७ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ॥ ५८ ॥
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥ ५९ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ।
ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ॥ ६० ॥
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति ।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद्भरतर्षभ ॥ ६१ ॥
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत्पितृदेवताः ॥ ६२ ॥
प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति ।
वरदानं ततो गच्छेत्तीर्थं भरतसत्तम ॥ ६३ ॥

जाता है। वहां से चर्मण्वती नदी में जाकर स्नान करना चाहिये। राजा रन्तिदेव के इस तीर्थ में नियमपूर्वक उपवास करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है। वहां से चलकर हिमवान् पर्वत से निकले हुए अर्बुद तीर्थ में जाना चाहिये। हे राजन्! पहले यहां पर पृथ्वी का छिद्र था। अर्बुद तीर्थ के पास ही त्रिलोक विख्यात वशिष्ठ ऋषि का आश्रम है। वहां एक रात्रि रहने से सहस्र गोदान का फल होता है। हे नरश्रेष्ठ! फिर पिङ्ग तीर्थ में जाना चाहिये। जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी होकर वहां स्नान करने से सौ कपिला गायें देने का फल होता है। हे राजेन्द्र! वहां से रमणीय प्रभास तीर्थ में जाना चाहिये। वहां देवताओं का मुख जो अग्नि है वह स्वयं उपस्थित है। इस तीर्थ में पवित्रतापूर्वक स्नान करने से अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञ का फल होता है। वहां से सरस्वती और सागर के सङ्गम में जाना चाहिये। ॥५१।६०॥

वहां जाने से मनुष्य को सहस्र गोदान का फल मिलता है। वहां स्नान करनेवाला मनुष्य कान्तिशाली होकर स्वर्गलोक को जाता है। वहां जो कोई पवित्र हृदय से तीन दिन रहकर देवताओं और पितरों का तर्पण करता है उसे सूर्य के समान तेज और

विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ६४ ॥
ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद्बहुसुवर्णकम् ॥ ६५ ॥
तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिन्दम ॥ ६६ ॥
त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सान्निध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ॥ ६७ ॥
सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥ ६८ ॥
तर्पयित्वा पितॄन्देवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ६९ ॥
शंकुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर ।
अश्वमेधाद्दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ७० ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ७१ ॥
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।

चन्द्रमा के समान कान्ति प्राप्त होती है और अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। हे भरतश्रेष्ठ ! वहा से उस वरदान तीर्थ में जाना चाहिये जहा दुर्वासा ने विष्णु को वर दिया था। वरदान तीर्थ में स्नान करने से सहस्र गोदान का फल होता है। वहा से संयम के साथ उपवासपूर्वक द्वारका तीर्थ में जाना चाहिये। पिण्डारक तीर्थ में स्नान करने से बहुत सुवर्ण मिलता है। हे महाभाग ! यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि वहा अबतक पद्म-चिह्न से युक्त मुद्राएँ और त्रिशूलचिह्न से युक्त पद्म देख पड़ते हैं। वहा महादेव रहते हैं। सिन्धु नद और सागर के सङ्गम में जाकर पवित्र हृदय से सलिलराज तीर्थ में स्नान और देव, ऋषि, पितृगण का तर्पण करने से मनुष्य अपनी प्रभा से प्रकाशित वरुण लोक को प्राप्त होता है। हे युधिष्ठिर ! बुद्धिमानों का कहना है कि वहा पर स्थित शङ्कुकर्णेश्वर महादेव की पूजा करने से मनुष्य को दस अश्वमेध यज्ञों का फल होता है ॥६१।७०॥

सलिलराज तीर्थ की प्रदक्षिणा करके सब पापों का नष्ट करनेवाले त्रिलोकप्रसिद्ध दमी नाम के तीर्थ में जाना चाहिये। वहा ब्रह्मा आदि देवता महेश्वर की उपासना किया करते हैं। वहा पर द (श) मी का ऐसा पेड़ है जिसकी स्तुति सब देवता करते हैं।

तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम् ॥ ७२ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम् ।
जन्मप्रभृति यत्पापं तत्पापं तस्नातस्य प्रणश्यति ॥ ७३ ॥
दमी चाऽत्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥
गत्वा तत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना ।
पुरा शौचं कृतं राजन् हत्वा दैतेयदानवान् ॥ ७५ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम् ।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत् ॥ ७६ ॥
स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः ।
तर्प्य देवान्पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ॥ ७७ ॥
तीर्थे चाऽत्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां संमतो भवेत् ॥ ७८ ॥
सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद्बहुसुवर्णकम् ॥ ७९ ॥
भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ८० ॥
कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ ८१ ॥

पहले किसी समय दैत्यों और दानवों को मारकर भगवान् विष्णु ने इसी तीर्थ में शुद्ध होने के लिये स्नान किया था। इस स्थान में स्नान और देवगण-युक्त रुद्र की पूजा करने से जन्म भर के पाप दूर हो जाते हैं और अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। इसके पीछे वसुधा तीर्थ में पहुँचे जहा जाने ही से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। इस तीर्थ में जो मनुष्य जितेन्द्रिय होकर देवता और पितरों का तर्पण करता है उसको विष्णुलोक मिलता है। इसी स्थान पर वसुओं का बड़ा पवित्र सरोवर है उसमें स्नान करने से वसु देवता प्रसन्न होते हैं और सिन्धूत्तम नाम एक बड़ा उत्तम तीर्थ भी वहीं है उसमें स्नान करने से मनुष्य को बहुत सा सुवर्ण मिलता है। इसके उपरात मनुष्य शीलता और पवित्रता से भद्रतुङ्ग नाम तीर्थ में जाकर स्नान कर वहा जाने से मनुष्य को ब्रह्मलोक और परमगति प्राप्त होती है ॥७१।८०॥

रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद्विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा ॥ ८२ ॥
अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्च यज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः ॥ ८३ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ॥ ८४ ॥
देव्याः पुत्रो भवेद्राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८५ ॥
श्रीकुण्डं तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ८६ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम् ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ॥ ८७ ॥
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८८ ॥
वितस्तां च समासाद्य संतर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ॥ ८९ ॥
काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च ।

और उसी के निकट इन्द्र की कुमारिकाओं का तीर्थ है जहा सिद्ध लोग रहते हैं, वहा स्नान करने से मनुष्य को स्वर्गलोक प्राप्त होता है । फिर इस तीर्थ के पास ही रेणुका तीर्थ है वहा भी सिद्ध लोग रहते हैं उस तीर्थ में जो ब्राह्मण स्नान करता है उसकी कान्ति चन्द्रमा की सी हो जाती है । इसके आगे पञ्चनद नाम तीर्थ है जो सावधान और नियत भोजन करनेवाला मनुष्य उस तीर्थ की यात्रा करता है उसको पञ्चयज्ञ करने का फल प्राप्त होता है। वहा से फिर भीमादेवी के स्थान की यात्रा करे जहा पर एक योनिकुण्ड है, जिसमें स्नान करने से तप्तकुण्डल पाकर मनुष्य देवी का पुत्र होता है और उसको एक लाख गोदान करने का फल प्राप्त होता है । वहा से श्रीकुण्ड में जाकर स्नान करे जो तीनों लोकों में विख्यात है। इस तीर्थ में ब्रह्मा जी की पूजा करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है । इसके आगे विमल नामी तीर्थ है जिसमें अबतक सुनहली और रूपहली मछलिया दीखती है इस तीर्थ में जाकर स्नान करने से मनुष्य को इन्द्रलोक मिलता है और सब पापों से छूटकर परमगति पाता है । वहा से वितस्ता तीर्थ में जाकर देव, पितृ का तर्पण करे । ऐसा करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है ।

वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ९० ॥
तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ॥ ९१ ॥
ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायां तु सन्ध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि ॥ ९२ ॥
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितॄणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ९३ ॥
ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
गुह्यकाः किंनरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः ॥ ९४ ॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप ।
नियतः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम् ॥ ९५ ॥
विष्णोः प्रसादनं कुर्वश्चरुं च श्रपयंस्तथा ।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम् ॥ ९६ ॥
ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः ।
यथाभिलषितानन्यान्कामान्दत्त्वा महीपते ॥ ९७ ॥
तत्रैवाऽन्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा ।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ॥ ९८ ॥

इसके आगे काश्मीर देश में वितस्त नाम तक्षक नाग का स्थान है वहा स्नान करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है और विशुद्धात्मा होकर उस मनुष्य को परमगति मिलती है ॥८१।९१॥

इसके उपरान्त मनुष्य को वड़वातीर्थ की यात्रा करनी चाहिये जो तीनों लोकों में विख्यात है और वहा इसको सन्ध्या समय स्नान करके अग्नि में होम करना चाहिये। बुद्धिमान् लोग कहते हैं कि इस तीर्थ में पितरों को दिया हुआ दान क्षय नहीं होता है। एक समय इस स्थान पर ऋषि, पितर, देवता, गन्धर्व, अप्सरा, गुह्यक, किन्नर, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य, राक्षस, दैत्य, रुद्र और ब्रह्माजी ने विष्णु भगवान् को प्रसन्न करने के लिये सहस्रवर्ष की दीक्षा लेकर चरु अर्थात् हविष्यान्न अर्पण किया था और ऋग्वेद के मन्त्रों से सात बार स्तुति की थी विष्णुभगवान् ने प्रसन्न होकर उन सबको आठगुणा वैभव दिया था, और जिस जिसकी जो जो मनोवान्छा थी सबको देकर इस प्रकार से अन्तर्द्धान हो गये थे जैसे बादलों में बिजली चमककर गुप्त हो जाती है। इसी कारण से यह तीर्थ सप्तचरु नाम से विख्यात हो गया। यहा पर अग्नि में हवन करना एक लाख गोदान, सौ राजसूय और सहस्र अश्वमेध यज्ञ करने से भी उत्तम है। इस

गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान्सप्तार्चिषे चरुः ॥ ९९ ॥
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रुद्रं पदमथाऽऽविशेत् ।
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १०० ॥
मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १०१ ॥
अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥ १०२ ॥
त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ॥ १०३ ॥
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १०४ ॥
कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति भारत ॥ १०५ ॥
यजनं याजनं चैव तथैव ब्रह्मवालुकम् ।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ॥ १०६ ॥
अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती देविका तु पुण्या देवर्षिसेविता ॥ १०७ ॥

तीर्थ के आगे रुद्रपद नामी तीर्थ है। वहां जाकर शिवजी की पूजा करने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है ॥९२।१००॥

वहां से चलकर मणिमन्तनाम तीर्थ में एक रात्रि वास करे ऐसा करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिलता है। इसके आगे देवता नाम तीर्थ तीनों लोकों में विख्यात है। ऐसा सुना जाता है कि ब्राह्मण इसी स्थान पर उत्पन्न हुये थे। इस तीर्थ में एक तीनों लोकों में प्रकट शिवजी का स्थान भी है। यहां स्नान करने और शिवजी की पूजा करने से और यथाशक्ति हविष्यान्न निवेदन करने से मनुष्य के सब मनोरथ पूर्ण होते हैं और वृद्धियुक्त होकर यज्ञ करने का फल पाता है। इसी तीर्थ में कामाख्य नाम शिवजी का भी तीर्थ है जहां देवता रहते हैं उसमें स्नान करने से मनुष्य को शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। इस तीर्थ में जो यजन याजन, ब्रह्मबालुक और पुष्पांभ नामी तीर्थ हैं उनमें स्नान अवश्य करे और मरने का शोच न करे। यह देविका नामी पुण्यतीर्थ आध योजन चौड़ा

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥१०८॥
दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः ।
गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिन्दम ॥१०९॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ।
ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ॥११०॥
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ।
चमसेऽथ शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ॥१११॥
स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥११२॥
नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ।
शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥११३॥
शशरूपप्रतिच्छन्ना· पुष्करा यत्र भारत ।
सरस्वत्यां महाराज अनुसंवत्सरं च ते ॥११४॥
दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्तिकी सदा ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत्सदा ॥११५॥
गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद्भरतर्षभ ।
कुमारकोटीमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ॥११६॥

और पाच योजन लम्बा है और इसमें देवऋषि रहा करते हैं । इस तीर्थ से चलकर दीर्घसत्र तीर्थ में पहुचे जहा पर ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध और महर्षि लोग दीक्षित होकर दीर्घसत्र यज्ञ करते है । वहा जाते ही मनुष्य को राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है ॥१०९।११०॥

वहा से मनुष्य को विनशन तीर्थ की यात्रा करनी चाहिए जहा पर सरस्वती नदी मेरु पर्वत की पृष्ठि पर होती हुई गुप्त बहती है। और चमसोद्भेद, शिवोद्भेद, और नागोद्भेद नामी तीर्थों में आकर दीखती है। इन तीर्थों में से पहले में स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ का और दूसरे में सहस्र गोदान का फल मिलता है और तीसरे में स्नान करने से नागलोक प्राप्त होता है। यहा से फिर शशियान तीर्थ की यात्रा करे जहा शशिरूप से ढके हुए पुष्कर रहते हैं और हर वर्ष की कार्तिकी पौर्णमासी को दीखते हैं। इस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है और उसकी कान्ति चन्द्रमा के तुल्य हो

तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गवामयुतमाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ११७ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ।
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता ॥ ११८ ॥
हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकाङ्क्षया ।
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ॥ ११९ ॥
एवं संप्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ।
ततो योगीश्वरेणाऽपि योगमास्थाय भूपते ॥ १२० ॥
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ।
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता ॥ १२१ ॥
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ।
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ १२२ ॥
भक्त्या परमया राजन् वरं तेषां प्रदिष्टवान् ।
अद्यप्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ॥ १२३ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १२४ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र संगमं लोकविश्रुतम् ।

जाती है । इसके आगे कुमारकोटि तीर्थ है देवता और पितरों में प्रीति रखनेवाले मनुष्य इस तीर्थ में जाकर स्नान करें । ऐसा करने से मनुष्य को दश सहस्र गोदान करने का फल मिलता है और वह मनुष्य अपने कुल का उद्धार करता है । इस तीर्थ से चलकर रुद्रकोटि तीर्थ की यात्रा करे । जहां पहले समय में शिव जी के दर्शनों की इच्छा से एक कोटि मुनि इकट्ठे हुए थे और अपने अपने स्थानों से यह कहते हुए चले थे कि पहले मैं ही जाकर शिव जी का दर्शन करूँगा ॥ ११ । १२० ॥

योगीश्वर शिव जी ने उस समय उन शुद्ध अन्तःकरण मुनियों के क्रोध को शान्त करने के लिये योग से अपने एक कोटि रूप प्रकट किये और एक एक रूप से सब ऋषियों के सन्मुख आ खड़े हुए । उनको देखकर सब ऋषियों ने यह जाना कि पहले शिव जी के मुझे ही दर्शन हुए हैं । महादेव जी ने उनकी भक्ति देखकर उनको यह वरदान दिया कि अब से तुम सब के धर्म की वृद्धि होगी । इस रुद्रकोटि नाम तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और वह मनुष्य अपने कुल का उद्धार करता है । इस तीर्थ से फिर सारस्वती के सङ्गम तीर्थ की यात्रा करे जो तीनों

सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते ॥१२५॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम् ॥१२६॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद्बहु सुवर्णकम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१२७॥
ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप ।
तत्राऽवसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१२८॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां द्व्यशीतितमोऽध्याय ॥ ८२ ॥

लोकों में विख्यात है और बड़ा पुण्यस्थान है। इस तीर्थ को ब्रह्मादिक देवता और बड़े बड़े तपस्वी ऋषि चैत्र शुक्ला चतुर्दशी को जाया करते हैं। वहा स्नान करने और केशव का आराधन करने से मनुष्य को बहुत सा सुवर्ण मिलता है। और वह सब पापों से छूटकर ब्रह्मलोक पाता है। वहीं अवसान नाम तीर्थ हैं जहा ऋषियों ने अपने यज्ञ समाप्त किये थे। इस तीर्थ की यात्रा करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है ॥१२१।१२८॥

वनपर्व का बयासीवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८२ ॥

अथ त्रिशीतितमोऽध्याय ॥ ८३ ॥

पुलस्त्य उवाच—ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात्सर्वजन्तवः ॥ १ ॥
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ३ ॥

तिरासीवा अध्याय ॥ ८३ ॥

पुलस्त्य ऋषि बोले–हे भीष्म! अवसान तीर्थ से चलकर मनुष्य का कुरुक्षेत्र नाम तीर्थ की यात्रा करना उचित है। जिसके दर्शनमात्र से प्राणी के सब पाप दूर हो जाते हैं। जो कोई मनुष्य यह भी कहता है कि मैं कुरुक्षेत्र को जाऊँगा अथवा वहा रहूँगा, तो इतना ही कहने से उसके पाप दूर हो जाते है। वहा का ऐसा प्रभाव है कि जो पापी मनुष्य पर वहा की धूल भी उड़कर जा पड़े तो भी उस पापी को परमगति प्राप्त हो जाती है। इस कुरुक्षेत्र के उत्तर में दृषद्वती और दक्षिण में सरस्वती नाम नदिया बहती हैं। इनके मध्य में जो रहनेवाले मनुष्य हैं वे स्वर्ग में बसते हैं। सरस्वती के तट पर

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ ४ ॥
तत्र मासं वसेद्धीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥ ५ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ॥ ६ ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ७ ॥
गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।
फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८ ॥
ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र संनिहितो हरिः ॥ १० ॥
तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ ११ ॥
ततःपारिप्लवं गच्छेत्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥ १२ ॥

मनुष्य को एक महीना वास करना चाहिए। वहा पर ब्रह्मादिक देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और पन्नग आते हैं। वहा बसने से मनुष्य को ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। जो मनुष्य कुरुक्षेत्र को मन से भी स्मरण करता है उसके भी सब पाप दूर हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोक पाता है। और जो मनुष्य श्रद्धा से कुरुक्षेत्र में जाता है उसको राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने का फल मिलता है। यहीं मंकणक नाम बड़ा पराक्रमी द्वारपाल यक्ष है उसको नमस्कार करने से सहस्र गोदान का फल मिलता है ॥१।९॥

वहा से सतत नाम विष्णु भगवान् के स्थान की यात्रा करे जहा विष्णु भगवान् रहा करते हैं। वहां की यात्रा करने और वहां स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और वह विष्णुलोक को जाता है। इस तीर्थ के पीछे पारिप्लवनामी तीर्थ को जाय जो तीनों लोकों में विख्यात है। वहां की यात्रा करने से मनुष्य को तीन रात्रि में अग्निष्टोम

पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः शाल्किनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥ १३ ॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।
सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ॥ १४ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ॥ १५ ॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ॥ १६ ॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ॥ १७ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ॥ १८ ॥
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ॥ १९ ॥
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।
एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २० ॥
कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।

यज्ञ के करने का फल मिलता है, वहां से पृथिवी तीर्थ को जाने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। फिर शाल्किनी तीर्थ में जाकर दशाश्वमेध में स्नान करने से दश अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है वहां से फिर सर्व देवीनाम नागों के उत्तम तीर्थ की यात्रा करे। जहां जाने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है और अन्त समय में उसको नागलोक प्राप्त होता है। इसी तीर्थ के निकट तरन्तुक नाम द्वारपाल है वहां जाने और एक रात्रि बसने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। उस के आगे फिर नियताशन होकर पञ्चनद नाम तीर्थ की यात्रा करे। और कोटितीर्थ में स्नान करे। ऐसा करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और वहीं अश्विनीकुमारों का तीर्थ है जिसमें स्नान करने से मनुष्य सुन्दर स्वरूपवान् हो जाता है। वहां से फिर वराह तीर्थ की यात्रा करे जहां पहिले समय में विष्णुभगवान् ने वाराह का रूप धारण किया था। वहां स्नान करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से आगे जयंती नाम सोमतीर्थ में जाय। जहां स्नान करने से मनुष्य को राजसूय यज्ञ करने का फल मिलता है। और वहीं एक हंसतीर्थ भी है वहां स्नान करने से सहस्र गोदान करने

पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः ॥ २१ ॥
ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः ।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥
तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम् ।
स्नात्वाऽभिगम्य राजेन्द्र सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥ २३ ॥
कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ॥ २४ ॥
संमितं पुष्कराणां च स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत्सुमहात्मना ॥ २५ ॥
कृतकृत्यो भवेद्राजन्नश्वमेधं च विन्दति ।
ततो रामह्रदान्गच्छेत्तीर्थसेवी समाहितः ॥ २६ ॥
तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ॥ २७ ॥
पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम् ।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः ॥ २८ ॥
ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप ।
पितर ऊचु–राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥ २९ ॥

का फल मिलता है ॥१०।२०॥

इस तीर्थ के पीछे यात्री को कृतशौच तीर्थ में जाना चाहिये जहां जाने से मनुष्य का पुण्डरीक यज्ञ के करने का फल मिलता है और शरीर पवित्र हो जाता है। वहा से मुञ्जवट नाम तीर्थ में शिव जी के स्थान पर जाय जहा एक रात्रि बसने मे मनुष्य को गाणपत्य पद प्राप्त होता है। वहीं यक्षणी नाम लोगों में विख्यात तीर्थ है उसमें स्नान करने से मनुष्य की सब मनोकामना पूरी होती हैं। तीर्थसेवी मनुष्य यहां से प्रदक्षिणा करता हुआ कुरुक्षेत्र के द्वार पर जावे जहा पर परशुराम जी के लाये हुए पुष्कर की तुल्य तीर्थ है। वहा स्नान करने और देवता और पितरों का तर्पण करने से मनुष्य अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाकर कृतकृत्य हो जाता है। वहां से चलकर फिर परशुराम जी के कुण्डों की यात्रा करे ॥२१।२६॥

परशुराम जी ने, जिनका तेज बड़ा दीप्त था, क्षत्रियों को मारकर रुधिर से पांच कुण्ड भरे थे। और उन कुण्डों में स्नान करके पितरों का तर्पण किया था। परशुराम जी के पितृ उस तर्पण से प्रसन्न होकर आकाश में प्रकट हो गये और कहने लगे– हे राम! हे राम! हे भार्गव! हम तुम्हारी पितृभक्ति

अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ॥ ३० ॥
एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन्स गगने स्थितान् ॥ ३१ ॥
भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
पितृप्रसादमिच्छेयं तपआप्यायनं पुनः ॥ ३२ ॥
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाऽप्यहम् ॥ ३३ ॥
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ॥ ३४ ॥
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ।
तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ॥ ३५ ॥
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ।
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः ॥ ३६ ॥
ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ।
ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन्संतर्पयिष्यति ॥ ३७ ॥
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितं च मनःकामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम् ॥ ३८ ॥
एवं दत्त्वा वरान्राजन्रामस्य पितरस्तदा ।

और शूरवीरता से प्रसन्न हुए अब तुम हम से वर मागो । यह सुनकर परशुराम जी हाथ जोड़कर पितरों से बोले कि जो आप मेरे ऊपर प्रसन्न होकर मुझ पर अनुग्रह किया चाहते हैं तो मैं चाहता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न रहें, मेरे तप की वृद्धि होय और मैं क्षत्रियों के कुल को क्रोध के कारण से नाश करने के पाप से छूट जाऊँ और मेरे ये पांचों कुण्ड तीर्थरूप पृथ्वी पर विख्यात होवें। यह सुनकर पितरों ने प्रसन्न होकर कहा कि पितृभक्ति के कारण से तुम्हारे तप की वृद्धि होगी और तुम क्षत्रियों को नाश करने के पाप से मुक्त होगे और ये तुम्हारे कुण्ड भी तीर्थरूपी हो जायँगे । जो कोई मनुष्य इन कुण्डों में स्नान करके विधिपूर्वक पितरों का तर्पण करेगा उसके पितृ निश्चय उसको दुर्लभ पदार्थ देकर उसकी सब मनोकामनाओं को पूरा करेंगे और उसको स्वर्गलोक भी देंगे। यह वरदान देकर पितृ परशुराम जी से

आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवाऽन्तर्हितास्ततः ॥ ३९ ॥
एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः ॥ ४० ॥
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद्बहु सुवर्णकम् ।
वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ॥ ४१ ॥
स्ववंशमुद्धरेद्राजन्स्नात्वा वै वंशमूलके ।
कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम ॥ ४२ ॥
शरीरशुद्धिं स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः ।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान् ॥ ४३ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४४ ॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
स्नात्वा तीर्थवरे राजन् लोकानुद्धरते स्वकान् ॥ ४५ ॥
श्रीतीर्थं च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।
अर्चयित्वा पितृन्देवान्विन्दते श्रियमुत्तमाम् ॥ ४६ ॥
कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितृन्स्वान्दैवतान्यपि ॥ ४७ ॥

पूछकर वहीं अन्तर्द्धान हो गये ॥२७।३९॥

सो हे राजा युधिष्ठिर ! ये परशुराम जी के कुण्ड इस प्रकार से पवित्र और तीर्थरूप हैं । जो मनुष्य ब्रह्मचारी और व्रती होकर उसमें स्नान करता है और परशुराम जी की पूजा करता है उसको बहुत सा सुवर्ण मिलता है । वहां से मनुष्य को वंशमूलक नामी तीर्थ की यात्रा करनी चाहिये । जिस में स्नान करने से मनुष्य के वंश का उद्धार होता है और फिर कायशोधन तीर्थ को जावे । जिसमें स्नान करने से मनुष्य का शरीर शुद्ध हो जाता है और उसको शुभ और उत्तम लोक मिलते हैं । वहां से लोकोद्धार तीर्थ की यात्रा कर जो तीनों लोकों में विख्यात है और जहां पहले सर्वव्यापी विष्णु भगवान् ने लोकों का उद्धार किया था उसमें स्नान करने से मनुष्य के लोकों का उद्धार होता है । यहीं श्री तीर्थ भी है जिसमें स्नान करने और देवता और पितरों को पूजने से मनुष्य को लक्ष्मी प्राप्त होती है । वहां से चल कर यात्री कपिला तीर्थ में स्नान करे और अपने पितर और देवताओं का पूजन करे । जिसके करने से सहस्र कपिला गोदान करने का फल मिलता है । वहां से फिर सूर्य तीर्थ को चला जाय जहां देवता और पितरों की पूजा करने से मनुष्य को अग्निष्टोम

कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ।
सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥ ४८ ॥
अर्चयित्वा पितॄन्देवानुपवासपरायणः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ ४९ ॥
गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५० ॥
शङ्खिनीतीर्थमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम् ।
यच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ५२ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्तं नरोत्तमः ॥ ५३ ॥
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥ ५४ ॥
तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ ५५ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति ।
ततोऽम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥ ५६ ॥

यज्ञ करने का फल मिलता है और अन्त में सूर्यलोक को जाता है। वहा से गवाभवन तीर्थ की यात्रा करे जहा स्नान करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है ४९।५०॥

उसके आगे शंखिनी नाम देवी का तीर्थ है। जिसमें स्नान करने मे मनुष्य को उत्तम स्वरूप मिलता है। वहा स्नान करके तरडक द्वारपाल यक्ष के तीर्थ की यात्रा करे जो सरस्वती में है। उसमें स्नान करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। वहा से फिर ब्रह्मावर्त्त को चला जाय। जहा स्नान करने मे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। वहा से फिर मानुषलोक नाम उत्तम तीर्थ की यात्रा करे। जहा देवता और पितरों का वास रहता है। वहां देवता और पितरों की पूजा में प्रीति रखनेवाला मनुष्य स्नान करके अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाता है और उसको पितृलोक का वास मिलता है। उसके आगे अम्बुमती में काशीश्वर का सुतीर्थक नाम एक तीर्थ है उसमें स्नान करने से मनुष्य सब बाधाओं

काशीश्वरस्य तीर्थे च स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ५७ ॥
मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।
प्रजा विवर्धते राजन्नतन्वीं श्रियमश्नुते ॥ ५८ ॥
ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ॥ ५९ ॥
पुनाति दर्शनादेकं स्नानादेकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन्पूतो भवति भारत ॥ ६० ॥
तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ॥ ६१ ॥
प्रीतिं गच्छन्ति परमां स्नात्वा भरतसत्तम ।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ॥ ६२ ॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ६३ ॥
दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६४ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन् व्याधेन शरपीडिताः ॥ ६५ ॥

से छूटकर ब्रह्मलोक को जाता है । इसी स्थान पर मातृतीर्थ भी है जिस में स्नान करने से मनुष्य की सन्तान की वृद्धि होती है और उसको लक्ष्मी मिलती है । वहा से फिर यात्री को सीत वन को जाना उचित है। जहां ऐसा तीर्थ है कि वैसा दूसरे स्थान पर होना दुर्लभ है । उस तीर्थ के दर्शनमात्र और उसमें बाल धोने से ही मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥५९।६०॥

और वहीं श्वाविल्लोमापह नाम तीर्थ भी है। जहां विद्वान् ब्राह्मण लोग परस्पर प्रीतिपूर्वक रहकर प्राणायाम करके अपने पापों को दूर करते हैं और पवित्र आत्मा होकर परमगति पाते हैं। उसमें यात्री को स्नान करके दशाश्वमेधिक नाम तीर्थ में जो उसी स्थान पर है स्नान करना चाहिये। उसमें स्नान करने से परमगति मिलती है । इसके पीछे मानुष-तीर्थ में जाय जो तीनों लोकों में विख्यात है । उस सरोवर में एक समय काले मृग बाणों से पीड़ित होकर गिरकर मनुष्यरूप हो गये थे । मनुष्य ब्रह्मचर्य

विगाह्य तस्मिन्सरसि मानुषत्वमुपागतः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६६ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।
मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते ॥ ६७ ॥
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता ।
श्यामाकं भोजने तत्र यः प्रयच्छति मानवः ॥ ६८ ॥
देवान्पितॄन्समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत् ।
एकस्मिन्भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता ॥ ६९ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितॄन्वै देवतानि च ।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ७० ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत ॥ ७१ ॥
तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव ।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ॥ ७२ ॥
ब्रह्माणमधिगत्वा च शुचिः प्रयतमानसः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ७३ ॥
कपिष्ठलस्य केदारं समासाद्य सुदुर्लभम् ।
अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ७४ ॥

से इस तीर्थ में स्नान करके विशुद्ध आत्मा होकर स्वर्गलोक पाता है । इस तीर्थ के पूर्व दिशा में एक कोस पर आपगा नाम नदी है जहां सिद्ध लोग रहा करते हैं । वहां पर देवता और पितरों के नाम पर श्यामाक भोजन देने से यह फल होता है । यहां तक कि एक ब्राह्मण को भोजन कराने से कोटि ब्राह्मणों को भोजन देने का फल होता है । इस तीर्थ में स्नान करने और देवता, पितरों की पूजा करने और वहां एक रात्रि बसने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है ॥६९।७०॥

वहां से चलकर ब्रह्मा जी के ब्रह्मोदुम्बर नाम स्थान की यात्रा करे । वहां सप्तऋषि के कुण्ड में और महात्मा कपिल के केदार नाम तीर्थ में स्नान करने और पवित्रतापूर्वक मन की शुद्धता से ब्रह्मा जी का ध्यान करने से मनुष्य को ब्रह्मलोक मिलता है । और इस कपिल केदार तीर्थ में तपस्या करने से सब पापों से छूटकर मनुष्य को अन्तर्धान हो जाने की सामर्थ्य हो जाती है । वहां से सरक नाम तीर्थ को जाय जो

ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम् ।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामभिगम्य वृषध्वजम् ॥ ७५ ॥
लभेत सर्वकामान्हि स्वर्गलोकं च गच्छति ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन ॥ ७६ ॥
रुद्रकोट्यां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते ।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥ ७७ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति ॥ ७८ ॥
किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते ।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत ॥ ७९ ॥
कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८० ॥
सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम् ॥ ८१ ॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत ।
नारदेनाऽभ्यनुज्ञातो लोकान्प्राप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ८२ ॥
शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ८३ ॥

तीनों लोकों में विख्यात है और कृष्णपक्ष की चौदश को शिव जी का पूजन करे । वहां जाने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है और उसकी सब मनोकामना पूरी होती है । इस सरक तीर्थ और रुद्रकोटि, ह्रद और कूप तीर्थों में तीन तीन कोटि तीर्थ हैं और वहीं इलास्पदनामी तीर्थ भी है । वहां स्नान करने और देवता पितरों का पूजन करने से मनुष्य की दुर्गति नहीं होती है और अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है । इसके आगे किंदान और जप्य नामी तीर्थ हैं उनमें स्नान, दान और जप करना अप्रमेय होता है । वहां से कलशी तीर्थ में जाकर श्रद्धायुक्त जितेन्द्रिय होकर स्नान करे जिसके करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है ॥७१।८०॥

और सरक तीर्थ से पूर्व दिशा में अम्बाजन्म नाम नारद जी का विख्यात तीर्थ है । उस तीर्थ में स्नान करने और प्राणों को छोड़ने से नारद जी की आज्ञा से मनुष्य को उत्तम लोक मिलते हैं । वहां

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी ॥ ८४ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८५ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन् फलकीवनमाश्रिताः ॥ ८६ ॥
तपश्चरन्ति विपुलं बहुवर्षसहस्रकम् ।
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८७ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम ॥ ८८ ॥
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः ।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८९ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च विन्दति ॥ ९० ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ॥ ९१ ॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम् ।

से फिर पुण्डरीक तीर्थ को जाकर शुक्लपक्ष की दशमी को स्नान करे तो स्नान करनेवाले को पुण्डरीक यज्ञ करने का फल मिलता है। इस तीर्थ के आगे त्रिविष्टप नामी तीनों लोकों में विख्यात तीर्थ है। वहां वैतरणी नाम पुण्य नदी पापों को दूर करनेवाली है। उसमें स्नान कर शूलपाणि वृषध्वज शिव जी का पूजन करने से मनुष्य शुद्ध होकर परमगति पाता है। यहां से आगे चलकर फलकी वन की यात्रा करे। जहां देवता सहस्रों वर्षों से तप कर रहे हैं। वहां दृषद्वती में स्नान और तर्पण करने से अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों के करने का फल मिलता है। वहीं सब देवताओं का तीर्थ भी है उसमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। और पाणिखात नाम तीर्थ में स्नान और तर्पण करने से अग्निष्टोम, अतिरात्र और राजसूय यज्ञों के करने का फल मिलता है और स्नान करनेवाला अन्त समय में ऋषिलोक पाता है ॥८१।९०॥

यहां से चलकर मिश्रक तीर्थ की यात्रा करे। जहां हमने सुना है कि महात्मा व्यास जी ने सब तीर्थ लाकर ब्राह्मणों के लिए मिलाये हैं उसमें स्नान करने से सब तीर्थों में स्नान करने का फल मिलता है। यहां से चलकर व्यास जी के वन में जाय।

सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥ ९२ ॥
ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९३ ॥
गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितॄन्देवांश्च पूरुषः ॥ ९४ ॥
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ।
कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत ॥ ९५ ॥
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ॥ ९६ ॥
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः ।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ॥ ९७ ॥
अभिगत्वा स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ॥ ९८ ॥
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह ।
वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९९ ॥
अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥ १०० ॥
मृगधूमं ततो गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।

जहां मनोजव तीर्थ में स्नान करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। फिर वहां से मधुवटी नाम देवी के तीर्थ की यात्रा करे। जहां स्नान करने और पितृ और देवताओं को पूजने से देवी की आज्ञा से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। वहीं कौशिकी और दृषद्वती नदियों का संगम है। उसमें स्नान करने से मनुष्य के सब पाप निश्चय दूर हो जाते हैं। वहां से फिर व्यास स्थली नाम तीर्थ को जाय। जहां व्यास जी की रक्षा देवताओं ने पुत्र के शोक में प्राण छोड़ने के समय में की थी। वहां जाने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। वहां से किंदत्तकूप की यात्रा करे। जहां एक प्रस्थ तिल दान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इसके आगे अह और सुदिन नामी दोनों तीर्थ तीनों लोकों में विख्यात हैं। उनमें स्नान करने से मनुष्य को सूर्यलोक मिलता है ॥९१।१००॥

वहां से मृगधूम तीर्थ की यात्रा करे जो तीनों

तत्राऽभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम ॥१०१॥
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०२॥
ततो वामनकं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ॥१०३॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
कुलंपुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः ॥१०४॥
पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विष्णुलोके महीयते ॥१०५॥
अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्याऽमराधिपम् ।
अमराणां प्रभावेन स्वर्गलोके महीयते ॥१०६॥
शालिहोत्रस्य तीर्थे च शालिसूर्ये यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०७॥
श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यास्तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१०८॥
ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह ।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः ॥१०९॥

लोकों में विख्यात है। वहां गङ्गा जी में स्नान करने और महादेव जी का पूजन करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। वहीं देवी के तीर्थ में भी स्नान करे जिसमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इसके पीछे वामनक तीर्थ में जावे जो तीनों लोकों में विख्यात है। वहां विष्णुपद में स्नान करने और वामन जी को पूजने से मनुष्य की आत्मा शुद्ध हो जाती है और अन्त समय में विष्णुलोक पाता है। वहीं कुलंपुन तीर्थ भी है जिसमें स्नान करने से मनुष्य का कुल पवित्र हो जाता है। इसके आगे मरुद्देवता का पवन कुण्डतीर्थ है जिसमें स्नान करने से मनुष्य वायुलोक को जाता है ॥१०१।१०५॥

और वहीं देवताओं का कुण्ड भी है इसमें स्नान करने और इन्द्र का पूजन करने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है। और शालिहोत्र और शालिसूर्य में स्नान करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इन तीर्थों के आगे सरस्वती जी में श्रीकुञ्जनामी तीर्थ है जिसमें स्नान करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से फिर नैमिषकुञ्ज तीर्थ की यात्रा करे। पहले इस स्थान पर जो तपस्वी ऋषि रहते थे वे तीर्थयात्रा करने के लिये कुरुक्षेत्र में चले

तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम ॥ ११० ॥
ऋषीणामवकाशः स्याद्यथा तुष्टिकरो महान् ।
तस्मिन्कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १११ ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमनुत्तमम् ।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ११२ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः ॥ ११३ ॥
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।
ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम् ॥ ११४ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सोमलोकमवाप्नुयात् ।
सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप ॥ ११५ ॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
पुरा मङ्कणको राजन् कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ॥ ११६ ॥
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ॥ ११७ ॥
ततस्तस्मिन्प्रनृत्ते तु स्थावरं जङ्गमं च यत् ।
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ॥ ११८ ॥

गये थे इस कारण से ऋषियों को अवकाश मिलने के प्रयोजन से यह निमिषकुञ्ज रचा गया। इसमें स्नान करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है ॥१०६।१११॥

इसके पीछे यात्री को कन्या तीर्थ की यात्रा करना उचित है जिससे उत्तम और कोई तीर्थ नहीं है। उस में स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। उसके आगे ब्रह्मा जी का उत्तम तीर्थ है यहां स्नान करने से मनुष्य को ब्राह्मण्य पद मिलता है और जो ब्राह्मण उसमें स्नान करे तो उसको परमगति मिलती है। उस तीर्थ से चलकर फिर चन्द्रमा के उत्तम तीर्थ की यात्रा करे जहां स्नान करने से मनुष्य को चन्द्रलोक मिलता है। और फिर वहां से सप्तसारस्वत तीर्थ को चला जावे। जहां मकणक नामी महाऋषि जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है, रहते हैं। हमने सुना है कि पहले समय में मकणक ऋषि के हाथ में कुशा की नोक समा गई थी उसके लगने से उस महाऋषि के हाथ में से शाकरस टपकने लगा उसको देखकर

ब्रह्मादिभिः सुरै राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरर्थे नराधिप ।
नाऽयं नृत्येद्यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥११९॥
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ॥१२०॥
भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान् ।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाऽद्य मुनिपुङ्गव ॥१२१॥
ऋषिरुवाच—तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम ।
किं न पश्यसि मे ब्रह्मन्कराच्छाकरसं स्रुतम् ॥१२२॥
यं दृष्ट्वा संप्रनृत्तोऽहं हर्षेण महताऽन्वितः ।
तं प्रहस्याऽब्रवीद्देव ऋषिं रागेण मोहितम् ॥१२३॥
अहं तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम् ।
एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता ॥१२४॥
अंगुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वांगुष्ठस्ताडितोऽनघ ।
ततो भस्मक्षताद्राजन्निर्गतं हिमसन्निभम् ॥१२५॥
तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः ।
नाऽन्यद्देवात्परं मेने रुद्रात्परतरं महत् ॥१२६॥
सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक् ।

वह ऋषि हर्ष के कारण से नाचने लगा और उसके तेज से मोहित होकर सब जड़ और चैतन्य जीव भी नाचने लगे। यह देखकर ब्रह्मादिक देवता और ऋषियों ने यह वृत्तान्त शिवजी से कहकर विनय की, कि आप ऐसा यत्न कीजिये जिससे इस ऋषि का नाचना बन्द हो जाय ॥११२।१२०॥

यह सुनकर महादेव जी प्रसन्न होकर उस ऋषि के पास गये और उससे कहने लगे—हे धर्मज्ञ महर्षि ! तुम क्यों नाच रहे हो और तुम्हारे हर्ष करने का क्या कारण है ? यह सुनकर वह ऋषि कहने लगा कि क्या तुमको यह शाकरस नहीं दीखता ? जो मुझ तपस्वी और धर्मज्ञ ऋषि के हाथ से टपका है। मैं इसी रस को देखकर, हर्षित होकर नाच रहा हूँ। यह सुनकर महादेव जी ने उस राग से मोहित हुए ऋषि से कहा कि मुझको इसमें कोई बात आश्चर्य की नहीं दीखती है और फिर चुटकी बजाई कि जिसके बजते ही उस भस्माक्षत से हिम के समान रस निकलने लगा। यह देखकर मंकणक

त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥१२७॥
त्वमेव सर्वान् ग्रससि पुनरेव युगक्षये ।
देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ॥१२८॥
त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ ।
सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्ता कारयिता च ह ॥१२९॥
त्वत्प्रसादात्सुराः सर्वे मोदन्तीहाऽकुतोभयाः ।
एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत् ॥१३०॥
त्वत्प्रसादान्महादेव तपो मे न क्षरेत वै ।
ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत् ॥१३१॥
तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात्सहस्रधा ।
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने ॥१३२॥
सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम् ।
न तेषां दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च ॥१३३॥
सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः ।
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥१३४॥
ततस्त्वौशनसं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१३५॥
कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसन्ध्यं किल भारत ।

ऋषि लज्जित होकर शिव जी के चरणों पर गिर पड़े और उनको सब से बड़ा जानकर उनकी स्तुति करने लगे—हे शूलधारी ! तुम इस सुर और असुररूपी जगत् की गति और सब चर और अचर जीवों के उत्पन्न करनेवाले हो । महाप्रलय के आने पर सब विश्व तुमहीं में लय हो जाता है । तुम्हारी महिमा को देवता भी नहीं जानते हैं मेरी तो क्या सामर्थ्य है । ब्रह्मादिक देवता के भी तुम ही कारण हो और जगत् के कर्ता और सब कर्मों के करानेवाले भी तुम ही हो ॥१२१।१३०॥

तुम्हारी ही कृपा से सब देवता आनन्दपूर्वक रहते हैं । अब आप मुझपर भी ऐसी कृपा कीजिये जिससे मेरा तप नाश न हो । यह सुनकर शिव जी प्रसन्न होकर बोले—हे ऋषि ! मेरी कृपा से तेरा तप सहस्र गुणित होकर बढ़ेगा और तेरे साथ मैं भी इस आश्रम में वास करूँगा और इस सारस्वत में जो मनुष्य स्नान करके मेरी पूजा करेगा उसको इस लोक और परलोक में कोई वस्तु मिलना दुर्लभ

सांनिध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया ॥ १३६ ॥
कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३७ ॥
अग्नितीर्थं ततो गच्छेत्तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १३८ ॥
विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति ॥ १३९ ॥
ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ १४० ॥
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नाऽस्त्यत्र संशयः ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १४१ ॥
पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ १४२ ॥
अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
यत्किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ॥ १४३ ॥
तत्सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत ।
अश्वमेधफलं चाऽस्य स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १४४ ॥

नहीं होगा और अन्त समय में उसको शाश्वत लोक निश्चय मिलेगा। यह कहकर महादेव जी वहीं अन्तर्द्धान हो गये ॥१३१।१३५॥

इस तीर्थ से फिर शुक्र के तीर्थ की यात्रा करे। जो तीनों लोकों में विख्यात है और जहां ब्रह्मादिक देवता और बड़े बड़े तपस्वी ऋषि और कार्त्तिकेय जी रहा करते हैं। वहीं कपालमोचन नाम तीर्थ भी है। उसमें स्नान करने से सब पाप दूर हो जाते हैं। इसके आगे अग्नि तीर्थ है। उसमें स्नान करने से मनुष्य के कुल का उद्धार होता है और उसको अग्निलोक मिलता है। वहीं विश्वामित्र का भी तीर्थ है जिसमें स्नान करने से मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है ॥१३६।१४०॥

वहां से चलकर ब्रह्मयोनि तीर्थ की यात्रा करे जिसमें स्नान करने से मनुष्य को ब्रह्मलोक मिलता है और उसकी सात पीढ़ियां पवित्र हो जाती हैं। इस तीर्थ के आगे पृथूदक नाम कार्त्तिकेय जी का तीर्थ है जो तीनों लोकों में विख्यात है। जो मनुष्य देवता और पितरों के पूजन में भक्ति रखते हैं वे इस तीर्थ में स्नान करने से स्त्री अथवा पुरुष कोई भी हो सब ज्ञान अथवा अज्ञान से किये हुए पापों से छूट जाते हैं और अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाकर

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात्सरस्वती ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥१४५॥
उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।
पृथूदके जप्यपरो नैव श्वो मरणं तपेत् ॥१४६॥
गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना ।
एवं सनियतं राजन्नभिगच्छेत्पृथूदकम् ॥१४७॥
पृथूदकात्तीर्थतमं नाऽन्यत्तीर्थं कुरूद्वह ।
तन्मेध्यं तत्पवित्रं च पावनं च न संशयः ॥१४८॥
तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः ।
पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः ॥१४९॥
मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥१५०॥
ततो गच्छेन राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम् ।
सरस्वत्यारुणायाश्च संगमं लोकविश्रुतम् ॥१५१॥
त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः ॥१५२॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ ।
अर्धकीलं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह ॥१५३॥

स्वर्गलोक पाते हैं। सब तीर्थों से बढ़कर कुरुक्षेत्र का माहात्म्य है। उससे अधिक सरस्वती का है। सरस्वती से अधिक सरस्वती के तीर्थों का है और उन तीर्थों से भी अधिक माहात्म्य पृथूदक तीर्थ का है। इससे यह तीर्थ सर्वोत्तम है। इसमें शरीर त्यागने से जप करनेवाला मनुष्य मरता नहीं है। पृथूदक का यह माहात्म्य व्यास जी और सनत्कुमार जी ने वर्णन किया है। इससे इस तीर्थ की यात्रा अवश्य करनी चाहिये। यह तीर्थ सन्देह रहित, पवित्र और पावन है और सब तीर्थों से बड़ा है। ज्ञानी लोग कहते हैं कि इस तीर्थ में स्नान करने से पापी मनुष्य को भी स्वर्गलोक मिलता है ॥१४१।१५०॥

वहीं मधुश्रव तीर्थ भी है। उसमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। यहां से चलकर मेध्य तीर्थ की यात्रा करे जहां सरस्वती और अरुणा नदियों का सङ्गम है। इसमें स्नान करने और तीन रात्रि बसने से मनुष्य ब्रह्म हत्या से छूट जाता है और अग्निष्टोम और अतिरात्र

विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ।
व्रतोपनयनाभ्यां चाऽप्युपवासेन वाऽप्युत ॥१५४॥
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ।
क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
चीर्णव्रतो भवेद्विद्वान्दृष्टमेतत्पुरातनैः ॥१५५॥
समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा ।
तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१५६॥
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम् ॥१५७॥
साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१५८॥
दानं वाऽप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ॥१५९॥
तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१६०॥
विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः ।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ॥१६१॥
ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।

यज्ञों के करने का फल पाता है और उसकी सात पीढ़ियें भी पवित्र हो जाती है। इसी तीर्थ के निकट अर्धकीलक नामी तीर्थ भी है, जिसको दर्भ ऋषि ने चारों समुद्र लाकर पहले समय में ब्राह्मणों पर कृपा करके निर्माण किया था। इसमें स्नान करने से क्रिया और मन्त्रहीन ब्राह्मण भी फिर ब्राह्मण्यता को पाता है। यह बात पुराने मनुष्यों ने देखी है। इसमें स्नान करनेवाले की दुर्गति नहीं होती है और मनुष्य को चार सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। वहीं पर सहस्रक और शत सहस्रक तीर्थ भी है। मनुष्य उनमें स्नान करने से सहस्र गोदान करने का फल पाता है ॥१५१।१६०॥

इन तीर्थों में दान और व्रत करने का भी फल सहस्र गुणा होता है। यहां से फिर रेणुका तीर्थ की यात्रा करे और उसमें देवता और पितरों के पूजन में प्रीति रखनेवाला यात्री स्नान करे ऐसा करने से मनुष्य की आत्मा शुद्ध हो जाती है और अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। फिर मनुष्य क्रोध

पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ॥ १६२ ॥
यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः ।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ॥ १६३ ॥
तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥ १६४ ॥
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा ।
तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ॥ १६५ ॥
कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ १६६ ॥
स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १६७ ॥
ततो गच्छेदनरकं तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १६८ ॥
तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते ।
अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमैः ॥ १६९ ॥
सान्निध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह ।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १७० ॥
तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम् ।

करना छोड़कर इन्द्रियों को अपने वश में करके विमोचन तीर्थ में जाकर स्नान करे उसमें स्नान करने से दान लेने का दोष दूर हो जाता है । वहा से फिर पञ्चवटी तीर्थ को जाय और ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होकर रहे। ऐसा करने से मनुष्य को सत्पुरुषों के लोक में आदर सहित वास मिलता है। इस स्थान पर श्री योगेश्वर शिव जी आप रहते हैं उनका पूजन करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है और वहीं तैजस नाम वरुण देवता का भी तीर्थ है, जहा ब्रह्मादिक देवता और तपस्वी ऋषियों ने स्वामि कार्तिक का देवताओं की सेना के सेनापति होने का अभिषेक किया था । उससे पूर्व की दिशा में कुरु तीर्थ है । इन दोनों में स्नान करने से और ब्रह्मचर्य और इन्द्रियों को जीतकर रहने से मनुष्य सब पापों से छूटकर पवित्र हो जाता है और अन्त समय पर उसको ब्रह्मलोक मिलता है । यहा से आगे स्वर्गद्वार तीर्थ की यात्रा करे जहा स्नान करने से मनुष्य को स्वर्ग और ब्रह्मलोक मिलता है । वहा से अनरक

अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥१७१॥
नारायणं चाऽभिगम्य पद्मनाभमरिन्दम ।
राजमानो महाराज विष्णुलोकं च गच्छति ॥१७२॥
तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः ॥१७३॥
ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१७४॥
पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥१७५॥
गङ्गाह्रदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां तस्मिन्कूपे महीपते ॥१७६॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं प्रपद्यते ।
आपगानां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम् ॥१७७॥
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततः स्थाणुवटं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१७८॥
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात् ।
बदरीपाचनं गच्छेद्वसिष्ठस्याऽऽश्रमं गतः ॥१७९॥

तीर्थ को जाय जिसमें स्नान करने से दुर्गति नहीं होती है ॥१६९।१७०॥

इस तीर्थ में ब्रह्मादिक देवता नारायण को आगे करके रहते हैं। वहीं रुद्रपत्नी तीर्थ भी है, जहां जाकर रुद्रपत्नी का ध्यान करने से मनुष्य की दुर्गति नहीं होती है और यहीं विश्वेश्वर उमापति और पद्मनाभ नारायण के भी तीर्थ हैं उनमें स्नान करने और शिव जी और नारायण की पूजा करने से मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है और अन्त समय में उसको विष्णुलोक मिलता है। यहां से फिर देवता के तीर्थ की यात्रा करे जहां स्नान करने से मनुष्य के सब दुःख दूर हो जाते हैं और उसकी चन्द्रमा की सी प्रभा हो जाती है। इस तीर्थ से तीर्थसेवी स्वस्तिपुर को जाय जिसकी परिक्रमा करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। और वहां से पावन तीर्थ को चला जाय जहां देवता और पितरों को तृप्त करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। इस तीर्थ के निकट गङ्गाकुण्ड और गङ्गाकूप है जहां तीन कोटि तीर्थ वास करते हैं। उनमें स्नान करने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है। इस तीर्थ के आगे आपगा तीर्थ है। वहां स्नान करने और महादेव जी की पूजा करने से मनुष्य गाणपत्य पद पाता

बदरीन्भक्षयेत्तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
सम्यग्द्वादश वर्षाणि बदरीन्भक्षयेत्तु यः ॥ १८० ॥
त्रिरात्रोपोषितस्तेन भवेत्तुल्यो नराधिप ।
रुद्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ॥ १८१ ॥
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते ।
एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः ॥ १८२ ॥
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १८३ ॥
आदित्यस्याऽऽश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम् ॥ १८४ ॥
आदित्यलोकं व्रजति कुल चैव समुद्धरेत् ।
सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥ १८५ ॥
सोमलोकमवाप्नोति नरो नाऽस्त्यत्र संशयः ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ॥ १८६ ॥
तीर्थं पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम् ।
यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ॥ १८७ ॥
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नाऽत्र संशयः ॥ १८८ ॥

है और अपने कुल का उद्धार करता है। वहा से फिर स्थाणुवट तीर्थ की यात्रा करे ॥१७१।१८०॥

जहा स्नान करने और रात्रि में वास करने से मनुष्य को रुद्रलोक मिलता है। वहा से बदरीपाचन नाम वशिष्ठ जी के आश्रम को जाय। वहा तीन रात्रि वास कर केवल बदरी फल अर्थात् बेर खाकर रहे। उस स्थान पर तीन रात्रि बेर खाने का फल और स्थानों पर बारह वर्ष बेर खाकर रहने के बराबर है। इस तीर्थ मे चलकर रुद्र मार्ग तीर्थ को जाय। जहा एक रात दिन उपवास करने से इन्द्रलोक मिलता है और वहा से एकरात्र तीर्थ में जाकर एक रात्रि वास करे ऐसा करनेवाले को ब्रह्मलोक मिलता है। यहा से फिर सूर्याश्रम तीर्थकी यात्रा करे जो तीनों लोकों में विख्यात है। यहा स्नान और सूर्य की पूजा करने से मनुष्य को सूर्यलोक मिलता है और उसके कुल का उद्धार हो जाता है। यहीं चन्द्र तीर्थ भी है उसमें स्नान करने से निस्सदेह उसे चन्द्रलोक मिलता है। इस तीर्थ के पीछे यात्री को दधीचि नामी महात्मा ऋषि के तीर्थ

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नियतो नियताशनः ॥१८९॥
लभेत्कन्याशतं दिव्यं स्वर्गलोकं च गच्छति ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं संनिहतीमपि ॥१९०॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महताऽन्विताः॥१९१॥
संनिहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत् ॥१९२॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च ।
नद्यो ह्रदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च ॥१९३॥
उदपानानि वाप्यश्च तीर्थान्यायतनानि च ।
निःसंशयममावास्यां समेष्यन्ति नराधिप ॥१९४॥
मासि मासि नरव्याघ्र संनिहत्यां न संशयः ।
तीर्थं सन्निहनादेव सन्निहत्येति विश्रुता ॥१९५॥
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते ।
अमावास्यां तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥१९६॥
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ।
अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत्फलम् ॥१९७॥

को जाना चाहिये जो तीनों लोकों में विख्यात पुण्यकारी पवित्र स्थान है और जहां बड़े तपस्वी अंगिरा ऋषि को सारस्वती गति प्राप्त हुई थी उस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को सारस्वती गति और अश्वमेघ यज्ञ करने का फल मिलता है ॥१८१।१९०॥

उसके पीछे कन्याश्रम तीर्थ को जाय और नियतासन ब्रह्मचर्य से वहां तीन रात्रि वास करे। ऐसा करने से मनुष्य को सौ दिव्य कन्या मिलती है और अन्त समय में वह स्वर्गलोक को जाता है। वहां से फिर सन्निहती तीर्थ की यात्रा करे। वहां ब्रह्मादिक देवता और बड़े बड़े तपस्वी ऋषि प्रत्येक महीने में आया करते हैं। इस तीर्थ में सूर्य ग्रहण में स्नान करने से सौ अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और पृथ्वी पर जो जो तीर्थ, नदी, कुण्ड, तड़ाग, झरने, बावली और देवताओं के स्थान हैं वे सब प्रति मास की अमावस्या को इस सन्निहती तीर्थ में आया करते हैं। इसी कारण से इस तीर्थ का नाम सन्निहती है। इस तीर्थ में स्नान करने से

स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धं च मानवः ।
यत्किञ्चिद्दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥१९८॥
स्नातमात्रस्य तत्सर्वं नश्यते नाऽत्र संशयः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१९९॥
अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम् ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य लभेद्बहुसुवर्णकम् ॥२००॥
गङ्गाहृदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ॥२०१॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ।
पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ॥२०२॥
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद्वायुना समुदीरिताः ॥२०३॥
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।
दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम् ॥२०४॥
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ।
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ॥२०५॥
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है और जो अमावस्या को सूर्यग्रहण में स्नान और श्राद्ध करे तो सहस्र अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाता है और स्त्री अथवा पुरुष कोई हो इस तीर्थ में स्नानमात्र करने से सब के सब पाप दूर हो जाते हैं और पद्मवर्ण के विमानों में बैठकर ब्रह्मलोक को जाते हैं ॥१९८।२०१॥

इसके उपरान्त मचक्रुक नाम यक्ष द्वारपाल को वन्दना करने और कोटितीर्थ में स्नान करने से बहुत सा सुवर्ण मिलता है। इसी तीर्थ के निकट गङ्गाकुण्ड तीर्थ भी है। मनुष्य उस तीर्थ में ब्रह्मचर्य से स्नान करने से राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने का फल पाता है। इस पृथ्वी पर नैमिष तीर्थ, आकाश में पुष्कर और तीनों लोकों में कुरुक्षेत्र बड़े तीर्थ हैं। इनमें से कुरुक्षेत्र का ऐसा माहात्म्य है कि पापी मनुष्य पर वहां की धूल भी हवा से उड़कर जा पड़े तो उसको परमगति प्राप्त होती है। इस कुरुक्षेत्र में दृषद्वती नदी के उत्तर और सरस्वती नदी के दक्षिण में जो मनुष्य रहते हैं उनका रहना स्वर्ग के तुल्य है और जो मनुष्य यह भी कहते हैं कि मैं कुरुक्षेत्र को जाऊँगा अथवा कुरुक्षेत्र में वास करूंगा वह भी सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। यह कुरुक्षेत्र ब्रह्मा जी की वेदी है और उसमें पुण्यात्मा मनुष्य और तपस्वी

ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ॥ २०६ ॥
तस्मिन्वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथंचन ॥ २०७ ॥
तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥ २०८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां त्र्यशीतितमोऽध्याय ॥ ८३ ॥

ऋषि रहते हैं। और वहां के रहनेवालों का किसी अवस्था में शोच करना उचित नहीं है और इस कुरुक्षेत्र में जिस स्थान पर तरन्तु, तारन्तु परशुराम जी के कुण्ड और चंचकुक का अन्तर है उसको समन्त पञ्चक नाम से ब्रह्मा जी की उत्तर वेदी कहते हैं ॥२०२।२०८॥

वनपर्व का तिरासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

पुलस्त्य उवाच— ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः ॥ १ ॥
तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धर्मशीलः समाहितः ॥ २ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनीते नाऽत्र संशयः ।
ततो गच्छेत राजन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम् ॥ ३ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति ।
सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ॥ ४ ॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किन्नराश्च महोरगाः ॥ ५ ॥

चौरासीवां अध्याय ॥ ८४ ॥

पुलस्त्य जी बोले—हे राजा भीष्म! उक्त तीर्थों की यात्रा करके धर्मतीर्थ की यात्रा करे जहां धर्मराज ने बड़ी तपस्या की थी और अपने नाम से उस स्थान को पुण्यतीर्थ बनाया था। धर्मात्मा मनुष्य उस तीर्थ में स्नान करने से निस्सन्देह अपनी सात पीढियों को पवित्र करता है। इसके उपरान्त ज्ञानपावन नाम तीर्थ को जावे। वहां स्नान करनेवाला मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञ के करने का फल पाता है और अन्तकाल में मुनिलोक को जाता है। वहां से फिर सौगन्धिक वन को चला जाय ॥१।४॥

जहां ब्रह्मादिक देवता, तपस्वी, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और महोरग आया करते हैं। उस वन में जाते ही मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं। वहां से आगे प्लक्षावा सरस्वती नाम से विख्यात

तद्वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ॥ ६ ॥
प्लक्षादेवी स्मृता राजन् पुण्यादेवी सरस्वती ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले ॥ ७ ॥
अर्चयित्वा पितृन्देवानश्वमेधफलं लभेत् ।
ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥
षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः ।
कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति ॥ ९ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत्पुरातने ।
सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयक्षां च भारत ॥ १० ॥
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ।
त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ११ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गाणपत्यं च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ॥ १२ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १३ ।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ॥ १४ ॥

एक नदी सब नदियों में उत्तम है। उसमें उस स्थान पर स्नान करने से जहा वल्मीक से जल निकलता है और देवता और पितरों का पूजन करने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। उसी स्थान पर ईशानाध्युषि नाम एक बड़ा दुर्लभ तीर्थ वल्मीक से कुछ दूर पर है। यहा स्नान करने से सहस्र गोदान और अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है ॥५।९॥

इस बात को पुराने लोगों ने देखा है और यही सुगन्धा, शतकुम्भा और पञ्चयक्षा नाम तीर्थ भी हैं उनमें स्नान करने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है और इन्हीं तीर्थों के निकट त्रिशूलखात नामी तीर्थ भी है। देवता और पितरों के पूजन में प्रीति रखनेवाले मनुष्य को उसमें स्नान करने से गाणपत्य पद मिलता है। वहा से शाकम्भरी देवी के बड़े दुर्लभ स्थान की यात्रा करे जो तीनों लोकों में विख्यात है। उस सुव्रता देवी ने सहस्र वर्ष तक शाक का अहार किया था और जो तपस्वी ऋषि उसके पास उसकी भक्ति के कारण से गये थे उनको भी उस देवी

ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः ।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ॥ १५ ॥
ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ १६ ॥
त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः ।
शाकाहारस्य यत्किंचिद्वर्षैर्द्वादशभिः कृतम् ॥ १७ ॥
तत्फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ।
ततो गच्छेत्सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १८ ॥
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत्पुरा ।
वरांश्च सुबहूँल्लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ॥ १९ ॥
उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत ।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ॥ २० ॥
त्वन्मुखं च जगत्सर्वं भविष्यति न संशयः ।
तत्राऽभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥ २१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ।
धूमावतीं ततो गच्छेत्त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ २२ ॥
मनसा प्रार्थितान्कामाँल्लभते नाऽत्र संशयः ।
देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप ॥ २३ ॥

ने शाक ही का भोजन कराया था इस कारण से उसका नाम शाकम्भरी विख्यात हुआ। जो मनुष्य इस देवी के स्थान पर जाकर शाक का आहार करके तीन रात्रि वास करता है उसको देवी की कृपा से बारह वर्ष तक शाक खाकर रहने का फल मिलता है। इस स्थान से तीर्थसेवी को सुवर्णाख्य तीर्थ की यात्रा करनी चाहिये जो तीनों लोकों में विख्यात है और जहां विष्णु ने शिव जी को प्रसन्न करने के लिये तपस्या की थी और देवताओं के बीच में बहुत से दुर्लभ वरदान पाये थे। इनमें से दो यह थे कि संसार में तुमको सब प्रियतर मानेंगे और सब जगत् तुमको प्रधान कर तुम्हारी पूजा करेगा। इस तीर्थ में जाकर शिव जी की पूजा करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और वह अन्तकाल में शिव जी का गण बनता है। यहां से फिर धूमावती तीर्थ को जाय जहां तीन रात्रि रहने से मनुष्य की सब मनोकामना पूरी होती हैं। इस स्थान से दक्षिण की ओर रथावर्त नामी तीर्थ है ॥१०।२३॥

तत्राऽरोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम् ॥ २४ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
धारां नाम महाप्राज्ञः सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ २५ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ॥ २६ ॥
स्वर्गद्वारेण यत्तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ॥ २७ ॥
पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २८ ॥
सप्तगंगे त्रिगङ्गे च शक्रावर्ते च तर्पयन् ।
देवान्पितॄंश्च विधिवत्पुण्ये लोके महीयते ॥ २९ ॥
ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३० ॥
कपिलावटं ततो गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३१ ॥
नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।

इसपर श्रद्धाधर्मी और जितेन्द्रिय होकर चढ़ने से शिव जी की कृपा से मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है। वहां से फिर धारा तीर्थ की यात्रा करे जो सब पापों को दूर करनेवाला है। उसमें स्नान करने से मनुष्य को शोक नहीं होता है और वहां से महापर्वत को नमस्कार करके गङ्गाद्वार तीर्थ को जावे जो स्वर्ग के द्वार के सदृश है। वहां स्नान करने से निस्सन्देह मनुष्य को कोटि तीर्थों में स्नान करने और पुण्डरीक यज्ञ करने का फल मिलता है और उसके कुल का उद्धार होता है। इस तीर्थ में एक रात्रि वास करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है और वहीं सप्तगङ्गा, त्रिगङ्गा और शक्रावर्त तीर्थ भी हैं। उनमें विधिपूर्वक तर्पण करने से मनुष्य को पुण्यलोक मिलता है। इसके आगे कनखल तीर्थ है। वहां स्नान करने और तीन रात्रि रहने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल और स्वर्गवास मिलता है ॥२४।३०॥

तीर्थसेवी वहां से कपिला वट की यात्रा करे जहां एक रात्रि वास करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इसके आगे कपिल नामी नागराज का उत्तम तीर्थ है। उसमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र कपिला दान करने का फल

तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ३२ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ॥ ३३ ॥
ततो ललितकं गच्छेच्छान्तनोस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः संगमे नरः ।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगन्धं लोकविश्रुतम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३६ ॥
रुद्रावर्तं ततो गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोके च गच्छति ॥ ३७ ॥
गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च सङ्गमे ।
स्नात्वाऽश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३८ ॥
भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि ।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ ३९ ॥
ततः कुब्जाम्रके गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४० ॥
अरुन्धतीवटं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।

मिलता है। यहां से फिर शन्तनु के ललितक नामी तीर्थ की यात्रा करे जहां स्नान करने से मनुष्य की दुर्गति नहीं होती। जो मनुष्य यमुना और गङ्गा के सङ्गम में स्नान करता है उसको दश अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और उसके कुल का भी उद्धार होता है। इस तीर्थ में स्नान करके यात्री को सुगन्ध तीर्थ को जाना चाहिये जहां जाने से मनुष्य सब पापों से छूटकर ब्रह्मलोक को जाता है ॥३१।३६॥

वहां से रुद्रावर्त तीर्थ की यात्रा करे जहां स्नान करने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है। गङ्गा और सरस्वती के संगम में जो मनुष्य स्नान करता है वह अश्वमेध यज्ञ करने के फल को पाकर स्वर्गलोक को जाता है और भद्र कर्णेश्वर तीर्थ में जाकर शिव जी की पूजा करने से मनुष्य की दुर्गति नहीं होती है किन्तु स्वर्गवास पाता है। वहां से कुब्जाम्रक तीर्थ की यात्रा करे जहां जाने से मनुष्य को स्वर्गलोक और सहस्र गोदान करने का फल मिलता है ॥३७।४०॥

सामुद्रकमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ४१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विंद्यात्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ४२ ॥
ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ४३ ॥
यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम् ।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ ४४ ॥
दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४५ ॥
सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद्बहु सुवर्णकम् ॥ ४६ ॥
अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४७ ॥
ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत ।
वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥ ४८ ॥
ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः ।
देवान्पितॄंश्चाऽर्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ॥ ४९ ॥

उसके पीछे ब्रह्मचर्य से रहकर यात्री अरुन्धती-वट को जाय और वहां सामुद्रक में स्नान करके तीन रात्रि रहे। ऐसा करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ और सहस्र गोदान करने का फल मिलता है और उसके कुल का भी उद्धार हो जाता है। इस तीर्थ से चलकर ब्रह्मावर्त तीर्थ को जाय और ब्रह्मचर्य से रहे ऐसा करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल और चन्द्रलोक मिलता है। वहां से यमुना प्रभव तीर्थ की यात्रा करे। वहां स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल और स्वर्ग-लोक प्राप्त होता है। इसके पीछे दर्वी संक्रमण तीर्थ को जाय जो तीनों लोकों में पूज्यनीय है। वहां स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल और स्वर्गलोक मिलता है। वहां से सिन्धुप्रभव तीर्थ को चला जाय जहां पांच रात्रि वास करने से मनुष्य को बहुत सा सुवर्ण मिलता है। इस तीर्थ से वेदी तीर्थ की यात्रा करे जिसका मार्ग कठिन है। वहां जाने से मनुष्य को स्वर्गलोक और अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। यहां से फिर ऋषिकुल्या और वासिष्ठ तीर्थ को जाय जहां वासिष्ठी को उलंघ कर जाने से तीनों वर्ण के मनुष्य ब्राह्मण हो जाते हैं। वहां स्नान और तर्पण करने से मनुष्य को ऋषि-

यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप ।
भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ५० ॥
गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ५१ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः ।
तत्र सन्ध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम् ॥ ५२ ॥
उपस्पृश्य च वै विद्यां यत्र तत्रोपपद्यते ।
महाश्रमे वसेद्रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ॥ ५३ ॥
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान् ।
षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ॥ ५४ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद्बहुसुवर्णकम् ।
दशाऽपरान्दश पूर्वान्नरानुद्धरते कुलम् ॥ ५५ ॥
अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम् ॥ ५६ ॥
अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत्पुरातनैः ॥ ५७ ॥
ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।

लोक मिलता है। इस तीर्थ में मनुष्य को शाक खाकर एक मास रहना चाहिये। वहां से भृगुतुङ्ग पर्वत पर जाने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है ॥४१।५०॥

और वहां से प्रमोक्ष तीर्थ में जाकर स्नान करने से सब पाप दूर हो जाते है। जो मनुष्य इस तीर्थ में कृत्तिका और मघा नक्षत्र में स्नान करता है उसको अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों के करने का फल मिलता है और वहां से विद्या तीर्थ को जाकर जो कोई सन्ध्या समय में स्नान करता है उसको जो विद्या वह चाहे सो ही मिलती है। यहां से चलकर महाआश्रम में एक रात्रि वास करे जो सब पापों का दूर करनेवाला है। यहां जो कोई एक काल उपवास करता है उसको शुभ लोक मिलते हैं और उसके दश अगले और दश पिछले पुरुषा तर जाते हैं। इस तीर्थ से चलकर वेतसिका तीर्थ की यात्रा करे जहां ब्रह्मा जी रहा करते हैं वहां जाने से शुक्र की भी गति और अश्वमेध करने का फल मिलता है। वहा से सुन्दरिका तीर्थ को जाय जहां सिद्ध लोग रहा करते हैं। वहां स्नान करने से मनुष्य को सुन्दर स्वरूप मिलता है इस बात को पुराने लोगों ने देखा है। इस तीर्थ से फिर ब्रह्मचारी और जित-

पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ५८ ॥
ततस्तु नैमिषं गच्छेत्पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह ॥ ५९ ॥
नैमिषं मृगयाणस्य पापस्याऽर्धं प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥
तत्र मासं वसेद्धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे ॥ ६१ ॥
कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः ।
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥ ६२ ॥
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम ।
यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ॥ ६३ ॥
स मोदेत्सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यं मेध्यं च पुण्यं च नैमिषं नृपसत्तम ॥ ६४ ॥
गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत्सदा ॥ ६५ ॥
सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नाऽत्र संशयः ॥ ६६ ॥

न्द्रिय होकर ब्राह्मणी तीर्थ को जाय । वहां स्नान करने से मनुष्य पद्मवर्ण विमान में बैठकर ब्रह्मलोक को जाता है । वहां से नैमिष तीर्थ की यात्रा करे जहां सिद्ध लोग और ब्रह्मादिक देवता सदा रहा करते हैं । इस तीर्थ को ढूँढनेवाले के आधे पाप और जानेवाले के सब पाप दूर हो जाते हैं ॥५९।६०॥

इस तीर्थ में सब पृथ्वी के तीर्थ बसते हैं । जो तीर्थसेवी यहां एक मास वासकर इस तीर्थ में स्नान करता है उसको गोमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और जो यात्री के वहीं ही प्राण छूट जावें तो उसकी सात पीढ़ियां पवित्र हो जाती हैं और वह मनुष्य सब लोकों में आनन्दपूर्वक वास करता है । ज्ञानी लोग इस तीर्थ को बड़ा पवित्र और पुण्यतीर्थ कहते हैं । वहां से गङ्गोद्भव तीर्थ को जावे जहां तीन रात्रि वास करने से मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है और अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाता है । इसके आगे सारस्वती तीर्थ है उसमें स्नान और तर्पण करने से मनुष्य सारस्वती तीर्थ में जाकर आनन्दपूर्वक वास करता है । वहां से बाहुदा तीर्थ की यात्रा करे जहां ब्रह्मचर्य से एक रात्रि वास करने से मनुष्य को स्वर्गलोक प्राप्त होता है और देवसत्र करने का फल पाता है । वहां से क्षीरवती तीर्थ को जाय जहां बड़े बड़े

ततश्च वाहुदां गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ॥ ६७ ॥
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव ।
ततः क्षीरवतीं गच्छेत्पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम् ॥ ६८ ॥
पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात ।
विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६९ ॥
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ।
गोप्रतारं ततो गच्छेत्सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥ ७० ॥
यत्र रामो गत. स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ।
देहं त्यक्त्वा महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥ ७१ ॥
रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ॥ ७२ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ॥ ७३ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुल नरः ।
शतसाहस्रक तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशन· ।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥ ७५ ॥

पुण्यात्मा ऋषि रहते है । वहा जाने से देवता और पित्रों की भक्ति करनेवाले मनुष्य को वाजपेय यज्ञ के करने का फल मिलता है । उसके आगे विमला शोक तीर्थ है जहा ब्रह्मचर्य से एक रात्रि वास करने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता हे । वहा से गोमतार नाम सरयू के उत्तम तीर्थ की यात्रा करे ॥ ६९।७० ॥

जहा पर रामचन्द्र जी अपने भृत्य, सेना और वाहनों सहित देह त्यागकर उस तीर्थ के प्रभाव से स्वर्गलोक को गये थे । उस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को रामचन्द्र जी की कृपा से स्वर्गलोक मिलता है और सब पापों से छूटकर पवित्र हो जाता है । वहा से चलकर गोमती नाम रामचन्द्र जी के तीर्थ में स्नान करे जिसमें एक लाख तीर्थ रहते है । वहा स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ और सहस्र गोदान करने का फल मिलता है और उसका कुल पवित्र हो जाता है । वहा से भर्तृस्थान तीर्थ को जाय जहा स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है । वहा से कोटि तीर्थ की यात्रा करे जहा

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ७६ ॥
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप ।
गोसहस्रफलं विद्यात्तेजस्वी च भवेन्नरः ॥ ७७ ॥
ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ।
कपिलाह्रदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात् ॥ ७८ ॥
अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
दर्शनाद्देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ ७९ ॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः ।
मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥ ८० ॥
गोमतीगङ्गयोश्चैव सङ्गमे लोकविश्रुते ।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ८१ ॥
ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ८२ ॥
तत्राऽक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते ॥ ८३ ॥
महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।

स्नान और स्वामी कार्त्तिक की पूजा करने से मनुष्य तेजस्वी हो जाता है और सहस्र गोदान करने का फल पाता है। वहां से वाराणसी तीर्थ को जाय जहां शिव जी की पूजा और कपिलकुण्ड में स्नान करने से मनुष्य को राजसूय यज्ञ करने का फल मिलता है। इसके पीछे अविमुक्त तीर्थ को जाय जहां शिव जी का दर्शन करने से मनुष्य ब्रह्महत्या से छूट जाता है और वहां प्राण छूट जाने से मनुष्य की मोक्ष हो जाती है। इसके उपरान्त मार्कण्डेय जी के दुर्लभ तीर्थ की यात्रा करे जहां गोमती और गङ्गा के सङ्गम में स्नान करने से मनुष्य के कुल का उद्धार हो जाता है और अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल पाता है॥७१।८१॥

वहां से गया को चला जाय। जहां ब्रह्मचर्य होकर जाने से मनुष्य के कुल का उद्धार अच्छी तरह हो जाता है और अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाता है। वहीं अक्षयवट तीर्थ भी है जहां लोग यह कहते हैं कि पितरों को जो कुछ दिया जाता है वह कभी कम नहीं होता है। और वहीं महानदी भी है जिसमें स्नान और तर्पण करने से मनुष्य के कुल का उद्धार हो जाता है और उसको अक्षयलोक मिलते हैं। वहां से धर्मारण्य में ब्रह्मसर तीर्थ की यात्रा करे जहां जाने से मनुष्य को ब्रह्मलोक मिलता है। इस

अक्षयान्प्राप्नुयाल्लोकान्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ८४ ॥
ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ॥ ८५ ॥
ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपश्रेष्ठः समुच्छ्रितः ।
यूपं प्रदक्षिणीकृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥ ८६ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम् ।
एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत्तिलधेनुकाम् ॥ ८७ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद् ध्रुवम् ।
तत्र चिह्नं महद्राजन्नद्यापि सुमहद्भृशम् ॥ ८८ ॥
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम् ।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥ ८९ ॥
तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम ।
यत्किंचिदशुभं कर्म तत्प्रणश्यति भारत ॥ ९० ॥
ततो गृध्रवटं गच्छेत्स्थानं देवस्य धीमतः ।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ॥ ९१ ॥
ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम् ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ॥ ९२ ॥
उद्यन्तं च ततो गच्छेत्पर्वतं गीतनादितम् ।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ॥ ९३ ॥

सरोवर में ब्रह्मा जी ने एक श्रेष्ठ और ऊँचा यज्ञस्तम्भ खड़ा किया है उसकी परिक्रमा करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है । इस तीर्थ के पीछे धेनुक तीर्थ को जाय और वहां एक रात्रि वसकर तिल, धेनु का दान करे ऐसा करने से मनुष्य निश्चय सब पापों से छूटकर पवित्र हो जाता है और चन्द्रलोक में वास करता है। इस तीर्थ में अब भी पर्वत में घूमती हुई बछड़ा सहित कपिला के खुरों के चिह्न बने हुये हैं उनपर स्नान करने से मनुष्य के सब किये हुये अशुभ कर्म नाश हो जाते हैं । वहा से गृद्धवट तीर्थ को चला जाय वहा शिव जी की पूजा करने से और देह में भस्म लगाने से ब्राह्मण को बारहचीर्ण व्रत करने का फल मिलता है और अन्य वर्ण के मनुष्यों के सब पाप दूर हो जाते हैं ॥८२।९२॥

वहां से उद्यत नाम पर्वत की यात्रा करे जो गीतों से नादित है और जहा सावित्रि के चरणों के चिह्न दिखाई

तत्र सन्ध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तेन ह्युपास्ता भवति सन्ध्या द्वादशवार्षिकी ॥ ९४ ॥
योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ ।
तत्राऽभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसंकटात् ॥ ९५ ॥
कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः ।
पुनात्यासप्तमं राजन् कुलं नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ ९६ ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ ९७ ॥
ततः फल्गुं व्रजेद्राजंस्तीर्थसेवी नराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत् ॥ ९८ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः ।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥ ९९ ॥
तत्र कूपोदकं कृत्वा तेन स्नातः शुचिस्तथा ।
पितॄन्देवांस्तु संतर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत् ॥ १०० ॥
मतङ्गस्याऽऽश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः ।
तं प्रविश्याऽऽश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम् ॥ १०१ ॥
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
धर्मं तत्राऽभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥ १०२ ॥

देते हैं वहांपर जो ब्राह्मण सन्ध्योपासन करता है उसको बारहवर्ष सध्योपासन करने का फल मिलता है । वहीं योनिद्वार तीर्थ भी है उसमें स्नान करने से मनुष्य फिर योनि में जन्म नहीं लेता है। गया में जो मनुष्य कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षों में वास करता है उसकी सात पीढ़िया निस्सदेह पवित्र हो जाती हैं। ससार में मनुष्य बहुत से पुत्र इसी इच्छा से चाहा करते हैं कि इन में से कोई तो ऐसा होगा जो गया अथवा वृषोत्सर्ग या अश्वमेध यज्ञ करेगा। इसके पीछे यात्री फल्गू तीर्थ की यात्रा करे जहा जाने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है । वहा से धर्मप्रस्थ तीर्थ को जाय जहा धर्मराज सदा रहा करते है। वहा कुएँ के जल से स्नान और तर्पण करने से मनुष्य पापों स छूट जाता है और स्वर्गलोक पाता है॥९३।१००॥

वहीं मतङ्ग ऋषि का भी आश्रम है उसमें जाने से मनुष्य को गवामय यज्ञ करने का फल मिलता है जो धर्मराजा पूजन करता है वह वाजिमेध यज्ञ करने का फल पाता है । इसके उपरान्त मनुष्य ब्रह्मा

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम् ।
तत्राऽभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुपर्षभ ॥१०३॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दाति मानवः ।
तनो राजगृहं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ॥१०४॥
उपस्पृश्य ततस्तत्र कक्षीवानिव मोदते ।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुपः शुचिः ॥१०५॥
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०६॥
तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत ।
दष्टस्याऽशीविपेणापि न तस्य क्रमते विपम् ॥१०७॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम् ॥१०८॥
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम् ।
अभिगत्वाऽऽश्रमं राजन् विन्दते श्रियमात्मनः ॥१०९॥
तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिपु लोकेपु विश्रुतम् ।
तत्राऽभिपेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥११०॥
जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः ।
तत्राऽभिपेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१११॥

जी के तीर्थ में जाय और ब्रह्मा जी का पूजन करे एसा करनवाले को राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने का फल मिलता है। वहा से राजगृह तीर्थ को चला जाय। जहा स्नान करने से मनुष्य काक्षीवान् राजा का सा सुख पाता है। वहीं एक यक्षिणी भी है उसको भोजन कराने से मनुष्य उसकी कृपा से ब्रह्महत्या से छूट जाता है। वहा से मणिनाग तीर्थ को जाय जहा जाने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इस मणिनाग तीर्थ के जल को पीने से मनुष्य को सर्प के काटने का विष नहीं चढ़ता है और वहा एक रात्रि रहने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इसके पीछे तीर्थसेवी गौतम ब्रह्मर्षि के वन की यात्रा करे। जहा अहल्या के कुण्ड में स्नान करने से परमगति और लक्ष्मी मिलती है। उसी वन में एक उपदान भी है जो तीनों लोकों में विख्यात् है उसमें स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है॥१०१।११०॥

इसके आगे राजऋषि जनक का कूप है उस

ततो विनशनं गच्छेत्सर्वपापप्रमोचनम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥११२॥
गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥११३॥
ततो विशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११४॥
ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम् ।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नाऽत्र संशयः ॥११५॥
कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११६॥
अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य नराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥११७॥
दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप ।
न दुर्गतिमवाप्नोतिवाजिमेधं च विन्दति ॥११८॥
अथ सोमपदं गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
माहेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥११९॥
तत्र कोटी तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ ।

पर स्नान करने से मनुष्य विष्णुलोक को जाता है। वहा से विनशन नामी पापों के दूर करनेवाले तीर्थ की यात्रा करे उसमें स्नान करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है और वह चन्द्रलोक को जाता है। वहा से चलकर गण्डकी नदी में स्नान करे जो सब तीर्थों के जल से उत्पन्न हुई है। उसमें स्नान करने से मनुष्य वाजपेय यज्ञ करने का फल पाता है और सूर्यलोक को जाता है। इसके पीछे विशल्या नदी पर जाय जो तीनों लोकों में विख्यात् है, उसमें स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है और स्वर्गलोक को जाता है। वहा से धिवग नाम तपावन में जाय जहा जाने से मनुष्य गुह्यकों में आनन्दपूर्वक वास पाता है। इसके आगे कम्पना नदी की यात्रा करे जहा सिद्ध लोग रहा करते हैं वहा स्नान करने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है और पुण्डरीक यज्ञ करने का फल पाता है। वहा से माहेश्वरी धारा को जाय जिसमें स्नान करने से कुल का उद्धार होता है और मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है। इसके उपरात देवताओं की पुष्करिणी में जाकर स्नान करे जिसमें स्नान करने से मनुष्य की दुर्गति नहीं होती है और वह वाजपेय यज्ञ करने का फल पाता है। वहा से ब्रह्मचर्य के साथ सोमपद

कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना ॥१२०॥
ह्रियमाणा हृता राजन् विष्णुना प्रभविष्णुना ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर ॥१२१॥
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च ॥१२२॥
सदा संनिहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१२३॥
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते ।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः ॥१२४॥
अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥१२५॥
तत्रोपदानं धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनम् ।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे संनिहिताः सदा ॥१२६॥
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।
अभिगम्य महादेवं वरदं रुद्रमव्ययम् ॥१२७॥
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप ।
जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः ॥१२८॥

के तीर्थ को जाय जहां माहेश्वर पद में स्नान करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है ॥११११९॥

वहीं कोटि तीर्थ भी है जिसको एक दुरात्मा असुर कछुए के रूप से हर ले गया था और श्रीविष्णु-भगवान् ने उस असुर को मारकर उस तीर्थ को स्थापित किया था उस तीर्थ में स्नान करने से विष्णु-लोक को जाता है और पुण्डरीक यज्ञ करने का फल पाता है। वहां से चलकर नारायण स्थल को जावे। जहा विष्णुभगवान् आप बसते हैं और ब्रह्मादिक देवता, बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि, बारहों सूर्य, आठों वसु, और ग्यारहों रुद्र उनकी सेवा किया करते हैं। उस स्थान पर विष्णुभगवान् शालिग्राम नाम से प्रसिद्ध हैं। उन त्रिलोकीनाथ वरदाता और अव्यय विष्णु के दर्शन करने से मनुष्य विष्णुलोक और अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाता है। वहीं पर एक सब पापों का दूर करनेवाला कुआँ भी है जिसमें चारों समुद्र रहते है। उस कुएँ पर स्नान करने से मनुष्य की दुर्गति नहीं होती है और वहां अव्यय और वरदाता शिव जी का ध्यान करने से मनुष्य अन्धकार से निकलकर ऐसा शोभित हो जाता है जैसा बादलों के हट जाने से चन्द्रमा शोभायमान दीखता है। वहां से चलकर

जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः ।
माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ॥१२९॥
ईप्सितांल्लभते कामानुपवासान्न संशयः ।
ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३०॥
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।
कुशिकस्याऽऽश्रमं गच्छेत्सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३१॥
कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम् ।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥१३२॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३३॥
अथ ज्येष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३४॥
तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम् ।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ॥१३५॥
त्रिरात्रोपोषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः ॥१३६॥
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ।
कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत ॥१३७॥

यात्री जातिस्मर तीर्थ में जाकर स्नान करे। जिसमें स्नान करने से मनुष्य को जातिस्मरत्व अर्थात् पूर्व जन्म का स्मरण मिलता है वहां से माहेश्वरपुर की यात्रा करे जहां शिव जी की पूजा और व्रत करने से मनुष्य की इच्छानुसार कामना निस्संदेह पूर्ण होती है। इसके पीछे वामन तीर्थ को जाय ॥१२०।१३०॥

जहां विष्णु का ध्यान करने से मनुष्य की दुर्गति नहीं होती है। वहां से कुशिकाश्रम की यात्रा करे। जहां सब पापों के नाश करनेवाली कौशिकी नाम नदी है उसमें स्नान करने से मनुष्य को राजसूय यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से चम्पकारण्य को जाय, जहां एक रात्रि वास करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। और यही फल ज्येष्ठिल नाम तीर्थ में भी एक रात्रि वास करने से मिलता है और वहां उमा महेश्वर के दर्शन करने से मनुष्य को मित्रावरुण का लोक मिलता है। और जो उस स्थान पर तीन रात्रि वास करता है वह अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल पाता है। वहां से कन्या संवेद तीर्थ को जाने

तदक्षय्यमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः ।
ततो निर्वीरमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१३८॥
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।
ये तु दानं प्रयच्छन्ति निर्वीरासंगमे नराः ॥१३९॥
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम् ।
तत्राऽऽश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥१४०॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात् ।
देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥१४१॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम् ॥१४२॥
यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।
तत्र मासं वसेद्वीर कौशिक्यां भरतर्षभ ॥१४३॥
अश्वमेधस्य यत्पुण्यं तन्मासेनाऽधिगच्छति ।
सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे ॥१४४॥
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ।
कुमारमभिगम्याऽथ वीराश्रमनिवासिनम् ॥१४५॥
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नाऽस्त्यत्र संशयः ।

से मनुष्य मनु प्रजापति के लोक को जाता है और तीक्ष्ण व्रत करनेवाले ऋषि कहते है कि जो कोई उस तीर्थ में थोड़ा सा भी दान करता है वह अक्षय बना रहता है। इसके पीछे निर्वीर तीर्थ की यात्रा करे जो तीनों लोकों में विख्यात है। वहां जाने से मनुष्य को विष्णुलोक और अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और जो कोई निर्वीर के संगम पर दान करता है उसको इन्द्रलोक मिलता है। इस तीर्थ के आगे वशिष्ठ जी का आश्रम है जो तीनों लोकों में विख्यात् है। ॥१३१।१४०॥

वहां स्नान करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से ब्रह्मकूट तीर्थ की यात्रा करे जहां ब्रह्मर्षि रहा करते हैं। वहां जाने से मनुष्य के कुल का उद्धार हो जाता है और उसको अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। इसके पीछे कौशिकमुनि के कुण्ड को जाय जहां पर कुशिकवंशी विश्वामित्र ने बड़ी सिद्धी पाई थी। वहां कौशिकी पर एक महीना रहने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और उस श्रेष्ठ कुंड पर वास करने से मनुष्य को सुवर्ण मिलता है और उसकी दुर्गति नहीं होती है वहां से चलकर उन कुमारों के दर्शन करे जो वीराश्रम में रहते हैं उनके दर्शन करने से

अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥ १४६ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ।
अभिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम् ॥ १४७ ॥
पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः ।
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ॥ १४८ ॥
पितामहस्य सरसः प्रस्नुता लोकपावनी ।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १४९ ॥
यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति ।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १५० ॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः ।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १५१ ॥
समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत् ।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत् ॥ १५२ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ॥ १५३ ॥
ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १५४ ॥

मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल निस्सन्देह मिलता है। वहां से अग्निधारा नाम तीर्थ की यात्रा कर। वहां स्नान और वरदाता शिव और अविनाशी विष्णु की पूजा करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से पर्वतराज के पास ब्रह्मा जी के सरोवर पर जाय जहां स्नान करके मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल पाता है। वहीं पर ब्रह्मा जी के सरोवर से एक धारा निकलती है जिसको कुमारधारा कहते हैं और जो कि लोक को पवित्र करने वाली और तीनों लोकों में विख्यात है। उसमें स्नान करने से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है और वहां छ काल व्रत रखने से ब्रह्महत्या से छूट जाता है ॥१४९।१५०॥

तीर्थसेवी को वहां से महादेवी गौरी के शिखर की यात्रा करनी चाहिये जो तीनों लोकों में विख्यात है। उस शिखर पर चढ़कर स्तनकुण्ड में स्नान करने से मनुष्य को वाजपेय और हयमेध यज्ञों के करने का फल मिलता है और अन्त समय में इन्द्रलोक को जाता है। वहां से ताम्रारुण तीर्थ पर जाने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और वह ब्रह्मलोक को जाता है। और वहीं नन्दिनी तीर्थ भी है। उसमें एक कूआँ है जिसपर देवता बने रहते हैं उस कुएँ पर जाने से मनुष्य को नरमेध यज्ञ करने

नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम् ।
नरमेधस्य यत्पुण्यं तदाप्नोति नराधिप ॥१५५॥
कालिकासङ्गमे स्नात्वा कौशिक्यरुणयोर्गतः ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१५६॥
उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः ।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः ॥१५७॥
कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत्पुरातनैः ॥१५८॥
प्राङ्नदीं च समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति ॥१५९॥
ऋषभद्वीपमासाद्य मेध्यं क्रौंचनिषूदनम् ।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते ॥१६०॥
औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम् ।
तत्राऽभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६१॥
धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥१६२॥
अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ।
दण्डार्कमभिगत्वा तु गोसहस्रफलं लभेत् ॥१६३॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४॥

का फल मिलता है। और कालिका के सङ्गम में स्नान करके कौशिकी और अरुण नाम नदियों के मध्य में तीन रात्रि रहने से मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं। और जो कोई उर्वशी के तीर्थ की यात्रा करता हुआ सोमाश्रम और कुम्भकर्ण के आश्रम को जाता है वह जगत् में पूजित होकर रहता है। पुराने लोगों ने यह भी देखा है कि कामुख नामी तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को पूर्वजन्म का स्मरण हो जाता है। जो कोई ब्राह्मण शक्रनन्दा तीर्थ को जाता है उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह सब पापों से छूटकर इन्द्रलोक को जाता है। इन तीर्थों की यात्रा करने पर जो कोई ऋषभद्वीप में मेध्य, क्रौंच और निषूद नामी तीर्थों में जाकर सरस्वती में स्नान करता है उसको चढ़ने को विमान मिलता है ॥१५१।१६०॥

वहीं औद्दालक तीर्थ भी है जहां मुनि लोग रहा करते हैं उसमें स्नान करने से मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं। और वहीं जो धर्म नामी पुण्यमय

तीर्थ जहां ब्रह्मर्षि बसते हैं उसमें स्नान करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल और चढ़ने को विमान मिलता है। वहां से गङ्गा जी के चम्पा नामी तीर्थ में स्नान करके दण्डार्थ तीर्थ की यात्रा करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इसके पीछे ललीतिका तीर्थ में जाकर स्नान करे जो परम-पुण्यद तीर्थ है वहां स्नान करने से मनुष्य राजसूय यज्ञ करने का फल पाता है और उसे चढ़ने के लिये विमान मिलता है ॥१६१।१६३॥

वनपर्व का चौरासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

अथ पञ्चशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

पुलस्त्य उवाच—अथ सन्ध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम् ।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नाऽत्र संशयः ॥ १ ॥
रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन् कृतं पुरा ।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ २ ॥
करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः ॥ ३ ॥
गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च संगमे ।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४ ॥
गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः ।
त्रिरात्रमुषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥
ततो वैतरणीं गच्छेत्सर्वपापप्रमोचनीम् ।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ॥ ६ ॥

पच्चासीवां अध्याय ॥ ८५ ॥

पुलस्त्य जी बोले—हे भीष्म ! जो मनुष्य सन्ध्या समय में संवेद्य नामी तीर्थ में जाकर स्नान करता है उसको निस्सन्देह विद्या प्राप्त होती है। वहां से लौहित्य तीर्थ की यात्रा करे जिसको पहले समय में श्रीराम ने स्थापित किया था। उसमें स्नान करने से मनुष्य को सुवर्ण मिलता है। इसके पीछे करतोया तीर्थ में जाकर तीन रात्रि वास करे। वहां वास करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से यात्री गङ्गा और सागर के सङ्गम में जाकर स्नान करे जहां स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का दश गुणा फल मिलता है। और जो कोई तीर्थसेवी गङ्गा के अपरम्पार तीर्थ में स्नान करके वहां तीन रात्रि वास करता है उसके सब पाप दूर हो जाते हैं ॥१।५॥

वहां से चलकर वैतरणी नदी पर जावे और वहां विरज नाम तीर्थ में स्नान करे। ऐसा करने से

प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति ।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः ॥ ७ ॥
शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः संगमे नियतः शुचिः ।
तर्पयित्वा पितृन्देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ८ ॥
शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभेदे कुरुनन्दन ।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ९ ॥
ऋषभं तीर्थमासाद्य कोशलायां नराधिप ।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १० ॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात्कुलं चैव समुद्धरेत् ।
कोशलां तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत् ॥ ११ ॥
वृष भैकादशफलं लभते नाऽत्र संशयः ।
पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १२ ॥
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप ।
ततो बदरिकातीर्थे स्नात्वा भरतसत्तम ॥ १३ ॥
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।
तथा चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ॥ १४ ॥
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ।

मनुष्य की कान्ति चन्द्रमा की सी हो जाती है। यह तीर्थ सब पापों का दूर करनेवाला है और वहा जाने से मनुष्य के कुल का उद्धार हो जाता है और उसको सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। वहा से शोनि और ज्योतिरथ्य नदियों के सङ्गम में जाकर स्नान और तर्पण करे वहा ऐसा करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। और नर्मदा और शोनि नदियों के वंश गुल्म अर्थात् निकास के स्थान पर स्नान करने से मनुष्य को वाजिमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। वहा से कौशला देश के ऋषभ तीर्थ में स्नान और तीन रात्रि वास करने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है ॥९।१०॥

और उसके कुल का भी उद्धार हो जाता है और सहस्र गोदान करने का फल पाता है। उसी देश मे काल तीर्थ भी है उसमें स्नान करने से मनुष्य को निस्सन्देह ग्यारह वृषभ छोड़ने का फल मिलता है और उसके आगे पुष्पवती तीर्थ है उसमें स्नान और तीन रात्रि वास करने से मनुष्य का कुल पवित्र हो जाता है और वह सहस्र गोदान करने का फल पाता है। वहा से चलकर बदरिका तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य की आयु बड़ी हो जाती है और अन्त समय

लपेटिकां ततो गच्छेत्पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ॥ १५ ॥
वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते ।
ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम् ॥ १६ ॥
रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।
मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ॥ १७ ॥
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ।
श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत् ॥ १८ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम् ।
श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ॥ १९ ॥
न्यवसत्परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥ २० ॥
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति ।
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्ये देवतपूजितम् ॥ २१ ॥
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ।
ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २२ ॥

स्वर्गलोक जाता है। फिर गंगा जी के चम्पा तीर्थ में स्नान करने के दण्डारण्य तीर्थ में जाने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। यहां से लपेटिका नामी पुण्यतीर्थ की यात्रा करे। जहां जाने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल मिलता है और वह देवताओं में पूज्य होता है इसके पीछे यात्री महेन्द्र पर्वत की यात्रा करे जहां श्री परशुराम जी रहा करते हैं ॥११।१६॥

वहां राम तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। वहीं केदार नामी मतङ्ग ऋषि का तीर्थ भी है। उसमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। यहां से यात्री श्रीपर्वत पर जाय जहां नदी में स्नान करके शिव जी का पूजन करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। इस पर्वत पर उमा सहित महादेव जी और देवताओं सहित ब्रह्मा जी सदा रहते हैं। वहां देवकुण्ड में स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और परमसिद्धि प्राप्त होती है। यहां से ऋषभ पर्वत पर जाय जो देवताओं से पूजित है। वहां जाने से मनुष्य को वाजपेय यज्ञ करने का फल और स्वर्गलोक मिलता है। इसके पीछे कावेरी नदी की यात्रा करे जहां अप्सराओं के गण विचरा करते हैं वहां स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है ॥१७।२२॥

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत् ।
तत्तोयं स्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥
अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ २४ ॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः ॥ २५ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा ।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ॥ २६ ॥
तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ॥ २७ ॥
उष्य द्वादशरात्रं तु पूतात्मा च भवेन्नरः ।
तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ॥ २८ ॥
त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ।
निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ॥ २९ ॥
गायत्रीं पठते यस्तु योनिसङ्करजस्तथा ।
गाथा च गाथिका चापि तस्य संपद्यते नृप ॥ ३० ॥
अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति ।

और वहां से समुद्र के तीर पर कन्या तीर्थ में जाकर स्नान करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। वहां से समुद्र में गोकर्ण तीर्थ को जाय जो तीनों लोकों में विख्यात् और सब लोकों से नमस्कृत है और जहां ब्रह्मादिक देवता, तपस्वी, ऋषि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, महोरग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व मनुष्य, पन्नग, नदी, सागर, और पर्वत सब शिव जी का आराधन किया करते हैं। वहां शिव जी की पूजा करने और तीन रात्रि रहने से मनुष्य अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाता है और शिव जी का गण हो जाता है और दश रात्रि वास करने से मनुष्य की आत्मा पवित्र हो जाती है। इस तीर्थ के आगे गायत्री का स्थान है जो तीनों लोकों में पूजित है ॥२३।२८॥

वहां तीन रात्रि वास करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। इस गायत्री के महात्म्य का प्रत्यक्ष प्रमाण ब्राह्मण है जो उसके पाठ करने के प्रभाव से कैसी सामर्थ्य रखते हैं और जो अब्राह्मण अथवा वर्णसंकर इसका पाठ करता है उसका वह पाठ करना फलीभूत नहीं होता है किन्तु ग्राम के गीत गाने के समान होता है। इस स्थान से चलकर संवर्त्त नामी ब्रह्मर्षि की बावली को जाय

संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ॥ ३१ ॥
रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजायते ।
ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ३२ ॥
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः ।
ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ॥ ३३ ॥
गवां मेधमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम् ।
वेणायाः संगमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ३४ ॥
वरदासंगमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ३५ ॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात्स्वर्गलोकं च गच्छति ।
कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ३६ ॥
त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।
ततो देवहृदेऽरण्ये कृष्णवेणाजलोद्भवे ॥ ३७ ॥
जातिस्मरहृदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः ।
यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ॥ ३८ ॥
अग्निष्टोमफलं विन्द्याद्गमनादेव भारत ।

वहां जाने से मनुष्य स्वरूपवान् और ऐश्वर्यवान् हो जाता है। इसके आगे वेणा नामी तीर्थ है जहां तीन रात्रि वास करने से मनुष्य को मोर और हंस पक्षियों से युक्त विमान मिलता है। वहां से फिर गोदावरी की यात्रा करे जहां सिद्ध लोग सदा रहा करते हैं। वहां स्नान करने से मनुष्य गोमेध यज्ञ करने का फल और वासुकि लोक पाता है और वेणा के संगम में स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से जाकर वरदा के सङ्गम में स्नान करे जिसके करने से सहस्र गोदान का फल मिलता है। वहां से आगे ब्रह्मस्थान है जहां तीन रात्रि वास करने से मनुष्य को स्वर्गलोक और सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। उसके पीछे कुशप्लव तीर्थ की यात्रा करे और ब्रह्मचर्य से रहकर स्नान करे और तीन रात्रि रहे। ऐसा करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। वहां से यात्री देवहृद नाम वन को जाय और कृष्णा और वेणा नदियों के जल से भरे हुए जातिस्मर नाम कुण्ड में स्नान करे ऐसा करने से मनुष्य जातिस्मर अर्थात् पूर्वजन्म का स्मरण करनेवाला हो जाता है। इसी स्थान पर इन्द्र सौ यज्ञ करके स्वर्गलोक को गया था। इससे वहां जाने से ही मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल मिलता है। इसके उपरान्त यात्री सर्वहृद तीर्थ में जाकर स्नान करे जिसके करने से

ततः सर्वह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३९ ॥
ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णी सरितां वराम् ।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ४० ॥
दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत् ।
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत ॥ ४१ ॥
शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ॥ ४२ ॥
ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम् ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ ४३ ॥
सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः ।
महत्पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ४४ ॥
ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः ।
देवसत्रस्य यत्पुण्यं तदेवाप्नोति मानवः ॥ ४५ ॥
तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
वेदानध्यापयत्तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ॥ ४६ ॥
तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः ।
ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम् ॥ ४७ ॥

मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है ॥२९।३०॥

वहा से देवता और पितरों के पूजन में प्रीति रखनेवाले मनुष्य को श्रेष्ठ पुण्यद पयोष्णी नाम नदी में स्नान करना चाहिये जिसके करने से मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है और वहा से दण्डकारण्य नाम तीर्थ की यात्रा करे जहा स्नान मात्र करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। उसके आगे शरभङ्गनामी महात्मा शुकदेव जी का तीर्थ है। उसमें स्नान करने से मनुष्य का कुल पवित्र हो जाता है और उसकी दुर्गति नहीं होती है। वहा से शूर्पारक नामी तीर्थ की यात्रा करे जहा परशुराम जी सदा रहा करते है वहा रामतीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को सुवर्ण मिलता है। उसके आगे सप्तगोदावरी तीर्थ है जहा स्नान करने से मनुष्य को बहुत सा पुण्य प्राप्त होता है। और उसके आगे देवपथ तीर्थ है वहा जाने से मनुष्य को देवसत्र यज्ञ करने का पुण्य मिलता है। इसके उपरान्त यात्री तुंगकारण्य तीर्थ की यात्रा करे जहा पर सारस्वत नामी ऋषि ने वेदों की शिक्षा की थी और जहा वेदों के लोप हो जाने पर अङ्गिरा ऋषि के पुत्र के ऋषियों के उत्तरीय वस्त्र पर बठने से वे वेद सब

ओङ्कारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह ।
येन यत्पूर्वमभ्यस्तं तत्सर्वं समुपस्थितम् ॥ ४८ ॥
ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च ॥ ४९ ॥
पितामहश्च भगवान्देवैः सह महाद्युतिः ।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम् ॥ ५० ॥
ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत्तदा ।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५१ ॥
आज्य भागेन तत्राऽग्निं तर्पयित्वा यथाविधि ।
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥
तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम ।
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ५३ ॥
तत्र मासं वसेद्धीरो नियतो नियताशनः ।
ब्रह्मलोकं व्रजेद्राजन्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ५४ ॥
मेधाविकं समासाद्य पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ ५५ ॥
अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम् ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५६ ॥

ऋषियों को स्वर और प्रणव के साथ जैसा जिसने पहले अभ्यास किया था यथावत उपस्थित हो गये। ॥४०।४८॥

इसी स्थान पर ऋषि, देवता, वरुण, प्रजापति, अग्निनारायण, हरि, महादेव और ब्रह्मा जी ने भृगु जी को यज्ञ कराने की आज्ञा दी थी और भृगु जी के विधिपूर्वक यज्ञ करा देने पर सब ऋषि और देवता अपने अपने स्थानों को चले गये। सो इस तुंगकारण्य में प्रवेश करने ही स्त्री और पुरुषों के सब पाप दूर हो जाते हैं और जो कोई वहां ब्रह्मचर्य और जितेन्द्रिय होकर एक महीने तक वास करता है उसके कुल का उद्धार हो जाता है और वह ब्रह्मलोक को जाता है। वहां से मेधाविक तीर्थ को जाय जहां स्नान और तर्पण करने से मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है और उसकी बुद्धि तीव्र और स्मृति दृढ़ हो जाती है ॥४०।५५॥

यहीं कालिञ्जर नाम तीनों लोक में विख्यात् पर्वत है। वहां जाकर देवकुण्ड में स्नान करने से

योस्नातः स्नापयेत्तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ५७ ॥
ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते ।
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ ५८ ॥
तत्राऽभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ५९ ॥
ततो गच्छेत् धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
यत्र नित्यं महासेनो गुहः संनिहितो नृप ॥ ६० ॥
तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिद्ध्यति ।
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ६१ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः ।
अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ॥ ६२ ॥
तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ ।
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ॥ ६३ ॥
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः ।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६४ ॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत् ।

मनुष्य को सहस्र गोदान करने का फल मिलता है और जो मनुष्य इस कालिञ्जर पर्वत पर स्नान करके तपस्या करता है वह निस्सन्देह स्वर्गलोक को जाता है। वहां से चित्रकूट नामी उत्तम तीर्थ की यात्रा करे और गङ्गा जी में स्नान और देव पितृ तर्पण करे ऐसा करने से मनुष्य परमगति और अश्वमेध यज्ञ करने का फल पाता है। वहां से भरत जी के उत्तम स्थान को जाय जहां स्वामी कार्त्तिक जी सदा रहा करते हैं वहां जाने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है और वहीं कोटि तीर्थ भी है जिसमें स्नान करने से सहस्र गोदान करने का फल मिलता है। यात्री वहां से परिक्रमा करता हुआ ज्येष्ठ स्थान को जाय जहां शिव जी की पूजा करने से मनुष्य की कांति चन्द्रमा की सी हो जाती है ॥५८।६२॥

वहीं एक कुआँ भी है जिसमें चारों समुद्रों का होना सुना जाता है। उसमें जो देव और पितृभक्त मनुष्य स्नान करता है वह पवित्र होकर परमगति पाता है। वहां से शृङ्गवेर नामी नगर को जाय जहां पहले समय में दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जी गङ्गा के पार उतरे थे। वहां ब्रह्मचर्य से गङ्गा में स्नान करने से मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं और वह वाजपेय यज्ञ करने का फल पाता है। वहां से मुञ्ज-

यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ॥ ६५ ॥
तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६६ ॥
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति ।
ततो मुञ्जवटं गच्छेत्स्थानं देवस्य धीमतः ॥ ६७ ॥
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ६८ ॥
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम् ॥ ६९ ॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ।
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसंमताः ॥ ७० ॥
सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७१ ॥
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रचरास्तथा ।
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ॥ ७२ ॥
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी ॥ ७३ ॥
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ।

वट नामी तीर्थ की यात्रा कर जहां शिव जी का आराधन और परिक्रमा करने से मनुष्य महादेव जी का गण बनता है और गङ्गा में स्नान करने से सब पापों से मुक्त हो जाता है। इसके पीछे प्रयाग तीर्थ को जाय जिसकी प्रशंसा सब ऋषि लोग करते हैं ॥६३।६०॥

इस तीर्थ में ब्रह्मादिक देवता, लोकपाल, साध्य पितर, सनत्कुमार आदि परमऋषि, अङ्गिरा आदि ब्रह्मऋषि, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, सूर्य आदि नभचर, नदी, सागर, गन्धर्व, अप्सरा और हरि रहा करते हैं। वहां तीन अग्निकुण्ड हैं जिनके बीच में होकर श्रीगङ्गा जी, जिनके आगे सब तीर्थ रहते हैं, बड़े वेग से बहती हैं और लोकपावनी तीनों लोकों में विख्यात सूर्य की पुत्री यमुना का वहीं गङ्गा जी से सङ्गम हुआ है। इस गङ्गा और यमुना के मध्य की भूमि को लोग पृथ्वी का जघन अर्थात् नाभि के नीचे का भाग बताते हैं और ऋषि लोग इस प्रयाग को जो जघन स्थान में है सब तीर्थों के उत्पन्न होने

तपनस्य सुता देवी त्रिपु लोकेपु विश्रुता ॥ ७४ ॥
यमुना गङ्गया सार्धं संगता लोकपावनी ।
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम् ॥ ७५ ॥
प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृपयो विदुः ।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा ॥ ७६ ॥
तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः ।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्टिर ॥ ७७ ॥
प्रजापतिमुपासन्ते ऋपयश्च तपोधनाः ।
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः ॥ ७८ ॥
ततः पुण्यतमं नाम त्रिपु लोकेपु भारत ।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो ॥ ७९ ॥
गमनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्युकालभयाच्चापि नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ ८० ॥
तत्राऽभिपेकं यः कुर्यात्संगमे लोकविश्रुते ।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८१ ॥
एपा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता ।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद्भवति भारत ॥ ८२ ॥

का स्थान जानते हैं और कहते हैं कि यह सबका प्रतिष्ठान है इसमें कंबल और अश्वतर नाग भी रहते हैं और इसी में भोगवती तीर्थ भी है यह प्रयाग ब्रह्मा जी की वेदी है। जब तपस्वी ऋषि और वेद यज्ञ स्वरूप धारण किये हुए जहां ब्रह्मा जी की सेवा करते हैं और देवता और चक्रवर्ती राजा लोग यज्ञ करते हैं। इन कारणों से यह प्रयाग तीर्थ तीनों लोकों में सब तीर्थों से अधिक और पुण्यतम है। इसमें जाने अथवा इसकी प्रशंसा या इसका स्मरण करने से मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं ॥७०।८०॥

और सङ्गम में स्नान करने से राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने का फल मिलता है। यह तीर्थ देवताओं की यज्ञभूमि है इससे इस तीर्थ पर थोड़ा सा दिया हुआ दान भी बहुत सा फल देता है। जो मनुष्य के हृदय में प्रयाग में प्राण छोड़ने की बुद्धि उपजे तो उस बुद्धि को वेद और लोक के वचनों से भी फेरना उचित नहीं है क्योंकि इस प्रयाग में साठ कोटि और दश सहस्र तीर्थ रहते हैं। चारों विद्याओं के अभ्यास और सत्य बोलने से जो पुण्य मिलता है वह केवल इस गङ्गा और यमुना के सङ्गम में स्नान करने से मनुष्य को प्राप्त होता है और वहां जो भोगवती नाम वासुकि का तीर्थ है उसमें

न वेदवचनात्तात न लोकवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥ ८३ ॥
दश तीर्थसहस्राणि षष्टिः कोट्यस्तथाऽपराः ।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ॥ ८४ ॥
चतुर्विद्ये च यत्पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ।
स्नाता एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसङ्गमे ॥ ८५ ॥
तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्राऽभिषेकं यः कुर्यात्सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ ८६ ॥
तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ॥ ८७ ॥
कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्राऽवगाहिता ।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ॥ ८८ ॥
यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गावसेचनम् ।
सर्वं तत्तस्य गङ्गापो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ ८९ ॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् ।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ॥ ९० ॥
पुष्करे तु तपस्तप्येद्दानं दद्यान्महालये ।
मलये त्वग्निमारोहेद्भृगुतुङ्गेत्वनाशनम् ॥ ९१ ॥

स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है और वहीं गङ्गा जी में हंस प्रपतन और दशाश्वमेधिक नाम तीर्थ भी हैं जो तीनों लोकों में विख्यात् है। इस गंगा में किसी स्थान पर स्नान करने से कुरुक्षेत्र के समान फल मिलता है परन्तु कनखल में विशेष और प्रयाग में महान् फल प्राप्त होता है। जो मनुष्य सौ काम छोड़कर गंगा में स्नान करता है उसके सब पाप इस प्रकार से भस्म हो जाते हैं जैसे ईंधन का ढेर अग्नि में भस्म हो जाता है। सतयुग में सब तीर्थों में स्नान करने से पुण्य होता है और त्रेता में पुष्कर द्वापर में कुरुक्षेत्र और कलियुग में गङ्गा जी पुण्यरूपी कही है॥८१॥९०॥

पुष्कर में तप, महालय में दान, मलयाचल पर अग्नि तपना, भृगुतुङ्ग पर्वत पर रहकर अनशन व्रत धारण करना और पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गङ्गा और मगध देश के तीर्थों में स्नान करना परम पुण्यद है। ऐसा करने से मनुष्य की सात-सात पीढ़ी अगली और पिछली तर जाती है और गङ्गा जी की स्तुति करने

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मगधेषु च ।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा ॥ ९२ ॥
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति ।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥ ९३ ॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम् ।
तावत्स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते ॥ ९४ ॥
यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ॥ ९५ ॥
न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात्परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ॥ ९६ ॥
यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत्तपोवनम् ।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ॥ ९७ ॥
इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ।
सुहृदां च जपेत्कर्णे शिष्यस्याऽनुगतस्य च ॥ ९८ ॥
इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम् ॥ ९९ ॥
महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ १०० ॥

से पाप दूर हो जाते हैं, दर्शन करने से कल्याण होता है और स्नान पान करने से सात पीढ़ियां मनुष्य की पवित्र हो जाती हैं। और जब तक गङ्गा जी में मनुष्य के हाड़ रहते हैं तब तक वह मनुष्य स्वर्गलोक में इस प्रकार से प्रतिष्ठित रहता है जैसे पुण्य तीर्थ और पुण्य देवस्थानों की उपासना करने के पुण्य से मनुष्य अमरलोक पाने का भागी हो जाता है ॥९१।९५॥

देखो, ब्रह्मा जी ने आप यह कहा है कि गंगा जी के समान तीर्थ, केशव के समान देवता और ब्राह्मणों से बड़ा कोई नहीं है। जिस देश में गङ्गा है वही देश तपोवन है और जो गङ्गातट की पृथ्वी है वही सिद्धक्षेत्र भूमि है। इस सत्य कथा को ब्राह्मण, साधु सुहृद, पुत्र और आज्ञाकारी शिष्यों से कान में कहना उचित है। यह कथा धन्य, पवित्र, स्वर्ग-दाता, उत्तम, पुण्यदात्री, रम्य, पावन, धर्मदात्री सब पापों को दूर करनेवाली और बड़े बड़े ऋषियों की गुप्त बात है। इसको ब्राह्मणों के बीच में पढ़ने से

श्रीमत्स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम् ।
मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम् ॥ १०१ ॥
अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात् ।
मही विजयते राजा वैश्यो धनमवाप्नुयात् ॥ १०२ ॥
शूद्रो यथेप्सितान्कामान्ब्राह्मणः पारगः पठन् ।
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः ॥ १०३ ॥
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ।
गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च ॥ १०४ ॥
मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥ १०५ ॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः ।
एवं त्वमपि कौरव्य विधिनाऽनेन सुव्रत ॥ १०६ ॥
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धयन् ।
भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ॥ १०७ ॥
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः ।
नाऽव्रती नाऽकृतात्मा च नाऽशुचिर्न च तस्करः ॥ १०८ ॥

मनुष्य निर्मल होकर स्वर्गलोक पाता है ॥९९।१००॥

इन तीर्थों का कीर्तन करना स्वर्गदाता, पुण्यरूपी, शत्रुनाशक, आनन्ददाता, मेधाबुद्धि का उत्पन्न करनेवाला और श्रेष्ठ है और इसको नित्य सुनने से अपुत्र को पुत्र, निर्धन को धन, राजा को विजय, वैश्य को अर्थलाभ, शूद्र को इच्छित कामना और ब्राह्मण को विद्या का पार प्राप्त होता है। इस तीर्थकीर्तन को नित्य पाठ करनेवाला स्वर्गलोक पाता है और उसको पूर्व जन्मों का हाल विदित हो जाता है। हे भीष्म! हमने तुमसे सब तीर्थ, जहाँ मनुष्य जा सकता है और जहाँ नहीं जा सकता है, वर्णन किये हैं। इनमें से अगम्य तीर्थों में मानसिक वृत्ति से जाना उचित है क्योंकि ये तीर्थ केवल देव ऋषियों के ही साध्य हैं जो आकाशमार्ग से जाकर उनमें स्नान करते हैं। ये सब तीर्थ अष्टवसु साध्यगण द्वादश सूर्य, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार आदि देवताओं के तुल्य हैं और शुभ कर्म करनेवाले ऋषि लोग इनमें स्नान करते हैं। तुम भी इन तीर्थों की यात्रा करो और अपने पुण्य को तीर्थयात्रा के पुण्य से बढ़ाओ। पहले समय में इन तीर्थों का सेवन शुद्ध हृदय इन्द्रिय और शास्त्र जाननेवाले सत्पुरुषों ने अग्निचयनों और श्रुतियों के ज्ञान से किया था। जो मनुष्य अव्रती, अजित चित्त अर्थात् जिसने अपना चित्त अपने वश में नहीं किया है,

स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ।
त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ॥१०९॥
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः ।
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ॥११०॥
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाऽभितोषिताः ।
अवाप्स्यसि त्वं लोकान्वै वसूनां वासवोपम ॥१११॥
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम् ।
नारद उवाच—एवमुक्त्वाऽभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः ॥११२॥
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान् ॥११३॥
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीं परिचक्रमे ।
एवमेषा महाभागा प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता ॥११४॥
तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी ।
अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं संचरिष्यति ॥११५॥
अश्वमेधशतं साग्रं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति ।
ततश्चाऽष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ॥११६॥
भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथापूर्वमवाप्तवान् ।
नेता च त्वमृषीन्यस्मात्तेन तेऽष्टगुणं फलम् ॥११७॥

अपवित्र, चोर और कुबुद्धि होता है, वह तीर्थों में स्नान नहीं करता है। तुम तो श्रेष्ठ व्रत करनेवाले और धर्मार्थदर्शी हो ॥१०८।१०९॥

तुमने अपने धर्म से पिता, पितामह, प्रपितामह, ब्रह्मादिक देवता और ऋषियों को तृप्त किया है। तुमको वसुओं का लोक मिलेगा और संसार में तुम्हारी बड़ी कीर्ति होगी। इतनी कथा सुनाकर नारद जी बोले कि हे राजा युधिष्ठिर! पुलस्त्य जी भीष्म से उक्त प्रकार से कहकर प्रसन्नतापूर्वक वहीं अन्तर्द्धान हो गये और शास्त्र के तत्त्वार्थ देखनेवाले भीष्म ने पृथ्वी पर भ्रमण करके तीर्थयात्रा की। अब यह पापों के दूर करनेवाली और महापुण्य देनेवाली कथा समाप्त हुई। जो मनुष्य तीर्थयात्रा के लिये पृथ्वी पर घूमता है उसको सौ अश्वमेध यज्ञ करने के फल से आठ गुणा अधिक फल मिलता है जैसा कि पहले भीष्म जी पा चुके हैं। और तुम जो ऋषियों को साथ ले जाकर यह यात्रा करोगे तो तुमको उसका आठ गुणा फल मिलेगा। इस तीर्थ यात्रा में राक्षसों के गण के गण

रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत ।
न गतानि मनुष्येन्द्रैस्त्वामृते कुरुनन्दन ॥११८॥
इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंवृतम् ।
यः पठेत्कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥११९॥
ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः ।
आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥१२०॥
असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा ॥१२१॥
शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपतां वरः ।
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जावालिश्च महातपाः ॥१२२॥
एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः ।
एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज ॥१२३॥
एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः ।
समेष्यति महाराज तेन सार्धमनुव्रज ॥१२४॥
मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात् ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः ॥१२५॥
यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः ।
तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ॥१२६॥

किया करते हैं। इससे तुम सरीखे राजा के सिवाय दूसरे राजा तीर्थयात्रा नहीं कर सकते हैं॥११०।११८॥

इस तीर्थ कथन के देवऋषि चरित को जो कोई प्रातःकाल उठकर पढ़ेगा वह सब पापों से छूट जायगा। हे युधिष्ठिर! तुम्हारे साथ वाल्मीकि, कश्यप, आत्रेय, कुण्डजठर, विश्वामित्र, गौतम, असित, देवल, गालव, भरद्वाज, वशिष्ठ, उद्दालक, शौनक, पुत्र सहित व्यास जी, दुर्वासा और जावालि आदि मुख्य मुख्य बड़े बड़े तपस्वी ऋषि हैं तुम इन सबको साथ लेकर तीर्थयात्रा करो और जो यह लोमश नामी बड़े तेजस्वी महर्षि तुम्हारे पास चले आ रहे हैं इनको भी साथ लेते जाओ। मेरे साथ भी तुम तीर्थयात्रा करना। तुमको राजा महाभिष की सी कीर्ति मिलेगी। और जिस प्रकार से राजा ययाति, पुरूरवा, भगीरथ, रामचन्द्र, मनु, इक्ष्वाकु, पुरु और वैन्य आदि तीनों लोकों में अपने धर्म के कारण से विख्यात हैं उसी प्रकार से तुम भी सूर्य के तुल्य उनसे अधिक कीर्तिमान और विख्यात होगे। और जैसे वृत्रासुर

यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः ।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव ॥१२७॥
यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः ।
यथा वैन्यो महाराज तथा त्वमपि विश्रुतः ॥१२८॥
यथा च वृत्रहा सर्वान्सपत्नान्निर्दहन्पुरा ।
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः ॥१२९॥
तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि ।
स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन ।
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा ॥१३०॥
वैशम्पायन उवाच-एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः ।
अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥१३१॥
युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवाऽर्थं विचिन्तयन् ।
तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ॥१३२॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ८५

दैत्य के मारनेवाले इन्द्र ने अपने शत्रुओं को मारकर और चिन्तारहित होकर तीनों लोकों का पालन किया था। उसी प्रकार से तुम भी अपने वैरियों को मारकर प्रजा का पालन करोगे और अपने धर्म से पृथ्वी को जीतकर कार्त्तवीर्यार्जुन के समान कीर्ति पाओगे। इतनी कथा सुनाकर वैशम्पायन जी बोले-हे राजा जनमेजय ! नारद जी युधिष्ठिर को उक्त प्रकार से धैर्य देकर वहीं अन्तर्द्धान हो गये ओर युधिष्ठिर ने उस अर्थ को विचारकर तीर्थयात्रा करने का पुण्य ऋषियों से कह सुनाया ॥११९।१३२॥

वनपर्व का पचासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥

अथ षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

वैशम्पायन उवाच-भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः ।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

छियासीवां अध्याय ॥ ८६ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर अपने भाई और बुद्धिमान् नारद जी के मन को विचारकर धौम्य ऋषि से कहने लगे कि मैने पुरुषोत्तम, सत्यपराक्रमी, धैर्यवान्, महाबाहु, समर्थ, तपोधन और वीर अर्जुन को अस्त्रविद्या सीखने के लिये प्रदेश में भेजा है, यद्यपि वह अस्त्रविद्या में श्रीकृष्ण जी के समान विचक्षण है। मैं और व्यास जी इन दोनों पराक्रमी और शत्रुओं के नाश करने-

मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः ।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ॥ २ ॥
स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधनः ।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ॥ ३ ॥
अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन्कृष्णावरिविघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान् ॥ ४ ॥
त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनञ्जयौ ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत्सदा मम ॥ ५ ॥
तथाऽहमपि जानामि नरनारायणावृषी ।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः ॥ ६ ॥
इंद्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चाऽऽदातुमिन्द्रादिति विवासितः ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः ॥ ८ ॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा ।
योद्धुकामाश्च पार्थेन सततं ये महाबलाः ।
स च दिव्यास्त्रवित्कर्णः सूतपुत्रो महारथः ॥ ९ ॥
योऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिःस्वनः ।

वालों को जानते हैं। यह दोनों अर्थात श्रीकृष्ण और अर्जुन नरनारायण और तीनों युगों में अवतार लेनेवाले हैं। नारद जी भी इन दोनों को ऐसा ही बताते हैं, उन्होंने बहुधा मुझसे यह सम्वाद कहा है और मैंने भी इस अर्जुन को इन्द्र का पुत्र और इन्द्र के तुल्य समझकर देवराज इन्द्र को देखने और उससे अस्त्रविद्या सीखने की कामना से प्रदेश में भेज दिया है ॥१।७॥

क्योंकि भीष्म और द्रोणाचार्य जिनको जीतना बहुत कठिन है और कृपाचार्य और अश्वत्थामा आदि बड़े-बड़े महारथी धृतराष्ट्र के पुत्रों से मिले हुए हैं और सबके सब वेदपाठी, शूरवीर और अस्त्रों के जाननेवाले हैं और अर्जुन से युद्ध करने की इच्छा रखते हैं और इनके सिवाय सूत का पुत्र कर्ण भी महारथी और सब दिव्य अस्त्रों का जाननेवाला है। उसके अस्त्र चलाने का वेग वायु के वेग के समान है, बाण उसके अग्नि के सदृश हैं और क्रोध धुएँ के समान है सो यह कर्ण युग के अन्त में महाकाल

रजोधूमोऽस्त्रसंपातो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः ॥ १० ॥
निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान् ।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ॥ ११ ॥
तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान् ।
श्वेतवाजिबलाकाभृद्गाण्डीवेन्द्रायुधोल्वणः ॥ १२ ॥
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम् ।
अर्जुनोदीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे ॥ १३ ॥
स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात्परपुरञ्जयः ।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्ततश्च प्रतिपत्स्यते ॥ १४ ॥
अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः ।
नास्ति त्वनिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया ॥ १५ ॥
ते वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिन्दमम् ।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति ॥ १६ ॥
वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन्द्विपदां वर ।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ॥ १७ ॥
भवानन्यद्वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ॥ १८ ॥

से छोड़ी हुई अग्नि के समान दुर्योधन रूपी वायु से प्रेरित होकर मेरी सेनारूपी तृण के वन को निस्संदेह भस्म कर डालेगा ॥६।११॥

उस कर्णरूपी प्रज्वलित अग्नि को मेघरूपी अर्जुन कृष्णरूपी वायु से प्रेरित होकर बाणरूपी जलधारा छोड़कर शांत करेगा और वह अर्जुनरूपी मेघ बलाका-रूपी श्वेत घोड़े, गाण्डीवरूपी इन्द्रधनुष और अस्त्र-रूपी बिजली से सुशोभित होगा। मै जानता हूँ कि वह अर्जुन इन्द्र से सब दिव्य अस्त्र सीख आवेगा और इन सबको जीत सकेगा परन्तु बिना अर्जुन के इन शत्रुओं को जीतने का कोई उपाय नहीं है। हे महाराज ! ऐसा दिन कौनसा होगा जिस दिन हम उस अस्त्र सीखे हुए अर्जुन को, जो बोझ को उठाकर दुःखी नहीं होता है, देखेंगे। उसके बिना द्रौपदी सहित हम सबका चित्त इस वन में स्वस्थ नहीं रहता है। आप और कोई ऐसा वन बताइये जहां अन्न और फल बहुत मिलें और पुण्यकर्म करने-वाले मनुष्य रहते हों और स्थान भी जहां का पुण्य और पवित्र हो। जिससे हम लोग वहां रहकर अर्जुन के आने की बाट इस प्रकार से देखें जैसे मनुष्य बादलों की राह वर्षाऋतु में देखा करते हैं। अब इस काम्यक वन में हमारा मन नहीं लगता है हम

यत्र कंचिद्वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम् ।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाऽम्बुदम् ॥ १९ ॥
विविधानाश्रमान्कांश्चिद्द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान् ।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ॥ २० ॥
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन्रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन्काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

लोगों की इच्छा किसी और दिशा के जाने की है। सो आप ब्राह्मणों से सुने हुए अनेक आश्रम, सरोवर नदी और रमणीक पर्वतों का वृत्तान्त हमको सुनाइये कि हम लोग उसी ओर की यात्रा करें ॥१२।२१॥

वनपर्व का छियासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

अथ सप्तशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

वैशम्पायन उवाच–तान्सर्वानुत्सुकान्दृष्ट्वा पाण्डवान्दीनचेतसः ।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
ब्राह्मणानुमतान्पुण्यानाश्रमान्भरतर्षभ ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ ॥ २ ॥
याञ्छ्रुत्वा गदतो राजन् विशोको भवितासि ह ।
द्रौपद्या चानया सार्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर ॥ ३ ॥
श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव ।
गत्वा शतगुणं चैव तेभ्य एव नरोत्तम ॥ ४ ॥
पूर्वं प्राचीं दिशं राजन्राजर्षिगणसेविताम् ।
रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ॥ ५ ॥

सत्तासीवां अध्याय ॥ ८७ ॥

वैशम्पायन जी बोले-हे राजा जनमेजय! धौम्य ऋषि पाण्डवों को दुःखी चित्त और घबराये हुए देखकर धैर्य देकर बृहस्पति के समान इस प्रकार से कहने लगे-हे युधिष्ठिर! तुम अपने भाइयों और द्रौपदी सहित पुण्य आश्रम, दिशा तीर्थ और पर्वतों का वृत्तान्त सुनो, जिसके सुनने से तुमको पुण्य होगा और शोक से छूट जाओगे और जो उनमें स्नान करने जाओगे तो सौ गुणा पुण्य पाओगे। अब पहले मैं तुमसे अपने स्मरण के अनुसार पूर्व दिशा के तीर्थों का वृत्तान्त कहता हूँ जहां राजऋषियों के समूह

तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत ।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक्पृथक् ॥ ६ ॥
यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता ।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः ॥ ७ ॥
तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः ।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ॥ ८ ॥
यदर्थे पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः ।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ॥ ९ ॥
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।
उत्तारयति संतत्या दशपूर्वान्दशावरान् ॥ १० ॥
महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप ।
यत्राऽसौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ॥ ११ ॥
यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो ।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुनामा महानदी ॥ १२ ॥
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्रोऽध्यगाद्यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ॥ १३ ॥
गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः ।

के समूह रहते हैं ॥१।५॥

इस देवताओं के रहनेवाली दिशा में पहले नैमिषतीर्थ है, उसमें अलग-अलग देवताओं के अलग-अलग पुण्यतीर्थ हैं और वहीं गोमती नाम पुण्य नदी भी है जो बड़ी रमणीक और देवताओं से सेवित है। यह नैमिषतीर्थ देवताओं की यज्ञभूमि और यमराज का सा मित्र है। उसके आगे गय नाम पुण्यद पर्वत है जिसमें ब्रह्मसर नामी एक कल्याणरूपी तीर्थ है जहां देवता लोग ऋषि रहा करते हैं । पुराने लोगों ने इसी तीर्थ के कारण से यह कहा है कि मनुष्य के बहुत से पुत्र हों तो अच्छा है क्योंकि जो बहुत से पुत्र होंगे तो कोई तो उनमें से जाकर गया करेगा अथवा अश्वमेध यज्ञ या नील वृषभ छोड़ेगा क्योंकि यह कर्म दश अगले और दश पिछले पुरुषाओं को तारता है ॥६।१०॥

और वहीं गया शिर और फल्गु नामी महानदी और अक्षयकरण वट भी है। जहां पर पितरों का श्राद्ध करने से पितरों को दिया हुआ पदार्थ अक्षय बना रहता है। उसके आगे कौशिकी नदी है जहां विश्वामित्र ऋषि ने ब्राह्मणत्व पाया था उस नदी पर मूल और फल बहुत मिलते हैं। और इसी दिशा में गङ्गा नाम पुण्य नदी भी है जिसके तट पर भगीरथ ने बहुत से बड़े-

अयजत्तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १४ ॥
पञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम् ।
विश्वामित्रोऽयजद्यत्र पुत्रेण सह कौशिकः ॥ १५ ॥
यत्राऽनुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ॥ १६ ॥
कान्यकुब्जेऽपिवत्सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ।
ततः क्षत्रादपाक्रामद्ब्राह्मणोऽस्मीति चाऽब्रवीत् ॥ १७ ॥
पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १८ ॥
यत्राऽयजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्भरतसत्तम ॥ १९ ॥
अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राऽऽश्रमवरो नृप ।
तत्तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥ २० ॥
हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान् ।
आगस्त्यपर्वतोरम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः ॥ २१ ॥
महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः ।
अजयत्तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः ॥ २२ ॥
यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद्युधिष्ठिर ।

बड़े यज्ञ किये थे। वहीं उत्पला वन तीर्थ भी है जो पांचाल देश में गिना जाता है। वहां विश्वामित्र ने पुत्र सहित यज्ञ किया था और परशुराम जी ने उनके ऐश्वर्य को देखकर उनके वंश की प्रशंसा की थी। और कान्यकुब्ज देश में विश्वामित्र ने इन्द्र के साथ सोम पान किया था और क्षत्रिय धर्म को छोड़कर यह कहा था कि मैं ब्राह्मण हूं। इसके आगे गङ्गा और यमुना नदियों का संगम है जो पवित्र, पापनाशक, धर्म का बढ़ानेवाला, उत्तम, तीनों लोकों में विख्यात् है जहां ऋषि लोग रहा करते हैं वहां पहले समय में ब्रह्मा जी ने यज्ञ किया था। उसी कारण से उस स्थान का नाम प्रयाग विख्यात् है। उसके आगे तपोवन में अगस्त्य जी का श्रेष्ठ आश्रम है जहां तपस्वी लोग रहते हैं ॥१९।२०॥

उसके आगे कलिञ्जर पर्वत में हिरण्य बिन्दु नामी तीर्थ है और वहीं श्रेष्ठ धर्म को बढ़ानेवाला, बड़ा रमणीक, कल्याणकारी अगस्त्य पर्वत भी है। और उसके पीछे परशुराम जी का महेन्द्र पर्वत है जहां

यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते ।
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम् ॥ २३ ॥
पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः ।
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः ॥ २४ ॥
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः ।
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान् ॥ २५ ॥
यत्र देववनं पुण्यं तापसैरुपशोभितम् ।
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ॥ २६ ॥
तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव ॥ २७ ॥
तिसृष्वन्यानि पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु ।
सरितः पर्वताश्चैव पुण्यान्यायतनानि च ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रां सप्ताशीतितमोऽध्याय. ॥ ८७ ॥

पहले ब्रह्मा जी ने यज्ञ किया था। हे राजा युधिष्ठिर! इसी पूर्व दिशा में मणिकर्णिका सरोवर है जिसमें श्री गङ्गा जी ने प्रवेश किया था। वहीं वाराणसी अर्थात् काशी है जो धर्म के बढाने में ब्रह्मलोक के समान है। वहां निष्पाप मनुष्य रहते है। उसके दर्शन से धर्म की वृद्धि होती है। यह स्थान संसार में मङ्गलीय और पवित्र विख्यात् है। वहीं केदार नामी मतङ्गऋषि का बड़ा उत्तम स्थान है। इसके आगे बड़ा रमणीक कुंडोद नामी पर्वत है जिसपर सुन्दर फल-मूल और जल मिलता है। राजा नल को पिपासाकुल होने पर इसी पर्वत पर जल मिला था। और इसी के समीप देववन भी है जहा तपस्वी लोग रहा करते है। इसी दिशा में बाहुदा और नन्दा नाम नदिया पहाड़ के ऊपर बहती हैं। हे राजा युधिष्ठिर! मैने तुमको ये सब पुण्यस्थान, तीर्थ, नदी और पर्वत पूर्व दिशा के सुनाये है। अब जो-जो स्थान, तीथ, आदि शेष तीनों दिशाओं में है, इनको भी सुनो ॥२१।२८॥

वनपर्व का सत्तासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

अथ अष्टाशीतितमोऽध्याय ॥ ८८ ।

धौम्य उवाच—दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत ।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै ॥ १ ॥
यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।

वह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा ॥ २ ॥
वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे ।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते ॥ ३ ॥
राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ॥ ४ ॥
अपि चाऽत्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः ।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ॥ ५ ॥
नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम् ।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ६ ॥
पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे ।
उद्धृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम् ।
पयोष्णा हरते तोयं पापमामरणान्तिकम् ॥ ७ ॥
स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः ।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत् ॥ ८ ॥
एकतः सरितः सर्वा गङ्गाद्याः सलिलोच्चयाः ।
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम ॥ ९ ॥
माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम् ।

अट्ठासीवां अध्याय ॥ ८८ ॥

धौम्य ऋषि बोले—हे राजा युधिष्ठिर ! अब मैं अपनी बुद्धि के अनुसार दक्षिण दिशा के पुण्यतीर्थों का वृत्तान्त कहता हूँ, सुनो। इस दिशा में प्रथम तो बड़ी कल्याणकारी गोदावरी नदी है। जो वन, उपवन और तपस्वियों से सुशोभित और अति गम्भीर है और उसके आगे वेणा और भीमरथी नाम नदियां हैं। जिनके तट पर अनेक तपस्वियों के आश्रम हैं। ये दोनों नदियां मृग और पक्षियों से व्याप्त एवं पापों के भय को दूर करनेवाली हैं। फिर पयोष्णी नाम राजर्षि नृग नाम की नदी परम रमणीक है जिसमें बहुत सा जल है और जिसके तट पर ब्राह्मण लोग रहा करते हैं। इसी नदी के तट पर बड़े तपस्वी और योगी मार्कण्डेय ऋषि ने राजा नृग के वंश की प्रशंसा उसी के सन्मुख की थी और हमने यह भी सुना है कि इसी स्थान पर राजा नृग के यज्ञ में इन्द्र सोम पान करके मतवाला हो गया था और ब्राह्मण लोग दक्षिणा पाकर निहाल हो गये थे। इस पयोष्णी नदी पर वाराह तीर्थ के उत्तर ओर की पृथ्वी की धूल स्पर्श करने या वायु से ऊपर पड़ने अथवा यहां पर नदी के जल को पीने से मनुष्य के

यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ ॥ १० ॥
प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा ।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति ॥ ११ ॥
वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः ।
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत ॥ १२ ॥
अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम् ।
अगस्त्यतीर्थं पाण्ड्येषु वारुणं च युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्ड्येष्वेव नरर्षभ ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु ॥ १४ ॥
यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे ।
गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १५ ॥
शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः ।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥
तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च संपन्नः फलमूलवान् ।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः ॥ १७ ॥
वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान्मणिमयः शिवः ।
अगस्त्यस्याऽऽश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ॥ १८ ॥

मरण पर्यन्त के पाप दूर हो जाते है और वहा पर जो शिव जी का शिखर स्वर्ग से भी ऊँचा और शिव जी का ही रचा हुआ है उसको देखने से मनुष्य को शिवलोक मिलता है । हे युधिष्ठिर ! गगा आदि नदिया एक ओर और पयोष्णी एक ओर है । मै पयोष्णी को सब तीर्थों से पुण्यद समझता हूँ । वहीं माठर का वन कल्याणरूप, बहुत मूल और फल रखनेवाला और धर्म का बढ़ानेवाला है और वरुणस्रोतस नाम पहाड़ पर यूप अर्थात् यज्ञस्तम्भ है ॥१।१०॥

वहा से जो त्रिवेणी को मार्ग गया है उसके उत्तर की ओर कण्व ऋषि का आश्रम और तपस्वियों के वन है । इसके आगे शूर्पारक में जमदग्नि ऋषि की वेदी और पाषाण तीर्थ और पुनश्चन्द्रा नदी है। वहीं अशोक तीर्थ भी है जिसमें बहुत से आश्रम हैं। उसके आगे पाण्ड्य देशों में अगस्त्य और वारुण नामी तीर्थ हैं और उसी देश में कुमारी तीर्थ भी बड़ा पुण्य का देनेवाला है और वहीं ताम्रपर्णी है जहा मोक्ष पाने की इच्छा से देवताओं ने आश्रम में तपस्या की थी। तब से वह स्थान गोकर्ण नाम से तीनों लोकों में विख्यात् हुआ। वहा परमकल्याण का करनेवाला एक सरोवर भी है जिसमें बहुत शीतल जल भरा हुआ है । वह जल धर्म का बढ़ानेवाला

सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ।
आश्रमान्सरितश्चैव सरांसि च नराधिप ॥ १९ ॥
चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत ।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ॥ २० ॥
तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम् ।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ॥ २१ ॥
तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनाऽनुकीर्तितः ।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २२ ॥
पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते ।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥ २३ ॥
पुण्या द्वारवती तत्र यत्राऽसौ मधुसूदनः ।
साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥ २४ ॥
ये च वेदविदो विप्रा ये चाऽध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ २५ ॥
पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ॥ २६ ॥

है। जिनके अन्तःकरण अशुद्ध है वह उसमें नहीं घुस सकते हैं। वहां एक देवताओं के तुल्य पहाड़ भी है जिसपर वृक्ष, घास, फल और मूल बहुत है और अगस्त्य जी के शिष्य का आश्रम है। उसी और वहां कल्याणरूपी वैडूर्य नामी मणि रखनेवाला पर्वत है जहां फल-मूल और जल बहुत मिलते हैं। यह पर्वत अगस्त्य जी का आश्रम है। इसके आगे सुराष्ट्र देश है उसमें जो जो पुण्य और पवित्र स्थान, नदी और सरोवर हैं उनका भी वृत्तान्त कहता हूँ, सुनो। ब्राह्मण लोग कहते हैं कि उपदेश में एक तो चमसोद्भेदन तीर्थ है और समुद्र के तट पर प्रभास नाम देवताओं का तीर्थ है ॥१९।२०॥

वहीं पिंडारक तीर्थ भी है जहां तपस्वी लोग रहते हैं और उज्जयन्त पर्वत जहां सिद्धी शीघ्र मिलती है। इसके विषय में हमने एक नारद जी का कहा हुआ पुराना श्लोक सुना है जिसका अर्थ यह है कि जो उज्जयन्त नाम पर्वत सुराष्ट्र देशों में है, जिसपर अनेक मृग और पक्षी रहते हैं, उसपर तपस्या करने से मनुष्य को स्वर्गलोक मिलता है। वहीं द्वारका नाम धर्म के बढ़ानेवाली पुरी भी है जिसमें श्रीकृष्ण जी रहते हैं। ये श्रीकृष्ण साक्षात् पुराने देवता हैं और उनका पूजन करना सनातन धर्म है। जो ब्राह्मण वेदपाठी और

अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

अध्यात्म के जाननेवाले हैं वह श्रीकृष्ण जी की पूजा करने को ही सनातन धर्म कहते है । सो हे युधिष्ठिर ! ये श्रीकृष्ण जो पवित्रों से पवित्र, पुण्यों के पुण्य, मङ्गलों में मङ्गल, सनातन, अविनाशी, परमेश्वर, अचिन्त्य आत्मा, और देवताओं के भी देवता है उसी द्वारका पुरी में रहते हैं ॥२१।२७॥

वनपर्व का अट्टासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥

अथ ऊननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

धौम्य उवाच—आनर्तेषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि ।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
प्रियंग्वाम्रवणोपेता वानीरफलमालिनी ।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ॥ २ ॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च स पितामहाः ॥ ३ ॥
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः ।
स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत ॥ ४ ॥
निकेतः श्रूयते पुण्यो तत्र विश्रवसो मुनेः ।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ॥ ५ ॥
वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ६ ॥

नवासीवां अध्याय ॥ ८९ ॥

धौम्य ऋषि बोले—हे राजा युधिष्ठिर ! अब मैं उन तीर्थों का वृत्तान्त कहता हू जो पश्चिम दिशा में अवन्ति देशों में हैं । प्रथम तो इस दिशा में नर्मदा नदी है जो पश्चिम की ओर को बहती हुई धर्म की बढानेवाली है । इसके तट पर प्रियंगु और आम्र के वृक्षों के वन हैं । इस नदी में सब तीर्थ, पवित्र स्थान, नदिया, पर्वत जो तीनों लोकों में विख्यात् ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध, ऋषि और चारण आदि पुण्यात्मा जीव सदा स्नान करने को आया करते है । इसी दिशा में विश्रवा मुनि का स्थान है, जहां कुबेर जी उत्पन्न हुए थे और वैडूर्य शिखर नाम पर्वत परम-कल्याणरूप धर्म का बढानेवाला है, जिसपर वृक्ष

तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ७ ॥
वह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ॥ ८ ॥
ह्लादिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरञ्जय ॥ ९ ॥
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान्सनातनान् ॥ १० ॥
तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
वहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ॥ ११ ॥
आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याऽऽश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ॥ १२ ॥
तत्राऽल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ १३ ॥
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः ।
ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता ॥ १४ ॥
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १५ ॥
पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।

सदा फूले फले रहते हैं। इस पर्वत पर एक धर्म का बढ़ानेवाला सरोवर भी है जिसमें सदैव कमल फूले रहते हैं। उसपर देवता और गन्धर्व बसे रहते हैं। यह पर्वत स्वर्ग के तुल्य है। देवता और ऋषियों के समूह के समूह वहां निवास करते हैं और अनेक आश्चर्य भी देखने दिखाई देते हैं। वहीं पर ह्लादिनी व पुण्यतीर्था नदी भी है, जिसको राजर्षि विश्वामित्र [illegible] थे। इसी नदी के तट पर राजा ययाति ने स्वर्ग से सत्पुरुषों के बीच में गिरकर फिर सनातन लोक पाये थे ॥९।१०॥

वहां एक पुण्य सरोवर और मैनाक और असित नामी मूल और फल से युक्त पर्वत भी है। इसी दिशा में कक्षसेन और च्यवन ऋषियों के पुण्य आश्रम हैं जहां थोड़ी तपस्या करने से भी मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यहीं जम्बूमार्ग नामी मृग और पक्षियों से युक्त आश्रम भी है जहां शुद्ध अन्तःकरण

वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥ १६ ॥
अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ १७ ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां ऊननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

रहनेवाले ऋषियों के आश्रम हैं। और इसके आगे वेतुमान्य, मच्या और मझाट्टार नामी बड़े पुण्यद तीर्थ हैं, जहां तपस्वी लोग सदा रहा करते हैं। इसके आगे सैन्धव वन है, जहां पवित्र ब्राह्मण रहते हैं। इसी दिशा में पुष्कर नामवाला धर्म का बढानेवाला ब्रह्मा जी का एक सरोवर भी है जहां वैखानस नाम के सिद्ध ऋषियों का आश्रम है। हे राजा युधिष्ठिर! ब्रह्मा जी ने यहां वास करने के लिए यह कहा है कि जो कोई पुष्कर का स्मरण मन में भी करता है उसके सब पाप निश्चय दूर हो जाते हैं और वह स्वर्गलोक पाता है ॥१७।१८॥

वनपर्व का नवासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

अथ नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

धौम्य उवाच—उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो ।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ॥ २ ॥
सरस्वती महापुण्या ह्रादिनी तीर्थमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥ ३ ॥
यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ॥ ४ ॥
पुण्यं चाऽऽख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।

नब्बेवां अध्याय ॥ ९० ॥

धौम्य ऋषि बोले—हे राजा युधिष्ठिर! अब मैं उत्तर दिशा के तीर्थ और पुण्य स्थानों का वृत्तान्त कहता हूँ, तुम सावधानी से सुनो। क्योंकि कथा को मन में याद रखने से अच्छी श्रद्धा उत्पन्न होती है। इस दिशा में प्रथम सरस्वती, शालिनी, ह्रदिनी और यमुना नाम की नदियां बड़े पुण्य की देनेवाली हैं। यमुना का बड़ा वेग है, जो समुद्र में जा मिलती है। यहां प्लक्षा, वतरण नाम का बड़ा शुभ और पुण्यद

तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ७ ॥
बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ॥ ८ ॥
ह्लादिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरञ्जय ॥ ९ ॥
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान्सनातनान् ॥ १० ॥
तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ॥ ११ ॥
आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याऽऽश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ॥ १२ ॥
तत्राऽल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ १३ ॥
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः ।
ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता ॥ १४ ॥
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १५ ॥
पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।

सदा फूले फले रहते हैं। इस पर्वत पर एक धर्म का बढ़ानेवाला सरोवर भी है जिसमें सदैव कमल फूले रहते हैं। उसपर देवता और गन्धर्व बसे रहते हैं। यह पर्वत स्वर्ग के तुल्य है। देवता और ऋषियों के समूह के समूह वहां विचरा करते हैं और अनेक आश्चर्य भी बातें दिखाई देती हैं। वहीं पर ह्रदिनी नाम परमपुण्य नदी भी है, जिसको राजऋषि विश्वामित्र लाये थे। इसी नदी के तट पर राजा ययाति ने स्वर्ग से सत्पुरुषों के बीच में गिरकर फिर सनातन लोक पाये थे ॥१।१०॥

वहां एक पुण्य सरोवर और मैनाक और असित नामी मूल और फल से युक्त पर्वत भी है। इसी दिशा में कक्षसेन और च्यवन ऋषियों के पुण्य आश्रम हैं जहां थोड़ी तपस्या करने से भी मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वहीं जम्बूमार्ग नामी मृग और पक्षियों से युक्त आश्रम भी है जहां शुद्ध अन्तःकरण

वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥ १६ ॥
अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ १७ ॥
मनसाऽप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां ऊननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

रखनेवाले ऋषियों के आश्रम हैं। और इसके आगे केतुमाला, मन्या और गङ्गाद्वार नामी बड़े पुण्यद तीर्थ हैं, जहां तपस्वी लोग सदा रहा करते हैं। इसके आगे सैन्धव वन है, जहां पवित्र ब्राह्मण रहते हैं। इसी दिशा में पुष्कर नामवाला धर्म का बढानेवाला ब्रह्मा जी का एक सरोवर भी है जहां वैखानस नाम के सिद्ध ऋषियों का आश्रम है। हे राजा युधिष्ठिर! ब्रह्मा जी ने यहां वास करने के लिए यह कहा है कि जो कोई पुष्कर का स्मरण मन में भी करता है उसके सब पाप निश्चय दूर हो जाते हैं और वह स्वर्गलोक पाता है ॥१६।१८॥

वनपर्व का नवासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

अथ नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

धौम्य उवाच—उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो ।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ॥ २ ॥
सरस्वती महापुण्या ह्लादिनी तीर्थमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥ ३ ॥
यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ॥ ४ ॥
पुण्यं चाऽऽख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।

नब्बेवां अध्याय ॥ ९० ॥

धौम्य ऋषि बोले—हे राजा युधिष्ठिर! अब मैं उत्तर दिशा के तीर्थ और पुण्य स्थानों का वृत्तान्त कहता हूँ, तुम सावधानी से सुनो। क्योंकि कथा को मन में याद रखने से अच्छी श्रद्धा उत्पन्न होती है। इस दिशा में प्रथम सरस्वती, शालिनी, ह्लादिनी और यमुना नाम की नदियां बड़े पुण्य की देनेवाली हैं। यमुना का बड़ा वेग है, जो समुद्र में जा मिलती है। यहां प्लक्षा, वतरण नाम का बड़ा शुभ और पुण्यद

सहदेवोऽयजद्यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥ ५ ॥
एतस्मिन्नेव चाऽर्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन्गीयमाना द्विजातिभिः ॥ ६ ॥
अग्नयः सह देवेन ये चिता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ॥ ७ ॥
तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिः सप्त चाऽष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥ ८ ॥
कामकृद्यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः ॥ ९ ॥
सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
वालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥ १० ॥
दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महामनाः ।
कौन्तेयाऽनन्तयशसः सुव्रतस्याऽमितौजसः ॥ १२ ॥
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
एतावर्णावमर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ॥ १३ ॥

तीर्थ है, जहां ब्राह्मण लोग यज्ञ करके और सरस्वती में अवभृथ स्नान करके चले जाते हैं। वहीं अग्निशिर नाम का भी एक बड़ा दिव्य और कल्याणरूपी तीर्थ है जहां सहदेव ने यज्ञ किया था कि जिसके कारण से संसार में यह इन्द्र की कही हुई बात ब्राह्मणों के द्वारा फैल रही है कि यमुना के तट पर सहदेव ने अग्नि की सेवा की थी और उसके किये हुए यज्ञों में लाखों की दक्षिणा खर्च हुई थी। इसी दिशा में राजा भरत ने एक सौ अट्ठाईस अश्वमेध यज्ञ किये थे और यह सुनने में आया है कि इस राजा ने अगले समय में ब्राह्मणों की सब मनोकामनाएं पूर्ण की थी। वहीं शरभग ऋषि का भी परमपुण्यद आश्रम सुना जाता है ॥१।१०॥

इस दिशा में जो सरस्वती नदी है वह सत्पुरुषों से निरन्तर पूजित रहती है और अगले समय में इस नदी के तट पर वालखिल्य ऋषियों ने यज्ञ किया था। इसी दिशा में दृषद्वती नाम नदी भी बड़े पुण्य की देनेवाली है और पांचाल देश में न्यग्रोध नामी तीर्थ और द्रुपद नामी मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा है। यहीं पर दाल्भ्य ऋषि का आश्रम तीनों लोकों में विख्यात है। दाल्भ्य ऋषि बड़े यशस्वी और तेजस्वी थे और इसी स्थान पर ब्रह्मज्ञाता श्वेत श्याम और

वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ॥ १४ ॥
समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ॥ १५ ॥
ऋषिर्महान्महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ॥ १६ ॥
यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात्तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥ १७ ॥
अपि चाऽत्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः ॥ १८ ॥
यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान्मधुना समतर्पयन् ॥ १९ ॥
गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ॥ २० ॥
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत्ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ २१ ॥
सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः ॥ २२ ॥

रक्त वर्ण रखनेवाले सब वेदों के पण्डित नरनारायण ने मुख्य-मुख्य यज्ञ किये थे। अगले समय में यहां विशाख यूप पर देवताओं ने इन्द्र और वरुण के साथ कई प्रकार से तप किया था इससे यह स्थान बहुत पुण्य का देनेवाला है ॥१४।१५॥

यहां पर जो ढाक का वन है उसमें महाभाग जमदग्नि महर्षि ने यज्ञ किया था। उस यज्ञ में सब नदियां अपना अपना जल लेकर आई थीं और जमदग्नि जी को घेरकर खड़ी हो गई थीं। विश्वावसु गन्धर्व ने उनको इस प्रकार से दीक्षित देखकर आप अपने मुख से एक श्लोक कहा था जिसका अर्थ यह है कि हे देवताओ! महात्मा जमदग्नि जी के यज्ञ में नदियों ने आकर ब्राह्मणों को मधु पिलाकर तृप्त किया। इसी दिशा में श्री गङ्गा जी हिमाचल पहाड़ को, जिसपर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, अप्सरा, किरात और किन्नर लोग रहा करते हैं, फोड़कर निकली है। यह स्थान गङ्गाद्वार कहलाता है, वहां बहुत से ऋषि लोग रहते है और सनत्कुमार ऋषि धर्म के बढ़ाने की इच्छा से

सहदेवोऽयजद्यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥ ५ ॥
एतस्मिन्नेव चाऽर्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन्गीयमाना द्विजातिभिः ॥ ६ ॥
अग्नयः सह देवेन ये चिता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ॥ ७ ॥
तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिः सप्त चाऽष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥ ८ ॥
कामकृष्यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः ॥ ९ ॥
सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
वालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥ १० ॥
दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महामनाः ।
कौन्तेयाऽनन्तयशसः सुव्रतस्याऽमितौजसः ॥ १२ ॥
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिपु लोकेपु विश्रुतः ।
एतावर्णावयर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ॥ १३ ॥

तीर्थ है, जहां ब्राह्मण लोग यज्ञ करके और सरस्वती में अवभृथ स्नान करके चले जाते हैं। वहीं अग्निशिर नाम का भी एक बड़ा दिव्य और कल्याणरूपी तीर्थ है जहां सहदेव ने यज्ञ किया था कि जिसके कारण से संसार में यह इन्द्र की कही हुई बात ब्राह्मणों के द्वारा फैल रही है कि यमुना के तट पर सहदेव ने अग्नि की सेवा की थी और उसके किये हुए यज्ञों में लाखों की दक्षिणा खर्च हुई थी। इसी दिशा में राजा भरत ने एक सौ अट्ठावीस अश्वमेध यज्ञ किये थे और यह सुनने में आया है कि इस राजा ने अगले समय में ब्राह्मणों की सब मनोकामनाएं पूर्ण की थी। वहीं शरभंग ऋषि का भी परमपुण्यद आश्रम सुना जाता है ॥९।१०॥

इस दिशा में जो सरस्वती नदी है वह सत्पुरुषों से निरन्तर पूजित रहती है और अगले समय में इस नदी के तट पर वालखिल्य ऋषियों ने यज्ञ किया था। इसी दिशा में दृषद्वती नाम नदी भी बड़े पुण्य की देनेवाली है और पांचाल देश में न्यग्रोध नामी तीर्थ और द्रुपद नामी मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा है। यहीं पर दाल्भ्य ऋषि का आश्रम तीनों लोकों में विख्यात है। दाल्भ्य ऋषि बड़े यशस्वी और तेजस्वी थे और इसी स्थान पर महात्मा श्वेत श्याम और

वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ॥ १४ ॥
समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ॥ १५ ॥
ऋषिर्महान्महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ॥ १६ ॥
यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात्तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥ १७ ॥
अपि चाऽत्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः ॥ १८ ॥
यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान्मधुना समतर्पयन् ॥ १९ ॥
गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ॥ २० ॥
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत्ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ २१ ॥
सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः ॥ २२ ॥

रक्त वर्ण रखनेवाले सब वेदों के पण्डित नरनारायण ने मुख्य-मुख्य यज्ञ किये थे। अगले समय में यहां विशाख यूप पर देवताओं ने इन्द्र और वरुण के साथ कई प्रकार से तप किया था इसमें यह स्थान बहुत पुण्य का देनेवाला है ॥१४।१५॥

यहां पर जो ढाक का वन है उसमें महाभाग जमदग्नि महर्षि ने यज्ञ किया था। उस यज्ञमें सब नदियां अपना-अपना जल लेकर आई थीं और जमदग्नि जी को घेरकर खड़ी हो गई थीं। विश्वावसु गन्धर्व ने उनको इस प्रकार से दीक्षित देखकर आप अपने मुख से एक श्लोक कहा था जिसका अर्थ यह है कि हे देवताओ! महात्मा जमदग्नि जी के यज्ञ में नदियों ने आकर ब्राह्मणों को मधु पिलाकर तृप्त किया। इसी दिशा में श्री गङ्गा जी हिमाचल पहाड़ को, जिसपर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, अप्सरा, किरात और किन्नर लोग रहा करते हैं, फोड़कर निकली हैं। यह स्थान गङ्गाद्वार कहलाता है, वहां बहुत से ऋषि लोग रहते हैं और सनत्कुमार ऋषि धर्म के बढ़ाने की इच्छा से

भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते ।
राजन् स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ॥ २३ ॥
यः स भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
नारायण प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥ २४ ॥
तस्याऽतियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २५ ॥
उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहा पुरा ।
सुवर्णसिकता राजन् विशालां बदरीमनु ॥ २६ ॥
ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः ।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम् ॥ २७ ॥
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत्सर्वं तीर्थान्यायतनानि च ॥ २८ ॥
तत्पुण्यं परमं ब्रह्म तत्तीर्थं तत्तपोवनम् ।
तत्परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम् ॥ २९ ॥
शाश्वतं परमं चैव धातारं परमं पदम् ।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्त्रदृष्टयः ॥ ३० ॥
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ।

उसका ध्यान किया करते है । यहां कनखल और पुरु नाम पर्वत हैं, जहां राजा पुरूरवा गया था । यह सब धर्म के बढ़ानेवाले स्थान है ॥१६।२२॥

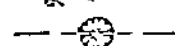
वहीं एक बड़े पर्वत पर, जहां महाऋषि रहते हैं, भृगु जी ने तपस्या की थी। वह पर्वत तब से भृगुतुङ्ग आश्रम नाम से प्रसिद्ध है । उसके आगे बदरी वन के निकट तीनों लोकों में विख्यात त्रिकालज्ञ श्री विष्णु भगवान का विशाल और पुण्यद आश्रम है । हे राजा युधिष्ठिर ! इस बदरी वन के निकट पहले गङ्गा का जल एक ओर गरम और एक ओर शीतल बहता था और बालू सुवर्ण मयुक्त थी। वहां पर बड़े बड़े महाभाग और तेजस्वी ऋषि और देवता नित्य नारायण को नमस्कार करते हैं । हे युधिष्ठिर ! जहां नारायण है वहीं सब जगत्, सब तीर्थ और सब स्थान समझने चाहियें । नारायण ही पुण्य है, नारायण ही परब्रह्म है, नारायण ही तीर्थ है, नारायण ही तपोवन है, नारायण ही पर है, नारायण ही परम देवता है, नारायण ही सब प्राणियों का परमेश्वर है और नारायण ही नित्य श्रेष्ठ धाता और परम पद हैं। शास्त्र के जाननेवाले और विद्वान् लोग उस नारायण को ऐसा समझकर किसी प्रकार का शोच नहीं करते हैं ॥२३।३०॥

जहां आदिदेव और महायोगी मधुसूदन जी

आदिदेवो महायोगी यत्राऽऽस्ते मधुसूदनः ॥ ३१ ॥
पुण्यानामपि तत्पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा ।
एतानि राजन् पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ३२ ॥
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥ ३३ ॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ।
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विहरिष्यसि ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

है वहीं सब तपोधन सिद्ध और सब देवऋषि ममज्ञन चाहियें। वह आदिदेव पुण्यों का भी पुण्य है। तुमको इसमें कुछ भी सन्देह करना उचित नहीं है। हे युधिष्ठिर! ये सब तीर्थ और स्थान, जो हमने वर्णन किये हैं, सब धर्म के बढानेवाले और वसु, साध्य, आदित्य, मरुद्गण, अश्विनीकुमार और देवताओं के तुल्य प्रभाव रखनेवाले ऋषियों से सेवित हैं। इनको जो तुम अपने महाभाग भाई और ब्राह्मणों सहित यात्रा करोगे तो तुम्हारा सब शोक दूर हो जायगा ॥३१।३४॥



अथ एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवं संभाषमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन ।
लोमशः स महातेजा ऋषिस्तत्राऽऽजगाम ह ॥ १ ॥
तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते ।
उपातिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवाऽऽमराः ॥ २ ॥
समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छाऽऽगमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥ ३ ॥
स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।

इक्यानवेवां अध्याय ॥ ९१ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! जब धौम्य ऋषि उक्त कथा राजा युधिष्ठिर से कह चुके तब वहां बड़े तेजस्वी लोमश ऋषि आये। उनको आये हुए देखकर राजा युधिष्ठिर सब साथी ब्राह्मणों सहित उठ खडे हुए और आगे जाकर इस प्रकार से उनके समीप जा खड़े हुए जैसे इन्द्र के समीप देवता जा खड़े हों। राजा युधिष्ठिर ने उस समय लोमश ऋषि की विधिपूर्वक पूजा की और उनसे वहां आने और

उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥ ४ ॥
संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वांल्लोकान्यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य भवनं तत्राऽपश्यं सुरेश्वरम् ॥ ५ ॥
तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्याऽर्धासनगतं तत्र ते विस्मयो महान् ॥ ६ ॥
आसीत्पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान्प्रति ॥ ७ ॥
सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ।
वचनात्पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥ ८ ॥
आख्यास्ये ते प्रियं तात महत्पाण्डवनन्दन ।
ऋषिभिः सहितो राजन् कृष्णया चैव तच्छृणु ॥ ९ ॥
यत्त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं विभो ॥ १० ॥
यत्तद्ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागमत् ।
अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना ॥ ११ ॥
ससमन्त्रं ससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम् ।
वज्रमस्त्राणि चाऽन्यानि दण्डादीनि युधिष्ठिर ॥ १२ ॥

घूमने का कारण पूछा। लोमश ऋषि यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और मधुर वाणी से पांडवों को प्रसन्न करते हुए कहने लगे— युधिष्ठिर ! दैव की इच्छा से मैं सब लोकों में घूमता हुआ इन्द्रलोक को चला गया था वहां मैंने इन्द्र के दर्शन किये और तुम्हारे वीर भाई अर्जुन को भी इन्द्र के आधे आसन पर बैठा हुआ देखा। उसको बैठे हुए देखकर मुझको बड़ा आश्चर्य और विस्मय हुआ। तब उस समय मुझसे देवेन्द्र ने यह कहा कि तुम पांडवों के पास जाओ। सो मैं तुमको और तुम्हारे छोटे भाइयों को देखने की इच्छा से इन्द्र और अर्जुन के कहने के अनुसार वहीं से चला आता हूं। अब मैं तुमसे तुम्हारे हित की बात कहता हूं, तुम अपने भाइयों और द्रौपदी सहित सुनो ॥१।९॥

तुमने जो अर्जुन को अस्त्र सीखने के लिये भेजा था सो उसको ब्रह्मशिर नामी अप्रमित अस्त्र जो अमृत से प्रकट हुआ था और शिव जी की तपस्या करने पर मिला था संहार, प्रायश्चित्त और मङ्गल अर्थात् अस्त्र को छोड़ना, खींचना, रक्षा करना और भस्म हुए पदार्थ को फिर ज्यों का त्यों कर देना, मन्त्र और विधान सहित महादेव जी से प्राप्त हो गया है और यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र से वज्र आदि दूसरे अस्त्र भी मिल गये हैं। इनके सिवाय उसने विश्वावसु गंधर्व

यमात्कुवेराद्वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान्पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ॥ १३ ॥
विश्वावसोस्तु तनयाद्गीतं नृत्यं च साम च ।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद्यथाविधि ॥ १४ ॥
एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ।
सुखं वसति वीभत्सुरनुजस्याऽनुजस्तव ॥ १५ ॥
यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे ॥ १६ ॥
भवान्मनुष्यलोकेऽपि गमिष्यति न संशयः ।
ब्रूयाद्युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम ॥ १७ ॥
आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः ।
सुरकार्यं महत्कृत्वा यदशक्यं दिवौकसैः ॥ १८ ॥
तपसाऽपि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ १९ ॥
अहं च कर्णं जानामि यथावद्भरतर्षभ ।
सत्यसन्धं महोत्साहं महावीर्यं महाबलम् ॥ २० ॥
महाहवेष्वप्रतिमं महायुद्धविशारदम् ।
महाधनुर्धरं वीरं महास्त्रं वरवर्णिनम् ॥ २१ ॥
महेश्वरसुतप्रख्यमादित्यतनयं प्रभुम् ।

की बेटी से गाना, बजाना और नाचना भी विधिपूर्वक सीख लिया है। सो वह तुम्हारा छोटा भाई अब सम्पूर्ण अस्त्र और गाधर्व वेद को सीखकर इन्द्र के यहां सुखपूर्वक रहता है ॥११।१५॥

जब मैं इन्द्रलोक से चलने लगा तब इन्द्र ने मुझसे कहा कि आप अवश्य मृत्युलोक में भी जायँगे। वहां जब आप जायँ तब मेरी ओर से युधिष्ठिर से यह कह देना कि तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन अस्त्रविद्या सीख चुका है। अब वह कुछ देवताओं का कार्य, जो देवताओं से नहीं हो सक्ता है, करके शीघ्र तुम्हारे पास आवेगा। जबतक तुम भी भाइयों सहित तपस्या करो। तप से श्रेष्ठ और कोई पदार्थ नहीं है। मोक्ष भी तप से ही मिलता है। मैं उस सत्यप्रतिज्ञ कर्ण को जो बड़ा वीर, बड़ा पराक्रमी, युद्ध में अपने समान दूसरा न रखनेवाला, युद्ध में निपुण, बड़ा धनुषधारी, बड़ा अस्त्रवेत्ता, परमसुन्दर, सूर्य का पुत्र और महेश्वर

तथाऽर्जुनमतिस्कन्धं सहजोल्बणपौरुषम् ।
न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम् ॥ २२ ॥
यच्चापि ते भयं कर्णान्मनसिस्थमरिन्दम ।
तच्चाऽप्यपहरिष्यामि सव्यसाचिन्युपागते ॥ २३ ॥
यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति ।
समहर्षिर्लोमशस्ते कथयिष्यत्यसंशयम् ॥ २४ ॥
यच्च किंचित्तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत ।
ब्रह्मर्षिरेष ब्रूयात्ते न तच्छ्रद्धेयमन्यथा ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

के पुत्र के तुल्य है और अर्जुन को, जो ऊँचे कन्धे रखनेवाले शरीर के साथ उत्पन्न हुआ था और जिसका पराक्रम स्पष्ट है, जानता हूं। कर्ण युद्ध में अर्जुन की सोलहवीं कला को भी नहीं पहुँचता है और जो तेरे मन में कर्ण की ओर का खटका लग रहा है वह भी मैं अर्जुन के तेरे पास चले आने पर दूर कर दूँगा। तबतक तुमने जो तीर्थयात्रा का मन में विचार किया है वही करो। लोमश ऋषि तुमको सब तीर्थों में जाने का महात्म्य सुनावेंगे। उनके वचनों पर तुमको विश्वास करना चाहिये ॥१६।२५॥

वनपर्व का इक्यानवेंवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९१ ॥

अथ द्विनवतितमोऽध्याय ॥ ९२ ॥

लोमश उवाच—धनञ्जयेन चाऽप्युक्तं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेर्धर्म्यया श्रिया ॥ १ ॥
त्वं हि धर्मान्परान्वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि धर्मं राज्ञां सनातनम् ॥ २ ॥
स भवान्परमं वेद पावनं पुरुषं प्रति ।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवान् ॥ ३ ॥

बानवेवां अध्याय ॥ ९२ ॥

लोमश ऋषि बोले—हे राजा युधिष्ठिर! जब इन्द्र मुझसे उक्त प्रकार से कह चुका, तब अर्जुन कहने लगा—हे महाराज! आप मेरे भाई युधिष्ठिर को धर्मरूपी लक्ष्मी से युक्त कीजिये। आप सब श्रेष्ठ धर्म, तप और राजाओं के सनातन धर्मों को जानते हैं और जिस धर्म से मनुष्य पवित्र हो जाता है वह भी आपको अच्छी तरह विदित है। इससे आप मेरे भाइयों को तीर्थरूपी पुण्य से युक्त कीजिये और ऐसा कीजिये कि जिससे राजा युधिष्ठिर तीर्थों की यात्रा और गौओं का दान करें। आपकी रक्षा में रहने से राजा युधिष्ठिर सब

यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात्स पार्थिवः ।
तथा सर्वात्मना कार्यमिति मामर्जुनोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
भवता चाऽनुगुप्तोऽसौ चरेत्तीर्थानि सर्वशः ।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ५ ॥
दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाऽप्यंगिरा रविम् ।
तथा रक्षस्व कौन्तेयान्राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः ।
त्वयाऽभिगुप्तं कौन्तेयं न विवर्त्तेयुरन्तिकम् ॥ ७ ॥
सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च ।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥ ८ ॥
द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन ।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥ ९ ॥
इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर ।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥ १० ॥
नाऽनृजुर्नाऽकृतात्मा च नाऽविद्यो न च पापकृत् ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥ ११ ॥
त्वं तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसङ्गरः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो भूय एव भविष्यसि ॥ १२ ॥

तीर्थों की यात्रा कर सकेंगे और दुर्ग विषम स्थानों में आप राजा की राक्षसों से रक्षा कीजियेगा ॥१।५॥

जैसे पहले समय में दधीचि ऋषि ने इन्द्र की और अङ्गिरा ऋषि ने सूर्य की रक्षा की थी। यातुधान नामी बहुत से राक्षस पर्वतों के समान हैं, आपकी रक्षा में रहने से वह राजा के निकट न आ सकेंगे। सो हे युधिष्ठिर! मैं इन्द्र की आज्ञा और अर्जुन की प्रार्थना से तुम्हारे साथ रहकर सब विघ्नों से तुम्हारी रक्षा करूँगा। मैंने पहले दो वार सब तीर्थों की यात्रा की है। अब तीसरी वार तुम्हारे साथ यात्रा करूँगा। हे राजा युधिष्ठिर! ये तीर्थयात्रा सब विघ्नों का नाश करनेवाली है। मनु आदि सब राजऋषियों ने इसको किया है ॥६।१०॥

जो मनुष्य कुटिल, अशुद्ध अंतःकरण, विद्याहीन, पापी और कुबुद्धी होता है, वह तीर्थों में स्नान नहीं कर सक्ता है। तुम तो सदा धर्ममति,धर्मज्ञ, सत्यवादी, सब सङ्गों से विमुक्त और ऐश्वर्यवान् हो और राजा भगीरथ, राजा ययाति और गय आदि अगले धर्मज्ञ

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गयादयः ।
यथा ययातिः कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—न हर्षात्संप्रपश्यामि वाक्यस्याऽस्योत्तरं क्वचित् ।
स्मरेद्धि देवराजो यं को नामाऽभ्यधिकस्ततः ॥ १४ ॥
भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनञ्जयः ।
वासवः स्मरते यस्य को नामाऽभ्यधिकस्ततः ॥ १५ ॥
यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ॥ १६ ॥
तद्यदा मन्यसे ब्रह्मन्गमनं तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि तीर्थान्येष मे निश्चयः परः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—गमने कृतबुद्धिं तु पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—भिक्षाभुजो निवर्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
क्षुत्तृडध्वश्रमायासशीतार्तिमसहिष्णवः ॥ १९ ॥
ते सर्वे विनिवर्तन्तां ये च मिष्टभुजो द्विजाः ।
पक्वान्नलेह्यपानानां मांसानां च विकल्पकाः ॥ २० ॥

राजाओं में किसी प्रकार से कम नहीं हो । तुमको तीर्थयात्रा दुर्लभ नहीं है । यह सुनकर युधिष्ठिर बोले—हे महाराज ! मैं आपकी बातों का उत्तर त्रिलोकी में नहीं देखता हूँ । आज मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ । भला इससे भी और क्या अधिक होगा, जो इन्द्र मेरा स्मरण करें और जिसका मिलना आप जैसे सत्पुरुषों से हो और भाई जिसका अर्जुन सा हो, जिसको याद देवेन्द्र सा देवता करें, इससे बढ़कर कौन मनुष्य संसार में होगा ? ॥१४।१५॥

हे महाराज ! जो भगवान् इन्द्र ने मुझे तीर्थयात्रा करने की आज्ञा दी है उसके करने के लिए मैंने धौम्य ऋषि की आज्ञानुसार पहले से विचार कर रक्खा है । सो हे महाराज ! जब आप इच्छा करें तभी मैं भी तीर्थयात्रा करने के लिये आपके साथ चलने को उपस्थित हूँ । वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! लोमश ऋषि युधिष्ठिर को तीर्थयात्रा करने के लिये उपस्थित देखकर कहने लगे कि तुम अपने साथ के समुदाय को थोड़ा करो । ऐसा करने से यात्रा इच्छा के अनुसार होगी । यह सुनकर युधिष्ठिर सब समुदाय से कहने लगे कि तुममें से जो ब्राह्मण और यती, भिक्षा-भोजन करनेवाले और भूख, प्यास, राह चलने की थकावट और शीत और गरमी को नहीं सह सकते हों और मिष्टान्न, पक्वान्न, लेह्य, पान और मांस-भोजन करने की इच्छा

तेऽपि सर्वे निवर्तन्तां ये च सूदानुयायिनः ।
मया यथोचिताजीव्यैः संविभक्ताश्च वृत्तिभिः ॥ २१ ॥
ये चाऽप्यनुगताः पौरा राजभक्तिपुरः सराः ।
धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु ते च वै ॥ २२ ॥
स दास्यति यथा कालमुचिता यस्य या भृतिः ।
स चेद्यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वरः ॥ २३ ॥
अस्मत्प्रियहितार्थाय पांचाल्यो वः प्रदास्यति ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारप्रपीडिताः ।
विप्राश्च यतयो मुख्या जग्मुर्नागपुरं प्रति ॥ २५ ॥
तान्सर्वान्धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाऽम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद्धनैश्च समतर्पयत् ॥ २६ ॥
ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

रखते हों वे सब लौट जायँ ॥१६।२०॥

हमारे रसोइये, जो हमारे साथ अन्नादि भोजन करनेवाले हैं और पुरवासी, जो राजभक्ति के कारण से हमारे साथ हैं, वे भी लौट जायँ और राजा धृतराष्ट्र के पास चले जायँ। राजा धृतराष्ट्र तुम सबको यथोचित मासिक और जीविका देंगे और जो न दें तो तुम सब लोग पाञ्चाल देश में राजा द्रुपद के पास चले जाना। राजा द्रुपद हमारी प्रीति के कारण से तुम सब को जीविका देंगे। वैशम्पायन ने कहा– हे राजा जनमेजय! यह सुनकर बहुत से पुरवासी वेदपाठी ब्राह्मण और यती दुःखी होकर हस्तिनापुर को लौटकर चले गये। राजा धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर की प्रीति के कारण से उन सबको प्रीतिपूर्वक अपने पास रख लिया और सबको धन देकर तृप्त कर दिया और युधिष्ठिर ने उनके चले जाने पर लोमश ऋषि और थोड़े ब्राह्मणों सहित उस वन में तीन रात्रि वास किया ॥२१।२७॥

वनपर्व का बानवेंवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

अथ त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः ।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह ।
ऋषिणा चैव सहितो लोमशेन महात्मना ॥ २ ॥
अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव ।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव ॥ ३ ॥
श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर ॥ ४ ॥
भवतो भ्रातरः शूरा धनुर्धरवराः सदा ।
भवद्भिः पालिताः शूरैर्गच्छामो वयमप्युत ॥ ५ ॥
भवत्प्रसादाद्धि वयं प्राप्नुयामः सुखं फलम् ।
तीर्थानां पृथिवीपाल वनानां च विशांपते ॥ ६ ॥
तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः ।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसंदर्शनान्नृप ॥ ७ ॥
भवानपि नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भारत ।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह ॥ ८ ॥
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव ।
ध्रुवं प्राप्स्यसि दुष्प्रापाँल्लोकांस्तीर्थपरिप्लुतः ॥ ९ ॥
प्रभासादीनि तीर्थानि महेन्द्रादींश्च पर्वतान् ।

तिरानवेंवा अध्याय ॥ ९३ ॥

वैशम्पायन जी बोले—हे राजा जनमेजय! जब राजा युधिष्ठिर तीर्थयात्रा करने के लिये चलने को उद्यत हुए, तब उस समय सब वनवासी ब्राह्मण उनके पास आकर कहने लगे—हे महाराज! आप तीर्थ करने को अपने भाई और लोमश ऋषि के साथ जाते है हम लोगों को भी संग ले चलिये। बिना आपके हम लोग अकेले इन तीर्थों में नहीं जा सकते। क्योंकि वे तीर्थ श्वापदों से पूर्ण होकर दुर्ग और विषम है और अल्प पुरुष वहां नहीं जा सकते हैं ॥१।४॥

आप सब भाई बड़े शूरवीर और धनुषधारियों में श्रेष्ठ हैं। आपकी रक्षा में रहकर हम लोग भी तीर्थ कर आवेंगे और आपकी कृपा से सुखपूर्वक तीर्थ और वनों की यात्रा का फल पावेंगे। उन तीर्थों का दर्शन और स्नान करके शुद्ध और निष्पाप हो जायँगे। और आपको भी तीर्थों में स्नान करने से निश्चय वे दुष्प्राप्य लोक मिलेंगे जो राजा कार्तवीर्य राजऋषि अष्टक, लोमपाद और राजा भरत को मिले है ॥५।९॥

हम लोग भी आपके साथ चलकर प्रभास आदि तीर्थ, महेन्द्र आदि पर्वत, गङ्गा आदि नदी और प्लक्ष आदि वनस्पतियों को देखना चाहते हैं। यदि आप

गङ्गायाः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन् ॥ १० ॥
त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम् ।
यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित्प्रीतिर्जनाधिप ॥ ११ ॥
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ।
तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा ॥ १२ ॥
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि ।
तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ॥ १३ ॥
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः ।
विधिवत्तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ॥ १४ ॥
धूतपाप्मा सहाऽस्माभिर्लोमशेनाऽऽभिपालितः ।
स राजा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ॥ १५ ॥
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
बाढमित्यब्रवीत्सर्वांस्तानृषीन्पाण्डवर्षभः ॥ १६ ॥
लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यं चैव पुरोहितम् ।
ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ॥ १७ ॥
द्रौपद्या चाऽनवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे ।
अथ व्यासो महाभागस्तथा पर्वतनारदौ ॥ १८ ॥
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः ।

लोगों को ब्राह्मणों से प्रेम है तो हम लोगों के कहने को मान लीजिये इसमें आपका कल्याण होगा। तीर्थों में बहुधा तप के विघ्न करनेवाले राक्षस विचरा करते हैं आप हम लोगों की उनसे रक्षा कीजिये और जो-जो तीर्थ नारद जी, धौम्य ऋषि और तपस्वी देवऋषि लोमश जी ने वर्णन किये हैं उन सब की विधिपूर्वक यात्रा कीजिये। उन ब्राह्मणों की उक्त बात को सुनकर युधिष्ठिर ने आंखों में आनन्द के आशू भरकर सब भाइयों के बीच में कहा कि बहुत अच्छा आप जैसा कहते है वैसा हम करेंगे ॥१०।१६॥

इसके पीछे युधिष्ठिर ने भाइयों सहित लोमश ऋषि और धौम्य पुरोहित की पूजा की और द्रौपदी सहित तीर्थयात्रा करने का विचार किया। उसी समय वहां पाण्डवों को देखने के लिये महाभाग व्यास जी, नारद और पर्वत ऋषि आये। युधिष्ठिर ने विधिपूर्वक उन तीनों की पूजा की और वे तीनों ऋषि सत्कार पाकर कहने लगे—हे युधिष्ठिर! हे नकुल! हे सहदेव! हे भीमसेन! तुम चारों भाई ऋजुता को ग्रहण करो

तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजां चक्रे यथाविधि ।
सत्कृतास्ते महाभागा युधिष्ठिरमथाऽब्रुवन् ॥ १९ ॥
ऋषय ऊचु—युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुताऽऽर्जवम् ।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ॥ २० ॥
शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम् ।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ॥ २१ ॥
मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप ।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि द्रक्ष्यथ ॥ २२ ॥
ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः ।
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ॥ २३ ॥
ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ॥ २४ ॥
लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च ।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ॥ २५ ॥
धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः ।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ॥ २६ ॥
कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः ।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्ततः ॥ २७ ॥
इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः ।

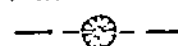
और मन को शुद्ध करके तीर्थयात्रा करो। ब्राह्मण लोग कहते हैं कि शरीर से नियम का साधना, मानुषव्रत और मन को शुद्ध करना दैवव्रत कहलाते हैं परन्तु शौच के लिये मन का निर्दोष होना ही पर्याप्त है। इससे तुम सब शरीर और मन के नियमों का साधन और मन करके शुद्ध ही हो। अब दैवव्रत को धारण करके, आपस में मित्रता रखकर तीर्थयात्रा करो। तुमको तीर्थयात्रा का फल यथोक्त मिलेगा। ॥१७।२३॥

यह सुनकर पाण्डवों ने द्रौपदी सहित वह व्रत स्वीकार किया और अगहन की पूनो के पीछे पुष्य नक्षत्र में मृगछाला और जटा धारण किये हुए और अभेद्य कवच अर्थात् वस्त्र पहर हुए लोमश ऋषि, व्यास जी, नारद और पर्वत ऋषि के चरणों को छूकर मुनियों से स्वस्त्ययन कराकर उन सब वनवासी ब्राह्मणों और धौम्य पुरोहित सहित चल दिये।

महानसव्यापृतैश्च तथाऽन्यैः परिचारकैः ॥ २८ ॥
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः ।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां त्रिनवतितमोऽध्याय ॥ ९३ ॥

इन्द्रसेन आदि भृत्य भी पन्द्रह रथों को लिये हुए, वह सेवक जो साथ जाने के योग्य थे, उनके साथ हो लिये और वह पाण्डव अपने-अपने आयुध अर्थात् हथियारों और तर्कसों को बाधे हुए पूर्व दिशा को चल दिये ॥२४।२९॥



वनपर्व का तिरानवेवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९३ ॥

अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम ।
तथाऽस्मि दुःखसंततो यथा नाऽन्यो महीपतिः ॥ १ ॥
परांश्च निर्गुणान्मन्ये न च धर्मगतानपि ।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ॥ २ ॥
लोमश उवाच—नाऽत्र दुःखं त्वया राजन् कार्यं पार्थ कथञ्चन ।
यदधर्मेण वर्धेयुरधर्मरुचयो जनाः ॥ ३ ॥
वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४ ॥
मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते ।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ॥ ५ ॥
पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो ।

चौरानवेवा अध्याय ॥ ९४ ॥

उन्होंने मार्ग में लोमश ऋषि से पूछा हे महाराज! यद्यपि हम ऐसे दुःख में पड़े है, कि दूसरे राजाओं को कभी ऐसा दुःख न हुआ होगा। तो भी हम अपने को उत्तम गुणों से हीन नहीं समझते है। हे लोमश! हम जानते हैं कि हमारे शत्रु लोग अधर्मी और गुणहीन हैं तो भी न जाने उनकी वृद्धि क्यों होती जाती है। यह सुनकर लोमश ऋषि ने कहा—हे युधिष्ठिर! अधर्मी पुरुषों को अधर्म करने पर भी बढ़ते हुए देखकर तुमको दुःखी होना उचित नहीं है, हां ऐसा अवश्य होता है कि अधर्म करने पर भी मनुष्य की वृद्धि और कल्याण होता है और शत्रुओं को भी जीत लेता है परन्तु अन्त में मूल सहित धूल में मिल जाता है ॥१।४॥

मैंने देखा है कि दैत्य और दानवों ने अधर्म

अरोचयन्सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ॥ ६ ॥
तीर्थानि देवा विविशुर्नाऽविशन्भारताऽसुराः ।
तानधर्मकृतो दर्पः पूर्वमेव समाविशत् ॥ ७ ॥
दर्पान्मानः समभवन्मानात्क्रोधो व्यजायत ।
क्रोधादह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत् ॥ ८ ॥
तानलज्जान्गतह्रीकान्हीनवृत्तान्वृथाव्रतान् ।
क्षमा लक्ष्मीः स्वधर्मश्च न चिरात्प्रजहुस्ततः ॥ ९ ॥
लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान्नृप ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान्दर्पोपहतचेतसः ॥ १० ॥
दैतेयान्दानवांश्चैव कलिरप्याविशत्ततः ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान्दानवान्कलिना हतान् ॥ ११ ॥
दर्पाभिभूतान्कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः ।
मानाभिभूतानचिराद्विनाशः समपद्यत ॥ १२ ॥
निर्यशस्कास्तथा दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः ।
देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ १३ ॥
अभ्यगच्छन्धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव ॥ १४ ॥

करके बड़ी वृद्धि पाई परन्तु अन्त में वे जड़ पेड़ से नाश हो गये और देवयुग में मैंने यह भी देखा था कि देवताओं ने धर्म में रुचि की और दैत्यों ने धर्म का त्याग किया। सो धर्म करने के कारण से देवता तीर्थ में प्रवेश हो गये और दैत्य नहीं होने पाये क्योंकि उनके मन में अधर्म से उत्पन्न हुआ गर्व प्रवेश हो रहा था। उस गर्व से मान और क्रोध की अधिकता हुई और क्रोध से खोटे कर्म करने लगे और लज्जा जाती रही। इस प्रकार से उनका मन नष्ट हो गया। इसके पीछे जब दैत्य व्रतहीन और निर्लज्ज हो गये तब क्षमा लक्ष्मी और धर्म ने उनका परित्याग कर दिया ॥५।९॥

और इन तीनों के न होने पर उन दैत्य दानवों के हृदय में, जिन जिनका चित्त गर्व से नष्ट हो रहा था, कलि ने प्रवेश किया। इस प्रकार दरिद्रता से आविष्ट, कलि से हत, घमण्ड से तिरस्कृत होने के कारण उन क्रियाहीन, निर्बुद्धि, और मानी दैत्य दानवों का नाश हो गया। और देवता लोग जो धर्मात्मा और शीलवान् थे सागर, नदी, सरोवर आदि पुण्य स्थानों में चले गये और वहां उन्होंने तप, यज्ञ और दान कर करके अपने सब पाप दूर कर दिये और कल्याण प्राप्त किया। सो हे राजा युधिष्ठिर! जिस प्रकार

प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे ।
एवमादानवन्तश्च निरादानाश्च सर्वशः ॥ १५ ॥
तीर्थान्यगच्छन्विबुधास्तेनाऽऽपुर्भूतिमुत्तमाम् ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः ॥ १६ ॥
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः ।
यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥
भगीरथो वसुमना गयः पूरुः पुरूरवाः ।
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादंभसश्च ते ॥ १८ ॥
तीर्थाभिगमनात्पूता दर्शनाच्च महात्मनाम् ।
अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशांपते ॥ १९ ॥
तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्ध्वा सुविपुलां श्रियम् ।
यथा चेक्ष्वाकुरभवत्सपुत्रजनबान्धवः ॥ २० ॥
मुचुकुन्दोऽथ मांधाता मरुत्तश्च महीपतिः ।
कीर्तिं पुण्यामविन्दन्त यथा देवास्तपोबलात् ।
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसि ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रास्त्वधर्मेण मोहेन च वशीकृताः ।
न चिराद्विनशिष्यन्ति दैत्या इव न संशयः ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

नियमपूर्वक तीर्थयात्रा करने के कारण से देवताओं को परम ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था। तुम भी इसी प्रकार से अपने छोटे भाइयों सहित इन तीर्थों में स्नान करके फिर अपनी लक्ष्मी पाओगे यह सनातन धर्म है। देखो, राजा नृग, शिवि, भगीरथ व सुमना, गय, पुरु और राजा पुरूरवा ने तीर्थयात्रा, तपस्या और महात्माओं के दर्शन करने से ही पुण्य, यश और द्रव्य पाये थे। तुमको भी इसी प्रकार से लक्ष्मी मिलेगी और तुम्हारा पुण्य और तुम्हारी कीर्ति राजा इक्ष्वाकु, राजा मुचुकुन्द, राजा मान्धाता और राजा मरुत की भी होगी। तुमको सब ऐश्वर्य और लक्ष्मी उसी प्रकार से मिलेंगे जैसे देवता और देवर्षियों को तपस्या करने से मिले थे और ये धृतराष्ट्र के पुत्र जो मोह के वश में हो रहे हैं थोड़े ही दिनों में दैत्यों की तरह नाश हो जायँगे ॥ १०।२२॥

वनपर्व का चौरानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९४ ॥

अथ पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

वैशम्पायन उवाच–ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह ।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ॥ १ ॥
ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप ।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत ॥ २ ॥
तत्र देवान्पितॄन्विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः ।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च भारत ।
कालकोट्यां विषप्रस्थे गिरावुष्य च कौरवाः ॥ ३ ॥
बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ।
प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते ॥ ४ ॥
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चाऽऽतस्थुरुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोश्चैव सङ्गमे सत्यसङ्गराः ॥ ५ ॥
विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ।
तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः ॥ ६ ॥
जग्मुः पाण्डुसुता राजन् ब्राह्मणैः सह भारत ।
तत्र ते न्यवसन्वीरास्तपश्चाऽऽतस्थुरुत्तमम् ॥ ७ ॥
सन्तर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ।
ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाऽभिसत्कृतम् ॥ ८ ॥

पिचानवेवां अध्याय ॥ ९५ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! वे पाण्डव इस प्रकार से अनेक प्रकार की बातें करते हुए और क्रमपूर्वक अनेक स्थानों में ठहरते हुए सब साथियों सहित नैमिष वन में और गोमती के अनेक तीर्थों में स्नान करके गोदान और धन दान दिये। और इन्होंने कन्या तीर्थ, अश्व तीर्थ और गौओं के तीर्थ में विधिपूर्वक तर्पण करके कालकोटि और विषप्रस्थ पर्वतों पर वास किया। इसके पीछे बाहुदा तीर्थ में जाकर इन सब ने स्नान किया और वहां से प्रयाग को जो देवताओं के यज्ञ का स्थान है गये। वहां जाकर कुछ काल वास करके तपस्या की और गङ्गा और यमुना के संगम पर ब्राह्मणों को धन का दान दिया। इसके उपरांत वे पाण्डव सब ब्राह्मणों सहित ब्रह्मा जी की वेदी को गये और वहां रहकर कुछ काल तपस्या की। वहां वे नित्य वन-फल लाकर ब्राह्मणों को भोजन कराते थे। ब्रह्मा जी की वेदी से चलकर गयशिर नाम पर्वत पर गये जो गयनामी पुण्यात्मा और धर्मज्ञ राजऋषि से संस्कार किया हुआ है और

राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनाऽनुपमद्युतिम् ।
सरो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी ॥ ९ ॥
वानीरमालिनी रम्या नदी पुलिनशोभिता ।
दिव्यं पवित्रकूटे च पवित्रधरणीधरे ॥ १० ॥
ऋषिजुष्टं सुपुण्यं तत्तीर्थं ब्रह्मसरोऽतुलम् ।
अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति ॥ ११ ॥
उवाच च स्वयं तत्र महाराजः सनातनः ।
सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशांपते ॥ १२ ॥
यत्र संनिहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ।
तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ॥ १३ ॥
ऋषियज्ञेन महता यत्राऽक्षयवटो महान् ।
अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम् ॥ १४ ॥
ते तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः ।
ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः ॥ १५ ॥
चातुर्मास्येनाऽयजन्त आर्षेण विधिना तदा ।
तत्र विद्यातपोवृद्धा ब्राह्मणा वेद पारगाः ।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ॥ १६ ॥
तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद्राजन्नामूर्तरयसं गयम् ॥ १७ ॥

बड़ा पवित्र और दिव्य है। वहीं बड़ी रमणीक एक महानदी भी है जिसके तट वानीर वृक्ष और पुलिन अर्थात् बालूके टापुओं से सुशोभित होरहे थे ॥९।१०॥

उसी स्थान पर ब्रह्मसर नाम का एक तीर्थ भी है जहां ऋषियों के अनेक स्थान हैं। वहीं से अगस्त्य जी यमराज के पास गये थे। इसी स्थान पर सब नदियों का आविर्भाव अर्थात् प्रकट होने की जगह है और यमराज ने भी वहीं वास किया था। यहीं पिनाक-धारी शिव जी भी सदा वास करते हैं। पाण्डवों ने वहा जाकर चातुर्मास्य और ऋषि यज्ञ किये और वहा जो अक्षयवट है जहा यज्ञ करने से यज्ञ का फल अक्षय बना रहता है उसके नीचे वास करके पाण्डवों ने उपवास किये। वहा पाण्डवों के यज्ञ में सैकड़ों तपस्वी, विद्वान्, वेदपारग और महात्मा ब्राह्मण लोग भी आये। वे सभा में बैठकर अनेक पुण्यरूपी कथा कहने लगे। उनमें से शमठ नामी ऋषि जो विद्यावान्, व्रती और

शमठ उवाच—अमूर्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे शृणु भारत ॥ १८ ॥
यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।
यत्राऽन्नपर्वता राजञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥
घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा ।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः ॥ २० ॥
अहन्यहनि चाऽप्येवं याचतां संप्रदीयते ।
अन्ये च ब्राह्मणा राजन् भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम् ॥ २१ ॥
तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः ।
न च प्रज्ञायते किंचिद्ब्रह्मशब्देन भारत ॥ २२ ॥
पुण्येन चरता राजन् भूर्दिशः खं नभस्तथा ।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदप्यासीन्महाद्भुतम् ॥ २३ ॥
यत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्चसः ॥ २४ ॥
गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः ।
तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ॥ २५ ॥
न तत्पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चाऽपरे ।

ब्रह्मचारी थे राजा गय का इतिहास कहने लगे और बोले कि हे भरतवंशी युधिष्ठिर! तुमसे अमूर्तरयस के गय नामी पुत्र का इतिहास कहता हूँ जो राजऋषियों में उत्तम और पुण्यकर्म करनेवाला था॥१७।१८॥

इस राजा ने इस स्थान पर ऐसा यज्ञ किया था कि उसमें अनन्त दक्षिणा खर्च हुई थी। इस राजा ने अन्न की सैकड़ों ढेरियां पर्वत के समान लगवा दी थीं और घी वा दही की सैकड़ों नदियां भरवा दी थीं। और मांगनेवालों को भोजन मिलने के लिये सहस्रों स्थान नियत कर दिये थे। जो ब्राह्मण याचक न थे उनको अच्छे प्रकार से बने हुए भोजन कराये जाते थे। जिस समय दक्षिणा के बटने का समय होता था उस समय ऐसी वेदध्वनि होती थी कि जिससे आकाश गूंजने लगता था और कोई किसी की बात को सुन नहीं सकता था। और पुण्याहवाचन के शब्द से सब पृथ्वी, दिशा और आकाश पूर्ण हो जाता था। वह समय बड़ा अद्भुत जान पड़ता था॥१९।२३॥

उस राजा के यज्ञ में प्राणी तृप्त होने के कारण से देश देश में उसके यश को गाते हैं। भला जिसके यज्ञ में पचीस पर्वत भोजन शेष बच रहे उसके यज्ञ में ऐसा कौन होगा जो बिना भोजन किये हुए रह गया हो। हे युधिष्ठिर! राजा गय का सा यज्ञ न तो

गयो यदकरोद्यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः ॥ २६ ॥
कथं तु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः ।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित् ॥ २७ ॥
सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ।
तथा गणयितुं शक्या गययज्ञे न दक्षिणाः ॥ २८ ॥
एवंविधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महीपतेः ।
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गययज्ञकथने पञ्चनवतितमोऽध्यायः । ९५ ॥

पहले किसी ने किया था और न अब ही कोई करेगा। देवता भी उसके किये हुए हविष से अति तृप्त होने के कारण से दूसरे के दिये हुए हविष को न ले सकेंगे और जो दक्षिणा गय के यज्ञ में दी गई थी उसकी संख्या होना इस प्रकार से असम्भव है जैसे वर्षा की बूँदों, बालू के कणों और आकाश के तारागणों को गिनना असम्भव है। सो हे राजा युधिष्ठिर! राजा गय ने ऐसे कई एक यज्ञ इसी नदी के तट पर किये थे ॥२४।२९॥

वनपर्व का पिचानवेंवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९५ ॥

अथ षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ।

वैशम्पायन उवाच ततः संप्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः ।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह ॥ १ ॥
तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतां वरः ।
अगस्त्येनेह वातापिः किमर्थमुपशामितः ॥ २ ॥
आसीद्वा किंप्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तकः ।
किमर्थं चोदितो मन्युरगस्त्यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

छियानवेंवा अध्याय ॥ ९६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् बहुत दक्षिणा देनेवाले कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर वहा से चले और अगस्त्य ऋषि के आश्रम में पहुँचकर दुर्जया स्थान (जहा अगस्त्य जी ने वातापी को मारा था) वहा ठहरे। उस समय महाराज युधिष्ठिर ने लोमश ऋषि से प्रश्न किया कि अगस्त्य मुनि ने इस स्थान पर वातापी को क्यों मारा था? कहिये, उस मनुष्यों के नाश करनेवाले राक्षस में

लोमश उवाच—इल्वलो नाम दैतेय आसीत्कौरवनन्दन ।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चाऽनुजः ॥ ४ ॥
स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः ।
पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ॥ ५ ॥
तस्मै स ब्राह्मणो नाऽदात्पुत्रं वासवसंमितम् ।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ॥ ६ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र इल्वलो ब्रह्महाऽसुरः ।
मन्युमान्भ्रातरं छागं मायावी ह्यकरोत्ततः ॥ ७ ॥
मेषरूपी च वातापिः कामरूप्यभवत्क्षणात् ।
संस्कृत्य च भोजयति ततो विप्रं जिघांसति ॥ ८ ॥
स चाऽऽह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम् ।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन्स्म प्रत्यदृश्यत ॥ ९ ॥
ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम् ।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत् ॥ १० ॥
तामिल्वलेन महता स्वरेण वाचमीरिताम् ।
श्रुत्वाऽतिमायो बलवान्क्षिप्रं ब्राह्मणकण्टकः ॥ ११ ॥
तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः ।
वातापिः प्रहसन्राजन्निश्चक्राम विशांपते ॥ १२ ॥

यया शक्ति थी ? और महात्मा अगस्त्य मुनि को किस प्रकार से क्रोध उत्पन्न हुआ था ? लोमश ऋषि बोले—हे कौरवनन्दन ! इस मणिमति पुरी में पहले समय में इल्वल नामक एक दैत्य हुआ था। उस दैत्य के छोटे भाई का नाम वातापी था ॥१।४॥

एक दिन उस वातापी दैत्य ने एक तपस्वी ब्राह्मण से कहा—हे महाराज ! आप मुझको एक ऐसा पुत्र दीजिए जो इन्द्र के समान हो। उस ब्राह्मण ने ऐसा पुत्र देने से निषेध किया। तब वह इल्वल दैत्य महा-क्रोधित हो गया। हे राजेन्द्र ! उसी दिन से ब्राह्मण से वैर मानकर वह ब्राह्मणों को मारने लगा। वह दैत्य बड़ा मायावी था और उसके पास ऐसी विद्या थी कि जिस मरे हुए को वह बुलाता था वह फिर शरीर पाकर उसके समीप चला आता था। निदान उस दैत्य ने यह उपाय रचा कि अपने छोटे भाई वातापी को माया से बकरा बना देता और उसको मारकर उसके मांस को बनाता और ब्राह्मण को न्यौता कहकर वह मांस उसे खिलाता। जब वह ब्राह्मण भोजन कर

एवं स ब्राह्मणान्राजन्भोजयित्वा पुनः पुनः ।
हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतनः ॥ १३ ॥
अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन्काल एव तु ।
पितॄन्ददर्श गर्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ॥ १४ ॥
सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान्भवन्त इव कंपिताः ।
संतानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः ॥ १५ ॥
ते तस्मै कथयामासुर्वयं ते पितरः स्वकाः ।
गर्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः ॥ १६ ॥
यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्याऽपत्यमुत्तमम् ।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वं च पुत्राऽऽप्नुया गतिम् ॥ १७ ॥
स तानुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः ।
करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥ १८ ॥
ततः प्रसवसंतानं चिन्तयन्भगवानृषिः ।
आत्मनः प्रसवस्याऽर्थे नाऽपश्यत्सदृशीं स्त्रियम् ॥ १९ ॥
स तस्य तस्य सत्वस्य तत्तदंगमनुत्तमम् ।
संगृह्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ॥ २० ॥
स तां विदर्भराजस्य पुत्रार्थं तप्यतस्तपः ।

चुकता तब वह इल्वल दैत्य उस वातापी को बुलाता और वह वातापी ब्राह्मण के पेट को फाड़कर हँसता हुआ बाहर निकल आता। इस प्रकार से उस इल्वल दैत्य ने कई एक ब्राह्मण मार डाले ॥५।१३॥

इसी अवसर में अगस्त्य जी ने अपने पितरों को एक गढे में नीचे को मुख किये लटके हुए देखा। उनको देखकर अगस्त्य जी ने पूछा—आप कौन हैं? और इस गढे मे लटके हुए क्यों काप रहे है? वे बोले कि हम तुम्हारे पितर है। केवल सन्तान उत्पन्न न होने के कारण से ही इस गढे में लटके हुए हैं। यदि तुम्हारे एक पुत्र उत्पन्न हो तो हम लोगों की इस नरक से मोक्ष हो जाय और तुम भी मोक्ष के अधिकारी हो जाओ। यह सुनकर अगस्त्य जी जो परमतेजस्वी, सत्यवादी और धर्मपरायण थे, कहने लगे—हे पितृ लोगो! मैं आपकी कामना अवश्य पूरी करूँगा। आप अपने मन की चिन्ता को दूर कर दीजिये ॥१४।१८॥

इसके पश्चात् भगवान् अगस्त्य ने विचारा कि मैं कौनसी स्त्री से विवाह करूं? उन्होंने पुत्र उत्पन्न करने के निमित्त कोई स्त्री अपने समान न पाई। उन्होंने जिस-जिस प्राणी के जो-जो अङ्ग उत्तम है उन भागों को लेकर, उन्हीं-उन्हीं भागों से एक

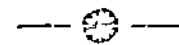
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः ॥ २१ ॥
सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत्सौदामिनी यथा ।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत शुभानना ॥ २२ ॥
जातमात्रां च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः ।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत ॥ २३ ॥
अभ्यनन्दन्त तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप ।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः ॥ २४ ॥
ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा ॥ २५ ॥
तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलंकृताः ।
दास्यः शतं च कल्याणीमुपातस्थुर्वशानुगाः ॥ २६ ॥
सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च ।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभा ॥ २७ ॥
यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम् ।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद्भयात्तस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाऽप्सरसोऽप्यति ।
तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा ॥ २९ ॥
वैदर्भीं तु तथा युक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता ।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अगस्त्योपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः

स्त्री रची। उसको रचकर महातपस्वी अगस्त्य मुनि ने उस स्त्री को तप करते हुए विदर्भराज को अपने निमित्त दे दिया। हे राजन्! वह कन्या बिजली के समान सुन्दर शरीरवाली और उत्तम मुखारविन्द-वाली राजा के घर में उत्पन्न हुई, राजा विदर्भ ने उसको उत्पन्न हुई देख प्रसन्नतापूर्वक सब ब्राह्मणों से यह सुनाया। हे पृथ्वीनाथ! यह सुन सब ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए और उस कन्या का नाम लोपामुद्रा रक्खा ॥१९,२४॥

हे राजन्! यह सुन्दर रूपवाली कन्या अपने पिता के घर में ऐसे बढ़ने लगी, जैसे जल में कमलिनी और अग्नि में ज्वाला। जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुई तब अलङ्कार सहित सौ कन्या और सौ उत्तम दासी उसके संग रहने लगीं। वह तेजस्विनी लोपा-

मुद्रा उन सौ कन्या और सौ दासियों के बीच में ऐसी शोभित हुई जैसे आकाश में रोहिणी। हे महाराज! उस शील और पवित्र आचार से भरी हुई कन्या को यौवन अवस्था आने पर भी महात्मा अगस्त्य के भय से किसी ने अपनी स्त्री न बनाया। उस सत्यवती लोपामुद्रा ने अपने रूप से अप्सराओं को और शील से अपने पिता और वश के पुरुषों को प्रसन्न किया। अपनी पुत्री को यौवन अवस्था में देख विदर्भ राजा ने विचार किया कि इसे किसको दूं ॥२५।३०॥



वनपर्व का छियानवेंवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९६ ॥

अथ सप्तनवतितमोऽध्याय ॥ ९७ ॥

लोमश उवाच—यदा त्वमन्यताऽगस्त्यो गार्हस्थ्ये तां क्षमामिति ।
तदाऽभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ॥ १ ॥
राजन्निवेशे बुद्धिर्मे वर्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ॥ २ ॥
एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः ।
प्रत्याख्यानाय चाऽशक्तः प्रदातुं चैव नैच्छत ॥ ३ ॥
ततः स भार्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः ।
महर्षिर्वीर्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ॥ ४ ॥
तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम् ।
लोपामुद्राऽभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥
न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि ।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ॥ ६ ॥

सत्तानवेंवां अध्याय ॥ ९७ ॥

श्री लोमश मुनि बोले—जब अगस्त्य मुनि ने देखा कि लोपामुद्रा विवाहने के योग्य हुई तब विदर्भराज के पास जाकर कहने लगे—हे राजन्! पुत्र उत्पन्न होने की इच्छा से मैं विवाह करना चाहता हूं। इसी निमित्त आपके यहां आया हू। आप लोपामुद्रा को मुझे दे दीजिये। मुनि के ऐसे वचन सुनकर राजा चेतना रहित हो गये और कुछ उत्तर न दे सके। राजा ने मुनि को लोपामुद्रा देना स्वीकार न किया। पश्चात् राजा ने अपनी स्त्री से सब समाचार कह सुनाया और यह भी कहा कि यदि मुनीश्वर क्रोध करेंगे तो सबको भस्म कर देंगे ॥१।४॥

माता पिता को इस प्रकार से दुःखी देख लोपामुद्रा बोली कि हे पिता जी! आप मेरे निमित्त कुछ दुःख मत कीजिये। मुझे अगस्त्य को देकर अपना उद्धार कीजिये। हे प्रजानाथ! पुत्री के वचन सुनकर विदर्भ-राज ने विधिपूर्वक लोपामुद्रा का विवाह अगस्त्य के

दुहितुर्वचनाद्राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद्विधिपूर्वं विशाम्पते ॥ ७ ॥
प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत ।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥
ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च ।
समुत्ससर्ज रम्भोरूर्वसनान्यायतेक्षणा ॥ ९ ॥
ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्या च बभूवाऽऽयतलोचना ॥ १० ॥
गङ्गाद्वारमथाऽऽगम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्याऽनुकूलया ॥ ११ ॥
सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत्तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामचरत्प्रभुः ॥ १२ ॥
ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशांपते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥ १३ ॥
स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाऽऽजुहाव ताम् ॥ १४ ॥
ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भाविनी ।

साथ कर दिया। अगस्त्य मुनि ने लोपामुद्रा को प्राप्त करके उससे ऐसे वचन कहे कि तुम बहुत मूल्यवाले वस्त्र और भूषणों को उतार दो। उसने अपने पति के वचन सुनकर सुन्दर और बहुत मूल्यवाले वस्त्र और भूषण उतार दिये ॥७-९॥

अनन्तर उस कमलनैनी को लेकर लम्बे केश, शोभायमान् जङ्घावाली लोपामुद्रा ने वरकल के बने हुए वस्त्र और हरिण की खाल को ओढ़ा। वह विशालनैनी और अपने पति के समान व्रतवाली बन गई। अनन्तर महात्मा अगस्त्य मुनि अपनी अनुरूप स्त्री के सहित गङ्गाद्वार में जाकर महाघोर तप करने लगे। लोपामुद्रा भी अपने पति से परम मान पाकर उसकी सेवा करने लगी भगवान् अगस्त्य जी भी अपनी स्त्री से परम प्रेम करने लगे ॥१०।१२॥

इस प्रकार बहुत समय बीतने पर भगवान् अगस्त्य मुनि ने तप से भरी हुई लोपामुद्रा को एक समय ऋतु के पश्चात् स्नान किये हुए देखा। भगवान् अगस्त्य मुनि उसकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, शोभा और रूप से प्रसन्न होकर उससे मैथुन करने की इच्छा करने लगे। तब लोपामुद्रा ने हाथ जोड़कर लज्जा में भरकर नम्रभाव से भगवान् अगस्त्य जी से ऐसे वचन कहे—निस्सन्देह पति सन्तान ही के निमित्त स्त्री से

सदा सप्रणया वाक्यं भगवन्तमथाऽब्रवीत् ॥ १५ ॥
असंशयं प्रजाहेतोर्भार्यां पतिरविन्दत ।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषे कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥
यथा पितुर्गृहे विप्र प्रासादे शयनं मम ।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहाऽर्हसि ॥ १७ ॥
इच्छामि त्वां स्रग्विणं च भूषणैश्च विभूषितम् ।
उपसर्तुं यथाकामं दिव्याभरणभूषिता ॥ १८ ॥
अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी ।
नैवाऽपवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथञ्चन ॥ १९ ॥
अगस्त्य उवाच—न ते धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम ।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे ॥ २० ॥
लोपामुद्रोवाच—ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुं तपोधन ।
क्षणेन जीवलोके यद्वसु किंचन विद्यते ॥ २१ ॥
अगस्त्य उवाच एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं तपोव्ययकरं तु तत् ।
यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय ॥ २२ ॥
लोपामुद्रोवाच—अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतोर्मम तपोधन ।
न चाऽन्यथाऽहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथंचन ॥ २३ ॥

विवाह करता है और जो आपकी इच्छा है सो काम आप मेरे सङ्ग कर सकते हैं। परन्तु हे विप्र! मैं अपने पिता के घर में बहुत अच्छे स्थान में रहती थी। आप वैसे ही स्थान और शय्या पर मेरे सङ्ग मैथुन करने को योग्य हैं। मेरी इच्छा है कि उत्तम भूषणों से भूषित, उत्तम मालाधारी आपके सङ्ग मैं भी दिव्य आभूषण पहनकर इच्छानुसार विहार करूँ। अन्यथा यह गेरु के रङ्ग वस्त्र पहनकर मैं आपके सङ्ग विहार नहीं करूँगी। हे विप्र ऋषि! यह वस्त्र और आभूषण समय के योग्य नहीं हैं॥१३।१९॥

अगस्त्य ऋषि बोले—हे लोपामुद्रे! हे कल्याणि! हे सुमध्यमे! मेरे और तेरे घर में इतना धन नहीं है कि जितना तेरे पिता के घर में था। लोपामुद्रा बोली—हे तपोधन! आप अपने तप के बल से जगत् का जितना धन है उस सबको एक क्षण भर में ला सकते हैं। अगस्त्य मुनि बोले—यह तुम्हारा कहना सत्य है, परन्तु ऐसा करने से मेरा तप क्षीण हो जायगा। इसलिये ऐसा कोई उपाय बतलाओ कि जिसमें मेरा तप नष्ट न हो॥२०।२२॥

लोपामुद्रा बोली—हे तपोधन! मेरी ऋतु का बहुत थोड़ा समय बाकी रहा है और दूसरे प्रकार से मैं तुम्हारे पास आने की कदापि इच्छा नहीं

न चाऽपि धर्ममिच्छामि विलोप्तुं ते कथंचन ।
एवं तु मे यथाकामं संपादयितुमर्हसि ॥ २४ ॥
अगस्त्य उवाच–यद्येष कामः सुभगे तव बुद्ध्या विनिश्चितः ।
हर्तुं गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिहस्थिता ॥ २५ ॥
इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सप्तनवतितमोऽध्याय ॥ ९७ ॥

करती हूँ और तुम्हारे धर्म को भी नष्ट करना नहीं चाहती हूँ, इसलिये मैंने जो कहा है सो पूरा कीजिये। अगस्त्य मुनि बोले–हे सुभगे ! हे कल्याणि ! यदि तुमने अपने मन में ऐसा ही निश्चय किया है, तो मैं धन लेने को जाता हूँ तुम यहीं रहो ॥२३।२५॥

वनपर्व का सत्तानबेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९७ ॥

अथ अष्टनवतितमोऽध्याय ॥ ९८ ॥

लोमश उवाच–ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्यो भिक्षितुं वसु ।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाऽभ्यधिकं नृपैः ॥ १ ॥
स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागतम् ।
विषयांते सहामात्यः प्रत्यगृह्णात्सुसत्कृतम् ॥ २ ॥
तस्मै चाऽर्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छाऽऽगमनेऽर्थिताम् ॥ ३ ॥
अगस्त्य उवाच वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्याऽन्यान्त्संविभागं प्रयच्छ मे ॥ ४ ॥
लोमश उवाच–तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत् ।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥ ५ ॥

अट्ठानबेवां अध्याय ॥ ९८ ॥

लोमश ऋषि बोले–हे राजा युधिष्ठिर ! इसके पश्चात् अगस्त्य जी धन मांगने की इच्छा से राजा श्रुतर्वाण के पास गये जिसको वे सब राजाओं में अधिक बलवान् जानते थे। वह राजा उन महाऋषि को अपने देश की सीमा पर आया हुआ जानकर मन्त्रियों सहित आगे गया और आदरपूर्वक अपने घर ले आया और विधिपूर्वक अर्घ्य देकर कहने लगा–हे महाराज ! आपका आना किस कारण से हुआ है ? अगस्त्य जी ने कहा–हे राजन् ! मैं तुम्हारे पास धन की इच्छा से आया हूँ। तुम मुझको यथाशक्ति अपने अधिक धन में से धन दो जिसमें किसी दूसरे को दुःख न हो ॥१।४॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ६ ॥
स श्रुतर्वाणमादाय व्रध्नश्वमगमत्ततः ।
स च तौ विषयस्याऽन्ते प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ॥ ७ ॥
तयोरर्घ्यं च पाद्यं च व्रध्नश्वः प्रत्यवेदयत् ।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ॥ ८ ॥
अगस्त्य उवाच–वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्ध्यावां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभाग प्रयच्छ नौ ॥ ९ ॥
लोमश उवाच—तत आयव्ययौ पूर्णौ नाभ्यां राजा न्यवेदयत् ।
अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीत यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १० ॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ११ ॥
पौरुकुत्स्यं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम् ।
अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च व्रध्नश्वश्च महीपतिः ॥ १२ ॥
त्रसदस्युस्तु तान्दृष्ट्वा प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते महामनाः ॥ १३ ॥
अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकू राजसत्तमः ।

यह सुनकर उस राजा ने कहा–हे महाराज ! मेरा लाभ और व्यय बराबर है इसमें जो कुछ आप अधिक समझें सो ले लीजिए। अगस्त्य जी ने उसके आयव्यय को बराबर देखकर विचार किया कि इससे धन लेने में प्राणियों को क्लेश होगा। यह विचारकर उन्होंने उस श्रुतर्वाण से धन नहीं लिया और उसे साथ लेकर राजा व्रध्नश्व के पास गये। उस राजा ने भी अगस्त्य जी को अपने देश की सीमा पर जाकर लिया और बड़े आदर और सत्कार से घर लाकर अर्घ्य, पाद्य देकर उनसे आने का कारण पूछा। अगस्त्य जी ने कहा–हे राजन् ! हम दोनों तुम्हारे पास धन मांगने के लिये आये हैं। तुम अपने अधिक धन में से हमको भी यथाशक्ति धन दे दो जिससे किसी दूसरे को दुःख न हो ॥५।९॥

उस राजा ने भी कहा–हे महाराज ! मेरा लाभ और व्यय बराबर है जो कुछ आप अधिक समझें सो ले लीजिए। अगस्त्य जी ने यह सुनकर उसके लाभ और व्यय के बराबर होने पर धन लेने में प्राणियों को दुःख होना विचारकर धन नहीं लिया और उसको भी साथ लेकर तीनों राजा त्रसदस्यु के पास गये। उस राजा ने भी अगस्त्य जी और उन दोनों राजाओं को अपने देश की सीमा पर जाकर लिया और

समस्तांश्च ततोऽपृच्छत्प्रयोजनमुपक्रमे ॥ १४ ॥

अगस्त्य उवाच– वित्तकामानिह प्राप्तान्विद्धि नः पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभागं प्रयच्छ नः ॥ १५ ॥

लोमश उवाच– तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत् ।
एतज्ज्ञात्वा ह्युपादध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १६ ॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ १७ ॥
ततः सर्वे समेत्याऽथ ते नृपास्तं महामुनिम् ।
इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ॥ १८ ॥
अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान्भुवि ।
तमतिक्रम्य सर्वेऽद्य वयं चाऽर्थामहे वसु ॥ १९ ॥

लोमश उवाच– तेषां तदासीदुचितमिल्वलस्यैव भिक्षणम् ।
ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांअगस्त्योपाख्यानेअष्टनवतितमोऽध्यायः

बड़े आदर से घर लाकर उन सब की विधिपूर्वक पूजा करके तीनों से आने का कारण पूछा ॥१०।१४॥

यह सुनकर अगस्त्य जी बोले–हम तीनों धन मांगने के लिये आये हैं । तुम अपने अधिक धन में से हमको कुछ धन दो जिसमें किसी दूसरे को दुःख न पहुँचे । यह सुनकर उस राजा ने भी कहा–हे महाराज ! मेरा आयव्यय अर्थात् आमदनी और खर्च बराबर है, आप जो कुछ अधिक समझें सो ले लीजिए । यह सुनकर अगस्त्य जी ने विचारा कि इस राजा का लाभ और व्यय बराबर है, इससे धन लेने में जीवों को क्लेश होगा, यह विचारकर उन्होंने धन नहीं लिया । इसके पीछे वे तीनों राजा आपस में विचारकर अगस्त्य जी से कहने लगे–हे महाराज ! यहां जो इल्वल दैत्य रहता है वह बड़ा धनवान् है । चलिये, हम सब उसके पास जाकर उससे धन मांगें । यह सुनकर अगस्त्य जी ने इल्वल से ही धन मांगना उचित समझा । अब वे चारों धन मांगने के लिये उस दैत्य के पास गये ॥१५।२०॥

वनपर्व का अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९८ ॥

अथ एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

लोमश उवाच– इल्वलस्तान्विदित्वा तु महर्षिसहितान्नृपान् ।
उपस्थितान्सहामात्यो विषयान्ते ह्यपूजयत् ॥ १ ॥

तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठस्त्वातिथ्यमकरोत्तदा ।
सुसंस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना तदा ॥ २ ॥
ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः ।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ॥ ३ ॥
अथाऽब्रवीदगस्त्यस्तान्राजर्षीनृषिसत्तमः ।
विषादो वो न कर्तव्यो ह्यहं भोक्ष्ये महासुरम् ॥ ४ ॥
धुर्यासनमथाऽऽसाद्य निषसाद महानृषिः ।
तं पर्यवेषद्दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ॥ ५ ॥
अगस्त्य एव कृत्स्नं तु वातापिं बुभुजे ततः ।
भुक्तवत्यसुरोह्वानमकरोत्तस्य चेल्वलः ॥ ६ ॥
ततो वायुः प्रादुरभूदधस्तस्य महात्मनः ।
शब्देन महता तात गर्जन्निव यथा घनः ॥ ७ ॥
वातापे निष्क्रमस्वेति पुनः पुनरुवाच ह ।
तं प्रहस्याऽब्रवीद्राजन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ८ ॥
कुतो निष्क्रमितुं शक्तो मया जीर्णस्तु सोऽसुरः ।
इल्वलस्तु विषण्णोऽभूद् दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ॥ ९ ॥

निन्यानवेवां अध्याय ॥ ९९ ॥

लोमश ऋषि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! इल्वल दैत्य अगस्त्य जी को तीनों राजाओं सहित अपने राज्य की सीमा पर आये हुए जानकर वहां गया और विधिपूर्वक उनकी पूजा करके अपने स्थान पर ले आया और अपने भाई वातापी के मास को अच्छी-तरह बनाकर उनका आतिथ्य किया। वे राजा लोग मेषरूपी वातापी के माम को जानकर व्याकुल और अचेत से हो गये। उस समय अगस्त्य जी ने उनसे कहा कि तुम लोग चिन्ता मत करो मैं वातापी को पचा जाऊँगा ॥१।४॥

इसके पीछे इल्वल ने आसन पर बैठाकर वातापी का माम अगस्त्य जी के आगे परोस दिया। अगस्त्य जी अकेले उसके मांस को खा गये। जब वे भोजन कर चुके तब इल्वल ने वातापी को पुकारा। उसके पुकारने पर अगस्त्य जी की गुदा से वायु मेघ के समान गर्जती हुई निकली। उसको सुनकर इल्वल बराबर पुकारने लगा—हे वातापी ! निकल। तब अगस्त्य जी ने हँसकर कहा कि वातापी कहां से निकले उसको तो हम पचा गये। यह सुनकर वह दैत्य व्याकुल हो गया। वह अपने मन्त्रियों सहित अगस्त्य जी से हाथ जोड़कर कहने लगा—हे महाराज! आप किस कार्य के लिये यहां पधारे है और मैं आपका

प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत् ।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः ॥ १० ॥
प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा ।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वरम् ॥ ११ ॥
एते च नाऽतिधनिनो धनार्थश्च महान्मम ।
यथाशक्त्यविहिंस्याऽन्यान्संविभागं प्रयच्छ नः ॥ १२ ॥
ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत् ।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ॥ १३ ॥
अगस्त्य उवाच—गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ॥ १४ ॥
मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ॥ १५ ॥
जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्त एष हिरण्मयः ।
ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ॥ १६ ॥
विरावश्च सुरावश्च तस्मिन्युक्तौ रथे हयौ ।
ऊहतुः सवसूनाशु तावगस्त्याश्रमं प्रति ॥ १७ ॥
सर्वान्राज्ञः सहागस्त्यान्निमेषादिव भारत ।

क्या प्रिय कार्य करूँ ? ॥५।१०॥

यह सुनकर अगस्त्य जी ने हँसकर कहा—मुझे बहुत से धन की आवश्यकता है । ये राजा लोग धनवान नहीं हैं । तुमको हम धन का स्वामी और समर्थ जानते हैं । सो तुम अपने अधिक धन में से हमको धन दो जिसमें किसी दूसरे को क्लेश न पहुँचे । यह सुनकर इल्वल ने अगस्त्य जी को दण्डवत की और कहा—आप जितना धन चाहते हैं मैं आपको उससे भी अधिक धन दूँगा । आप कहिये, क्या चाहते हैं ? अगस्त्य जी ने कहा—तुम इन प्रत्येक राजाओं को दस-दस हजार गौ और इतना ही इतना सुवर्ण दो और मुझको इससे दुगुना धन, एक सुनहरी रथ और ऐसे दो घोड़े जिनका वेग मन की गति के समान हो, दो ॥११।१५॥

यह सुनकर उस दैत्य ने उन सबको कहने से भी कुछ अधिक धन दिया और अगस्त्य जी को उनकी इच्छा के अनुसार एक सुनहरी रथ भी दिया जिसमें विराव और सुराव नाम के दो घोड़े जुते हुए थे । अगस्त्य जी उस रथ में उन राजाओं और इल्वल के दिये हुए धन सहित बैठकर चल दिये और शीघ्र अपने आश्रम में जा पहुँचे । उपरान्त वे राजा लोग अगस्त्य जी की आज्ञा पाकर अपने अपने देशों को

अगस्त्येनाऽभ्यनुज्ञाता जग्मू राजर्षयस्तदा ।
कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपमुद्राचिकीर्षितम् ॥ १८ ॥
लोपामुद्रोवाच—कृतवानसि तत्सर्वं भगवन्मम कांक्षितम् ।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्यवत्तरम् ॥ १९ ॥
अगस्त्य उवाच—तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने ।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ॥ २० ॥
सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसंमितम् ।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रजित् ॥ २१ ॥
लोपामुद्रोवाच—सहस्रसंमितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन ।
एको हि बहुभिः श्रेयान्विद्वान्साधुरसाधुभिः ॥ २२ ॥
लोमश उवाच—स तथेति प्रतिज्ञाय तया समभवन्मुनिः ।
समये समशीलिन्या श्रद्धावाञ्छ्रद्दधानया ॥ २३ ॥
तत आधाय गर्भं तमगमद्वनमेव सः ।
तस्मिन्वनगते गर्भो ववृधे सप्तशारदान् ॥ २४ ॥
सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत्स महाकविः ।
ज्वलन्निव प्रभावेन दृढस्युर्नाम भारत ॥ २५ ॥
सांगोपनिषदान्वेदाञ्जपन्निव महातपाः ।

चले गये और अगस्त्य जी ने लोपामुद्रा की मनोकामना पूरी की। इसके उपरान्त लोपामुद्रा ने अगस्त्य जी से कहा—हे महाराज! आपने मेरी सब मनोकामनाएँ पूरी कीं अब एक बलवान् पुत्र मुझे और दीजिए। यह सुनकर अगस्त्य जी बोले—हे सुन्दरी! मैं तुम्हारे व्रत से बहुत प्रसन्न हूं तुम बताओ कि कैसा पुत्र चाहती हो? यदि तुम कहो तो तुम्हारे एक हज़ार पुत्र हों अथवा उन हज़ार के तुल्य सौ पुत्र हों या इन सबको जीतनेवाला एक ही पुत्र हो ॥१६।२१॥

यह सुनकर लोपामुद्रा बोली—मैं सहस्र पुत्रों के तुल्य एक ही पुत्र चाहती हूं क्योंकि विद्वान् और साधू पुत्र एक ही होना बहुत से असाधु पुत्रों से श्रेष्ठ होता है। यह सुनकर अगस्त्य जी ने कहा तथास्तु अर्थात् ऐसा ही हो और समय के आने पर उस समान शील रखनेवाली लोपामुद्रा के साथ सङ्गम किया। लोपामुद्रा के गर्भ रह गया। अगस्त्य जी गर्भ धारण कराकर वन को चले गये और वह गर्भ उन के पीछे सात वर्ष तक बढ़ा किया। जब सातवां वर्ष व्यतीत हुआ तब एक बालक बड़ा तपस्वी और ज्वलन स्वरूप वेदों को अङ्गों और उपनिषदों सहित पढ़ता हुआ गर्भ से उत्पन्न हुआ। मुनि ने उसका नाम दृढस्यु रक्खा। परन्तु इसके पीछे जब वह बाल अवस्था

तस्य पुत्रोऽभवद्दृपेः स तेजस्वी महाद्विजः ॥ २६ ॥
स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने ।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ॥ २७ ॥
तथायुक्तं तु तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा ।
एवं स जनयामास भारताऽपत्यमुत्तमम् ॥ २८ ॥
लेभिरे पितरश्चाऽस्य लोकान्राजन्यथेप्सितान् ।
तत उर्ध्वमयं ख्यातस्त्वगस्त्यस्याऽऽश्रमो भुवि ॥ २९ ॥
प्राह्लादिरेवं वातापिरगस्त्येनोपशामितः ।
तस्याऽयमाश्रमो राजन् रमणीयैर्गुणैर्युतः ॥ ३० ॥
एषा भागीरथी पुण्या देवगन्धर्वसेविता ।
वातेरिता पताकेव विराजति नभस्तले ॥ ३१ ॥
प्रतार्यमाणा कूटेषु यथा निम्नेषु नित्यशः ।
शिलातलेषु संत्रस्ता पन्नगेन्द्रवधूरिव ॥ ३२ ॥
दक्षिणां वै दिशं सर्वां प्लावयन्ती च मातृवत् ।
पूर्वं शंभोर्जटाभ्रष्टा समुद्रमहिषी प्रिया ।
अस्यां नद्यां सुपुण्यायां यथेष्टमवगाह्यताम् ॥ ३३ ॥
युधिष्ठिर निबोधेदं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
भृगोस्तीर्थं महाराज महर्षिगणसेवितम् ॥ ३४ ॥

में ईंधन का बोझ उठाकर आश्रम में ले आया तब से अगस्त्य जी ने उसका नाम इध्मवाह रक्खा। अगस्त्य जी ने इस प्रकार से सन्तान उत्पन्न की और उस सन्तान को वेद आदि के पाठ में तत्पर देखकर आप अत्यन्त प्रसन्न रहने लगे। तब से यह आश्रम अगस्त्य जी का कहलाता है। सन्तान के उत्पन्न होने से अगस्त्य जी के पितरों को इच्छानुसार लोक मिल गये। हे राजा युधिष्ठिर! अगस्त्य जी ने वातापी को जिस रीति से नष्ट किया था वह रमणीक और गुण-युक्त आश्रम उन्हीं का है ॥२२।३०॥

यह भागीरथी गङ्गा है जिसके तट पर देवता और गन्धर्व वास करते है। देखो, इसकी धारा कैसी बह रही है मानो वायु से प्रेरित पताका उड़ रही है। और पर्वत के शिखरों और शिलाओं के नीचे से होकर कैसी निकलती हुई जा रही है मानों सर्पिणी है। यही गङ्गा दक्षिण दिशा के देशों को माता के समान पानी देती हुई गई है और शिव जी की जटा से निकलकर समुद्र की पटरानी बनी है। हे युधिष्ठिर! इस पवित्र

यत्रोपस्पृष्टवान्रामो हृतं तेजस्तदाप्तवान् ।
अत्र त्वं भ्रातृभिः सार्धं कृष्णया चैव पाण्डव ॥ ३५ ॥
दुर्योधनहृतं तेजः पुनरादातुमर्हसि ।
कृतवैरेण रामेण यथा चोपहृतं पुनः ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच–स तत्र भ्रातृभिश्चैव कृष्णया चैव पाण्डवः ।
स्नात्वा देवान्पितॄंश्चैव तर्पयामास भारत ।
तस्य तीर्थस्य रूपं वै दीप्ताद्दीप्ततरं बभौ ॥ ३७ ॥
अप्रधृष्यतरश्चाऽऽसीच्छात्रवाणां नरर्षभ ।
अपृच्छच्चैव राजेन्द्र लोमशं पाण्डुनन्दनः ॥ ३८ ॥
भगवन्किमर्थं रामस्य हृतमासीद्वपुः प्रभो ।
कथं प्रत्याहृतं चैव एतदाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ३९ ॥
लोमश उवाच—शृणु रामस्य राजेन्द्र भार्गवस्य च धीमतः ।
जातो दशरथस्याऽऽसीत्पुत्रो रामो महात्मनः ॥ ४० ॥
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै ।
पश्यामस्तमयोध्यायां जातं दाशरथिं ततः ॥ ४१ ॥
ऋचीकनन्दनो रामो भार्गवो रेणुकासुतः ।
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः ॥ ४२ ॥

नदी में आप स्नान करो। देखो, यह तीनों लोकों मे विख्यात् भृगुतीर्थ है जिसमें महर्षि लोग रहते हैं ॥३१।३४॥

परशुराम जी ने इसी तीर्थ में स्नान करके अपने गये हुए तेज को पाया था। तुम भी अपने भाइयों और द्रोपदी सहित इसमें स्नान करो। इसमें स्नान करने से परशुराम जी की भाति तुम भी दुर्योधन से हारे हुए अपने तेज को फिर पाओगे। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! इसके पीछे युधिष्ठिर ने द्रोपदी और भाइयों सहित उस तीर्थ में स्नान करके देवता और पितरों का तर्पण किया। उसमें स्नान करने से युधिष्ठिर का स्वरूप दीप्त से भी दीप्त अर्थात् प्रकाशमान् और उसके शत्रुओं का रूप अदृश्यतर हो गया। इसके उपरान्त युधिष्ठिर ने लोमश ऋषि से पूछा–हे महाराज! मुझको यह सुनाइये कि परशुराम जी का तेज किस लिये हर लिया गया था और फिर क्योंकर मिला ॥३५।३९॥

यह सुनकर लोमश जी बोले–हे युधिष्ठिर! मैं तुमको भार्गव परशुराम जी के चरित्र को सुनाता हूँ। पहले समय में श्री विष्णु भगवान् ने रावण को मारने के लिये अयोध्यापुरी में राजा दशरथ के यहा रामचन्द्र के नाम से अवतार लिया था। हमने भी

ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्यवान् ॥ ५१ ॥
तस्य शब्दस्य भूतानि वित्र संत्यशनेरिव ।
अथाऽब्रवीत्तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ॥ ५२ ॥
इदमारोपितं ब्रह्मन्किमन्यत्करवाणि ते ।
तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ॥ ५३ ॥
लोमश उवाच—एतच्छ्रुत्वाऽब्रवीद्रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ॥ ५४ ॥
त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ॥ ५५ ॥
पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ॥ ५६ ॥
आदित्यान्सवसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ ५७ ॥
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ।
ऋषयो वालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ॥ ५८ ॥
देवर्षयश्च कात्स्न्र्येन समुद्राः पर्वतास्तथा ।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः ॥ ५९ ॥

दिव्य धनुष ले लिया ॥४७।५०॥

उन्होंने मन्द मन्द मुस्कराते हुए इस प्रकार से उस धनुष को चढ़ाकर टंकारा जैसे कोई बालक खेलते खेलते कोई काम कर डाले। उसके वज्र के समान टंकारने के शब्द से सब प्राणी डर गये और रामचन्द्र जी ने परशुराम जी से कहा कि मैंने धनुष आपके कहने से चढ़ा दिया अब आप और क्या चाहते हैं ? यह सुनकर परशुराम जी ने एक दिव्य बाण रामचन्द्र जी को दिया और कहा—इसको धनुष पर चढ़ाकर धनुष को कान तक खींचो। तब रामचन्द्र जी ने कहा—हे भार्गव ! हमने जो सुना था कि आप बड़े घमण्डी है सो सत्य है। इस पर भी आपकी बात हम क्षमा ही करते हैं। आपने ब्रह्मा जी की कृपा से क्षत्रियों से अधिक तेज पाया है इसी कारण से आप मेरी निन्दा करते हैं ॥५१।५५॥

अब तुम मेरे निज स्वरूप को देखो मैं तुमको दिव्यदृष्टि देता हूँ। इसके उपरान्त परशुराम जी ने रामचन्द्र जी के शरीर में बारहों सूर्य, आठों वसु,

कौतूहलान्वितो रामस्त्वयोध्यामगमत्पुनः ।
धनुरादाय तद्दिव्यं क्षत्रियाणां निबर्हणम् ॥ ४३ ॥
जिज्ञासमानो रामस्य वीर्यं दाशरथेस्तदा ।
तं वै दशरथः श्रुत्वा विषयान्तमुपागतम् ॥ ४४ ॥
प्रेषयामास रामस्य रामं पुत्रं पुरस्कृतम् ।
स तमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ॥ ४५ ॥
प्रहसन्निव कौन्तेय रामो वचनमब्रवीत् ।
कृतकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्मया विभो ॥ ४६ ॥
समारोपय यत्नेन यदि शक्तोऽसि पार्थिव ।
इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वं नाऽधिक्षेप्तुमर्हसि ॥ ४७ ॥
नाऽहमप्यधमो धर्मे क्षत्रियाणां द्विजातिषु ।
इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्येण कत्थनम् ॥ ४८ ॥
तमेवंवादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ।
अलं वै व्यपदेशेन धनुरायच्छ राघव ॥ ४९ ॥
ततो जग्राह रोषेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ।
रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद्रामस्य कार्मुकम् ॥ ५० ॥
धनुरारोपयामास सलील इव भारत ।

उस समय अयोध्या में रामचन्द्र जी के दर्शन किये थे। ऋचीक और रेणुका के पुत्र परशुराम जी उन दशरथनन्दन रामचन्द्र के अद्भुत कर्मों को सुनकर उनके पराक्रम की परीक्षा लेने के लिये बड़े आश्चर्य के साथ क्षत्रियों के नाश करनेवाले दिव्य धनुष को लिये हुए अयोध्यापुरी को गये। राजा दशरथ ने अपने देश की सीमा पर परशुराम जी को आया हुआ सुनकर अपने पुत्र रामचन्द्र जी को उनके पास भेजा। जब रामचन्द्र जी परशुराम जी के पास पहुँचे, तब परशुराम जी ने हँसकर कहा कि देखो मैंने इस धनुष से क्षत्रियों को काल के तुल्य नाश है ॥४०।४६॥

जो तुम अपने को समर्थ जानते हो तो लो इस धनुष को चढ़ाओ। यह सुनकर रामचन्द्र जी बोले-हे महाराज! मुझको आपका अनादर करना उचित नहीं है। मैं क्षत्रियों के धर्म में अधम नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि ब्राह्मण के निमित्त में क्षत्रियों का क्या धर्म है और इसके सिवाय इक्ष्वाकुवंशी राजा लोग कभी अपने पराक्रम की श्लाघा नहीं करते हैं। यह सुनकर परशुराम जी बोले-यह बात मत कहो और धनुष को लेकर चढ़ाओ। यह सुनकर दशरथनन्दन रामचन्द्र जी ने क्रोधित होकर परशुराम जी के हाथ से यह क्षत्रियों के नाश करनेवाला

ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्यवान् ॥ ५१ ॥
तस्य शब्दस्य भूतानि वित्रसंत्यशनेरिव ।
अथाऽब्रवीत्तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ॥ ५२ ॥
इदमारोपितं ब्रह्मन्किमन्यत्करवाणि ते ।
तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ॥ ५३ ॥
लोमश उवाच—एतच्छ्रुत्वाऽब्रवीद्रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ॥ ५४ ॥
त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ॥ ५५ ॥
पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ॥ ५६ ॥
आदित्यान्सवसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ ५७ ॥
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ।
ऋषयो वालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ॥ ५८ ॥
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन समुद्राः पर्वतास्तथा ।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः ॥ ५९ ॥

दिव्य धनुष ले लिया ॥४७-५०॥

उन्होंने मन्द मन्द मुस्कराते हुए इस प्रकार से उस धनुष को चढ़ाकर टंकारा जैसे कोई बालक खेलते खेलते कोई काम कर डाले। उसके वज्र के समान टंकारने के शब्द से सब प्राणी डर गये और रामचन्द्र जी ने परशुराम जी से कहा कि मैंने धनुष आपके कहने से चढ़ा दिया अब आप और क्या चाहते हैं? यह सुनकर परशुराम जी ने एक दिव्य बाण रामचन्द्र जी को दिया और कहा—इसको धनुष पर चढ़ाकर धनुष को कान तक खींचो। तब रामचन्द्र जी ने कहा—हे भार्गव ! हमने जो सुना था कि आप बड़े घमण्डी हैं सो सत्य है। इस पर भी आपकी बात हम क्षमा ही करते हैं। आपने ब्रह्मा जी की कृपा से क्षत्रियों से अधिक तेज पाया है इसी कारण से आप मेरी निन्दा करते हैं ॥५१-५५॥

अब तुम मेरे निज स्वरूप को देखो मैं तुमको दिव्यदृष्टि देता हूँ। इसके उपरान्त परशुराम जी ने रामचन्द्र जी के शरीर में बारहों सूर्य, आठों वसु,

चेतोमन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत ।
मेघवृन्दानि वर्षाणि विद्युतश्च युधिष्ठिर ॥ ६० ॥
ततः स भगवान्विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह ।
शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च भारत ॥ ६१ ॥
पांसुवर्षेण महता मेघवर्षैश्च भूतलम् ।
भूमिकम्पैश्च निर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ॥ ६२ ॥
स रामं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाऽक्षिप्य केवलम् ।
आगच्छज्ज्वलितो बाणो रामबाहुप्रचोदितः ॥ ६३ ॥
स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
रामः प्रत्यागतप्राणः प्राणमद्विष्णुतेजसम् ॥ ६४ ॥
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत्पुनः ।
भीतस्तु तत्र न्यवसद् व्रीडितस्तु महातपाः ॥ ६५ ॥
तत. संवत्सरेऽतीते हृतौजसमवस्थितम् ।
निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ॥ ६६ ॥
पितर ऊचु --न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम् ।
स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥ ६७ ॥
गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम् ।

ग्यारहों रुद्र, साध्यगण, मरुद्गण, पितर, अग्नि, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, नदी, ब्रह्मऋषि सनातन, वालखिल्य ऋषि, देवऋषि, समुद्र, पर्वत, वषट्कार, यज्ञ वेद, उपनिषद्, साममन्त्र, धनुर्वेद, मेघ, चारों प्रकार के वर्ष और बिजलियां देखीं ॥५६।६०॥

उसी समय रामचन्द्र जी ने उस बाण को खींचकर छोड़ दिया। उसको छोड़ते ही पृथ्वी शुष्क हो गई, उल्का गिरे, धूल और मेह की वर्षा हुई, पृथ्वी कांपने लगी और दिशाओं में बिना बजाये शब्द होने लगा और वह ज्वलित बाण परशुराम जी के तेज को खींचकर उन्हें विह्वल करके रामचन्द्र जी के पास लौट आया। इसके पीछे जब परशुराम जी की विह्वलता दूर हो गई तब उन्होंने प्राणों को फिर पाकर विष्णु भगवान् के तेज को प्रणाम किया और रामचन्द्र जी की आज्ञा के अनुकूल महेन्द्र पर्वत पर चले गये और भयभीत और लज्जित होकर रहने लगे ॥६१।६५॥

जब एक वर्ष इसी प्रकार व्यतीत हो गया तब परशुराम जी के पितरों ने उन्हें दुःखी और तेजरहित देखकर कहा—हे पुत्र ! तुमने विष्णु भगवान् को पाकर जो उनका अपमान किया था वह अच्छा नहीं किया क्योंकि विष्णु भगवान् तीनों लोकों में मान्य और पूज्य है । अब तुम वधूसरा नामी नदी

तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ॥ ६८ ॥
दीप्तोदं नाम तत्तीर्थं यत्र ते प्रपितामहाः ।
भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ॥ ६९ ॥
तत्तथा कृतवान्रामः कौन्तेय वचनात्पितुः ।
प्राप्तवांश्च पुनस्तेजस्तीर्थेऽस्मिन्पाण्डुनन्दन ॥ ७० ॥
एतदीदृशकं तात रामेणाऽक्लिष्टकर्मणा ।
प्राप्तमासीन्महाराज विष्णुमासाद्य वै पुरा ॥ ७१ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांजामदग्न्यतेजोहानिकथनेएकोनशततमो

को चले जाओ वहां के तीर्थों में स्नान करने से तुम्हारा तेज फिर ज्यों का त्यों हो जायगा । उस तीर्थ को दीप्तोद भी कहते हैं । तुम्हारे प्रपितामह अर्थात् बाबा ने वहां बड़ी तपस्या की थी । सो हे युधिष्ठिर ! परशुराम जी ने पितरों की आज्ञा से यहां आकर इस तीर्थ में स्नान किया था और फिर अपने तेज को पाया था । परशुराम जी विष्णु भगवान् से मिलकर इस प्रकार से इस तीर्थ को आये थे ॥६९।७१॥

वनपर्व का निन्यानवेंवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९९ ॥

अथ शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

युधिष्ठिर उवाच भूय एवाऽहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः ।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम ॥ १ ॥
लोमश उवाच शृणु राजन् कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम् ।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितौजसः ॥ २ ॥
आसन्कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः ।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः ॥ ३ ॥
ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः ।
समन्तात्पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान्सुरान् ॥ ४ ॥

सौ अध्याय ॥ १०० ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! महर्षि अगस्त्य जी ने जो-जो काम किये हैं उन्हें मैं फिर विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । लोमश ऋषि ने कहा—हे महाराज ! सुनिए, मैं महातेजस्वी अगस्त्य जी के प्रभाव के अलौकिक वृत्तान्त का वर्णन करता हूँ । सत्ययुग में कालकेय नाम के देवशत्रु दानवों ने वृत्रासुर को अपना स्वामी बनाया और वे अनेक अस्त्र-शस्त्र लेकर चारों ओर से देवताओं पर आक्रमण करने लगे । वृत्रासुर का नाश

ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा ।
पुरन्दरं पुरस्कृत्य ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥ ५ ॥
कृताञ्जलींस्तु तान्सर्वान्परमेष्ठीत्युवाच ह ।
विदितं मे सुराः सर्वं यद्वः कार्यं चिकीर्षितम् ॥ ६ ॥
तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ ।
दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ॥ ७ ॥
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै संप्रयाचत ।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनाऽन्तरात्मना ॥ ८ ॥
स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकांक्षिभिः ।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ॥ ९ ॥
स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति ।
तस्याऽस्थिभिर्महाघोरं वज्रं संस्क्रियतां दृढम् ॥ १० ॥
महच्छत्रुहणं घोरं षडस्रि भीमनिःस्वनम् ।
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः ॥ ११ ॥
एतद्वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम् ॥ १२ ॥
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्याऽऽश्रमं ययुः ।
सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम् ॥ १३ ॥

चाहनेवाले देवता, इन्द्र को अपना अगुआ बनाकर, हाथ जोड़कर भगवान् ब्रह्मा की आराधना करने लगे। तब ब्रह्मा जी ने प्रकट होकर कहा—हे देवताओ! मैंने तुम्हारा अभिप्राय समझ लिया है। जिस उपाय से तुम वृत्रासुर का नाश कर सकोगे वह मैं बतलाता हूँ। दधीचि नाम से प्रसिद्ध उदारबुद्धि एक महातपस्वी महर्षि हैं। उनके पास जाकर तुम वरदान मांगो। वे महात्मा जब प्रसन्नचित्त होकर वर देने के लिए प्रस्तुत हों तब तुम लोगों ने यह कहना कि आप *त्रिलोकी के हित के लिए अपनी हड्डियां हमें दे दीजिए* अपना शरीर त्यागकर उनके हड्डियाँ देने पर तुम उन हड्डियों से छः कोनोंवाला, भयानक ध्वनि पूर्ण, सुदृढ़ वज्र बनवा लेना। इन्द्र उसी वज्र से वृत्रासुर को मारेंगे। मैंने तुमको यह सम्मति दी है। तुम शीघ्र इसके अनुसार कार्य करो। ॥१।११॥

तब नारायण प्रमुख सब देवता, ब्रह्मा जी की अनुमति लेकर, सरस्वती नदी के उस पार तपोधन दधीचि के आश्रम में पहुँचे। अनेक प्रकार के वृक्षों और

षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव ।
पुंस्कोकिलरवोन्मिश्रं जीवञ्जीवकनादितम् ॥ १४ ॥
महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
तत्र तत्राऽनुचरितं शार्दूल भयवर्जितैः ॥ १५ ॥
करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ॥ १६ ॥
सिंहव्याघ्रैर्महानादान्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरशायिभिः ॥ १७ ॥
तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ॥ १८ ॥
तत्राऽपश्यन्दधीचं ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ॥ १९ ॥
तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ २० ॥
ततो दधीचः परमप्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद्वो हितमद्य देवाः स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ॥ २१ ॥
स एवमुक्त्वा द्विपदां वरिष्ठः प्राणान्वशी स्वान्सहसोत्ससर्ज ।

लताकुञ्जों से उस तपोवन की अपूर्व शोभा हो रही थी। साम-गान सा करते हुए भौंरे गुंजार कर रहे थे। कोकिलाओं की कूक सुन पड़ती थी। सुअर, भैंसे, नीलगाय और बाघ आदि पशु निडर होकर चारों ओर विचर रहे थे। जिनके कपोलों से मद बह रहा था ऐसे हाथियों के झुण्ड के झुण्ड सरोवर में स्नान करके हथिनियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। कन्दराओं में शेरों और बाघों का गम्भीर गर्जन चारों ओर प्रतिध्वनित हो रहा था। स्वर्ग के समान शोभायमान उस आश्रम में पहुँचकर देवताओं ने देखा कि सूर्य के समान महर्षि दधीचि, तपोधन ब्रह्मा जी की तरह, अपने शरीर की कान्ति से प्रकाशित हो रहे हैं। देवताओं ने जाकर उनके चरण छुए और ब्रह्मा जी का बताया हुआ वर माँगा ॥१२।२०॥

देवताओं की प्रार्थना से परम प्रसन्न होकर महर्षि दधीचि ने कहा—हे देवताओ ! मैं आप लोगों का उपकार करना चाहता हूँ। मैं तुरन्त मरने के लिए तैयार हूँ। तुम्हारा माँगा हुआ वर देने में मैं नाहीं न करूँगा। अब परोपकारी महातपस्वी दधीचि ने उसी समय अपना शरीर त्याग दिया। मुनि के मरने पर उनकी हड्डियां लेकर प्रसन्नता से सब देवता अद्भुत कर्म करनेवाले विश्वकर्मा के पास गये।

ततः सुरास्ते जगृहुः परासोरस्थीनि तस्याऽथ यथोपदेशम् ॥ २२ ॥
प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवास्त्वष्टारमागम्य तमर्थमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ॥ २३ ॥
चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव भस्मीकुरुष्वाऽद्य सुरारिमुग्रम् ॥ २४ ॥
ततो हतारिः सगणः सुखं वै प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः ।
त्वष्ट्रा तथोक्तस्तु पुरन्दरस्तद्वज्रं प्रहृष्टः प्रयतो ह्यगृह्णात् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वज्रनिर्माणकथने शततमोऽध्यायः १००

उन्होंने विश्वकर्मा से जाकर अपना सब तात्पर्य कहा। सुनकर विश्वकर्मा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दधीचि की हड्डियाँ लेकर उनसे भयानक प्रभावाला भीमरूप एक वज्र बनाया। फिर वह वज्र इन्द्र को देकर उन्होंने कहा—हे सुरराज ! इस वज्र के द्वारा आप देवशत्रु असुरों को मारकर देवताओं-सहित सुखपूर्वक राज्य भोगिए। विश्वकर्मा के ये वचन सुनकर इन्द्र ने प्रसन्नतापूर्वक वह वज्र ले लिया ॥२१।२५॥

वनपर्व का सौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०० ॥

अथ एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

लोमश उवाच—ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः ।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ॥ १ ॥
कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम् ।
समुद्यतप्रहरणैः सशृङ्गैरिव पर्वतैः ॥ २ ॥
ततो युद्धं समभवद्देवानां दानवैः सह ।
मुहूर्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ॥ ३ ॥
उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः ।
आसीत्सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ॥ ४ ॥

एक सौ एक अध्याय ॥ १०१ ॥

लोमश ऋषि कहते हैं—इन्द्र वृत्रासुर पर आक्रमण करने की इच्छा से उसकी ओर वज्र लेकर दौड़े। शस्त्रधारी देवता चारों ओर से उनकी रक्षा करते हुए चले। उधर ऊँचे शिखरोंवाले पर्वतराज के तुल्य शस्त्र हाथ में लिये, उन्नतशरीर कालकेय राक्षसों के बीच महाअसुर वृत्र आकाश और अन्तरिक्ष को रोके हुए खड़ा था। देवताओं को आगे बढ़ते हुए देखकर असुर लोग क्रोध से अधीर हो उठे। अनेक अस्त्र-

शिरोभिः प्रपतद्भिश्चाऽप्यन्तरिक्षान्महीतलम् ।
तालैरिव महाराज वृन्ताद्भ्रष्टैरदृश्यत ॥ ५ ॥
ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः ।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाऽद्रयः ॥ ६ ॥
तेषां वेगवतां वेगं साभिमानं प्रधावताम् ।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन्भयात् ॥ ७ ॥
तान्दृष्ट्वा द्रवतो भीतान्सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
वृत्रे विवर्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ॥ ८ ॥
कालेयभयसंत्रस्तो देवः साक्षात्पुरन्दरः ।
जगाम शरणं शीघ्रं तं तु नारायणं प्रभुम् ॥ ९ ॥
तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः ।
स्वतेजो व्यदधच्छक्रे वलमस्य विवर्धयन् ॥ १० ॥
विष्णुना गोपितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः ।
सर्वे तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ११ ॥
स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्वलवान्समपद्यत ॥ १२ ॥
ज्ञात्वा वलस्थं त्रिदशाधिपं तु ननाद वृत्रो महतो निनादान् ।

शस्त्र उठाकर दोनों दल परस्पर भिड़ गये। घोर संग्राम में परस्पर तलवारें चलाने से टूटे हुए तालफलों के समान देवताओं और दैत्यों के सिर कट-कटकर पृथ्वी पर गिरने लगे ॥१।५॥

सुवर्ण के कवच पहने और परिघ आदि शस्त्र हाथ में लिये कालकेय नाम के असुरों ने देवताओं पर हमला किया। प्रबल पराक्रमी कालकेयगण अभिमान के साथ देवताओं की ओर दौड़े। देवता घबराकर इधर-उधर भागने लगे। उनको भागने और दैत्यों को उनका पीछा करते देखकर इन्द्र व्याकुल हो गये। वे दम भर में सम्भलकर वृत्रासुर के डर से बहुत ही सकपकाये और भगवान् नारायण के शरणागत हुए। सब प्राणियों के स्वामी विष्णु ने इन्द्र को व्याकुल देखकर अपना तेज देकर उनकी सहायता की। यह देखकर देवताओं और ब्रह्मर्षियों ने प्रसन्नतापूर्वक अपना अपना तेज देकर इन्द्र के बल को और भी बढ़ा दिया ॥६।१०॥

इन्द्र को विष्णु के तेज से रक्षित देखकर वृत्रासुर बहुत क्रोधित हुआ और वह बारम्बार सिंहनाद करने लगा। उसके चिल्लाने के भयानक शब्द को सुनकर सब दिशाएँ काँप उठीं और सारा संसार शङ्कित हो गया। वृत्रासुर का शङ्खनाद के समान

तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ॥ १३ ॥
ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम् ।
भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच वज्रं महत्तस्य वधाय राजन् ॥ १४ ॥
स शक्रवज्राभिहतः पपात महासुरः काञ्चनमाल्यधारी ।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात्स मन्दरो विष्णुकराद्विमुक्तः ॥ १५ ॥
तस्मिन्हते दैत्यवरे भयार्तः शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम् ।
वज्रं स मेने न कराद्विमुक्तं वृत्रं भयाच्चापि हतं न मेने ॥ १६ ॥
सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः ।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ॥ १७ ॥
तैस्त्रास्यमानास्त्रिदशैः समेतैः समुद्रमेवाऽविविशुर्भयार्ताः ।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं झषाकुलं नक्रसमाकुलं च ॥ १८ ॥
तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रुस्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ।
तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञास्तांस्तानुपायानुपवर्णयन्ति ॥ १९ ॥
तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्घोरामतिश्चिन्तयतां बभूव ।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्नास्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ॥ २० ॥
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते तस्मात्त्वरध्वं तपसः क्षयाय ॥ २१ ॥
ये सन्ति केचिच्च वसुन्धरायां तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ।

गम्भीर शब्द सुनकर इन्द्र बहुत ही भयभीत और चकित हुए। तब उन्होंने वृत्रासुर को मारने के लिए वज्र चलाया। इन्द्र का वज्र लगते ही सोने की माला पहने हुए महा असुर वृत्र, विष्णु के हाथ से छूटे हुए पर्वतराज मन्दराचल के समान, पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ १३।१५ ॥

वृत्रासुर से इन्द्र इतना डरे हुए थे कि उन्हें अपने हाथ से चलाये हुए वज्र से भी वृत्रासुर के मरने में सन्देह बना रहा। तब वे प्राण बचाने के लिए एक सरोवर में घुसने को दौड़े। वृत्रासुर को वज्र की मार से मृत्युग्रस्त और पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखकर सब देवता और महर्षि हर्षसूचक शब्द करके इन्द्र की प्रशंसा करने लगे। वृत्रासुर के मर जाने से व्याकुल असुरों को देवताओं ने तुरन्त ही एकत्र होकर मारा। देवताओं के हाथों मार खाकर वे भयानक जलजन्तुओं से पूर्ण, गम्भीर समुद्र में घुसकर त्रैलोक्य के नाश के लिए आपस में सम्मति करने लगे। बहुत देर तक सम्मति करने पर यह निश्चय हुआ कि सब से पहले तपोबलशाली सब शास्त्रों के ज्ञाता लोगों को मारना चाहिए; क्योंकि तपस्या ही लोकरक्षा का प्रधान कारण है। अतएव आओ, सब एकमत होकर पहले पृथ्वी पर रहनेवाले धार्मिकों और

तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव तेषु प्रनष्टेषु जगत्प्रनष्टम् ॥ २२ ॥
एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ।
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं रत्नाकरं वरुणस्याऽऽलयं स्म ॥ २३ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांवृत्रवधोपाख्यानेएकाधिकशततमोऽध्याय

तपस्वियों का ही संहार करें। तभी सारा जगत् नष्ट हो सकेगा। दुस्तर तरङ्गों से पूर्ण दुर्भेद्य समुद्र के दुर्गम दुर्ग (किले) में रहकर सब दानव संसार का नाश करने के लिए इस प्रकार सम्मति करने लगे। ॥१६।२३॥

वनपर्व का एक सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

अथ द्विधिकशततमोऽध्याय ॥ १०२ ॥

लोमश उवाच—समुद्रं ते समाश्रित्य वरुणं निधिमम्भसः ।
कालेयाः संप्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ॥ १ ॥
ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ॥ २ ॥
वसिष्ठस्याऽऽश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः ।
अशीतिः शतमष्टौ च नव चाऽन्ये तपस्विनः ॥ ३ ॥
च्यवनास्याऽऽश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥ ४ ॥
एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चाऽर्णवं दिवा ।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ॥ ५ ॥

एक सौ दो अध्याय ॥ १०२ ॥

लोमश ऋषि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार समुद्र के भीतर रहकर, त्रिलोक-संहार के लिए तरह तरह की सलाहें कर, अन्त को कुपित राक्षस लोग रात्रि के समय आश्रमों और पुण्यस्थानों में रहनेवाले ब्राह्मणों को मारकर खाने लगे। दुष्ट राक्षसों ने महात्मा वसिष्ठ जी के आश्रम में घुसकर एक सौ सत्तानवे ब्रह्मर्षियों और अन्यान्य तपस्वियों को मारकर खा लिया। च्यवन ऋषि के आश्रम में जाकर एक सौ फल मूलाहारी तपस्वियों का नाश किया ॥१।४॥

भरद्वाज ऋषि के आश्रम में जाकर केवल जल और वायु के आधार पर तपस्या करनेवाले बीस ब्राह्मणों का नाश कर डाला। वे राक्षस रात्रि को इस प्रकार से अत्याचार करते थे और दिन को समुद्र के भीतर छिप जाते थे। इस प्रकार ऋषियों के आश्रमों

तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ॥ १३ ॥
ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम् ।
भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच वज्रं महत्तस्य वधाय राजन् ॥ १४ ॥
स शक्रवज्राभिहतः पपात महासुरः काञ्चनमाल्यधारी ।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात्स मन्दरो विष्णुकराद्विमुक्तः ॥ १५ ॥
तस्मिन्हते दैत्यवरे भयार्तः शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम् ।
वज्रं न मेने न कराद्विमुक्तं वृत्रं भयाच्चापि हतं न मेने ॥ १६ ॥
सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः ।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ॥ १७ ॥
ते त्रास्यमानास्त्रिदशैः समेतैः समुद्रमेवाऽविविशुर्भयार्ताः ।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं झषाकुलं रत्नसमाकुलं च ॥ १८ ॥
तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रुस्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ।
तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञास्तांस्तानुपायाननुवर्णयन्ति ॥ १९ ॥
तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्घोरा मतिश्चिन्तयतां बभूव ।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्नास्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ॥ २० ॥
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते तस्मात्त्वरध्वं तपसः क्षयाय ॥ २१ ॥
ये सन्ति केचिद्वसुन्धरायां तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ।

तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव तेषु प्रनष्टेषु जगत्प्रनष्टम् ॥ २२ ॥
एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ।
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं रत्नाकरं वरुणस्याऽऽलयं स्म ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वृत्रवधोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः

तपस्वियों का ही संहार करें। तभी सारा जगत् नष्ट हो सकेगा। दुस्तर तरङ्गों से पूर्ण दुर्भेद्य समुद्र के दुर्गम दुर्ग (किले) में रहकर सब दानव संसार का नाश करने के लिए इस प्रकार सम्मति करने लगे। ॥१६।२३॥

— ○ —

वनपर्व का एक सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

अथ द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

लोमश उवाच—समुद्रं ते समाश्रित्य वरुणं निधिमम्भसः ।
कालेयाः संप्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ॥ १ ॥
ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ॥ २ ॥
वसिष्ठस्याऽऽश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः ।
अशीतिः शतमष्टौ च नव चाऽन्ये तपस्विनः ॥ ३ ॥
च्यवनस्याऽऽश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥ ४ ॥
एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चाऽर्णवं दिवा ।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ॥ ५ ॥

एक सौ दो अध्याय ॥ १०२ ॥

लोमश ऋषि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार समुद्र के भीतर रहकर, त्रिलोक-संहार के लिए तरह-तरह की सलाहें कर, अन्त को कुपित राक्षस लोग रात्रि के समय आश्रमों और पुण्यस्थानों में रहनेवाले ब्राह्मणों को मारकर खाने लगे। दुष्ट राक्षसों ने महात्मा वशिष्ठ जी के आश्रम में घुसकर एक सौ अट्ठानवे ब्राह्मणों और अन्यान्य तपस्वियों को मारकर खा लिया। च्यवन ऋषि के आश्रम में जाकर एक सौ फल मूलाहारी तपस्वियों का नाश किया ॥१।४॥ भरद्वाज ऋषि के आश्रम में जाकर केवल जल और वायु के आधार पर तपस्या करनेवाले बीस ब्राह्मणों का नाश कर डाला। वे राक्षस रात्रि के इस प्रकार से अत्याचार करते थे और दिन को समुद्र के भीतर छिप जाते थे। इस प्रकार ऋषियों के आश्रमों

वायवाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिषूदिताः ।
एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान्दानवास्तदा ॥ ६ ॥
निशायां परिबाधन्ते मत्ता भुजबलाश्रयात् ।
कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान्बहून् ॥ ७ ॥
न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम ।
एवंप्रवृत्तान्दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ॥ ८ ॥
प्रभाते समदृश्यन्त नियताहारकर्षिता ।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ॥ ९ ॥
क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसंधिभिः ।
आकीर्णैराबभौ भूमिः शङ्खानामिव राशिभिः ॥ १० ॥
कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च ।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ॥ ११ ॥
निःस्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम् ।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेय भयपीडितम् ॥ १२ ॥
एवं सक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर ।
आत्मत्राणपरा भीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ॥ १३ ॥
केचिद्गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चाऽपरे तथा ।

में कालकेय दानवों के उपद्रव से बेचैनी फैल गई। सैकड़ों ब्राह्मण अकाल में ही काल का कौर बन गये। किन्तु कोई उन दानवों का पता न लगा सका। दुष्ट दानवों का अत्याचार धीरे धीरे चारों ओर फैलने लगा। नित्य सबेरे देख पड़ने लगा कि नियत आहार से दुर्बल शरीरवाले मुनियों की ठठरियाँ पृथ्वी पर पड़ी हुई हैं। सब तपोवनों में रक्त की धारा, हड्डी, मेदा, मास और मज्जा आदि देख पड़ने लगी। अग्निहोत्र के स्थान नष्ट-भ्रष्ट देख पड़ने लगे। कहीं कमण्डलु और कहीं स्रुवा टूटे पड़े थे। वेदपाठ, वषट्कार की ध्वनि, यज्ञ, उत्सव और अन्य सब कर्मकाण्ड की क्रियाएं पृथ्वी पर से मानों उठ गईं। इस प्रकार से कराल कालकेयों की दुष्टता से सारा जगत् शङ्कित और चिन्तित हो उठा ।।५।१०।।

दिन प्रति दिन कालकेय दानवों के उपद्रव से मनुष्यों का नाश होते देखकर बचे हुए सब प्राणी अपने प्राण लेकर, स्थान छोड़कर, इधर उधर भाग गये। कोई पर्वतों की कन्दराओं में, कोई वन में, और कोई झरनों के पास छिपकर रहने लगे। अनेक लोग मृत्यु के भय से आप ही आप मर गये। केवल दो एक वीर पुरुष धनुष बाण हाथ में लेकर दुष्ट दानवों का पता लगाने लगे। पर वे तो आनन्द से बेखटके

अपरे मरणोद्विग्ना भयात्प्राणान्समुत्सृजन् ॥ १४ ॥
केचिदत्र महेष्वासाः शूराः परमहर्षिताः ।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥
न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान् ।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ॥ १६ ॥
जगत्युपशमं याते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये ।
आजग्मुः परमामार्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ॥ १७ ॥
समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे ।
शरण्यं शरणं देवं नारायणमजं विभुम् ॥ १८ ॥
तेऽभिगम्य नमस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम् ।
ततो देवाः समस्तास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ॥ १९ ॥
त्वं नः स्रष्टा च भर्ता च हर्ता च जगतः प्रभो ।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥ २० ॥
त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात्पुष्करेक्षण ।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ॥ २१ ॥
आदिदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुः पुरा ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥
अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः ।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद्भ्रंशितस्त्वया ॥ २३ ॥

समुद्र के भीतर रहते थे, इस कारण उनका कोई कुछ नहीं कर सका। बल्कि दानवों की खोज में लगातार घूमने के कारण वे ही थककर मर मिटे। पृथ्वी पर यज्ञ-याग आदि के बन्द होने और मनुष्यों के मारे जाने से देवता अत्यन्त पीड़ित हुए। इन्द्र आदि देवताओं ने मिलकर सम्मति की। फिर सब भगवान् नारायण की शरण में गये। हाथ जोड़कर प्रणाम करके विनीत वचनों से वे कहने लगे—हे सनातन जगत् के स्वामी! एकमात्र तुम्हीं जगत् की सृष्टि, पालन और नाश करते हो। ॥११-२०॥

हे कमलनयन! पहले यह ब्रह्माण्ड समुद्र के जल में डूबा हुआ था। उस समय तुमने वराह का रूप धारण करके जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया है। तुमने नृसिंह रूप धारण कर आदि-दैत्य हिरण्यकशिपु को मारा है। तुमने वामन रूप धारण कर उद्दण्ड राजा बलि को त्रिलोकी के राज्य से भ्रष्ट

अ॒सुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः ।
यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ॥ २४ ॥
एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते ।
अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ २५ ।
तस्मात्त्वां देवदेवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे ।
रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रं च महतो भयात् ॥ २६ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांविष्णुस्तवेद्विधिकशततमोऽध्याय १०२

किया है। तुमने सब यज्ञों को मिटानेवाले जम्भासुर को मारा है। हे मधुसूदन! इस प्रकार अनेक अद्भुत काम करके तुमने जगत् का भला किया है। इस कारण इस विपत्ति को दूर करके हम भय से पीड़ित शरण में आये हुए देवताओं की, इन्द्र की और संसार की रक्षा करो ॥२१।२६॥

वनपर्व का एकसौ दो अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०२ ॥

अथ त्रिधिकशततमोऽध्याय ॥ १०३ ॥

देवा ऊचु तव प्रसादाद्वर्धन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।
ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ॥ १ ॥
लोका ह्येवं विवर्धन्ते ह्यन्योन्यं समुपाश्रिताः ।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ॥ २ ॥
इदं च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम् ।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ॥ ३ ॥
क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति ।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ॥ ४ ॥
त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते ।

एक सौ तीन अध्याय ॥ १०३ ॥

देवताओंने कहा हे लोकनाथ! तुम्हारी ही कृपा से चारों वर्णों की प्रजा बढ़ती और फलती है। वह प्रजा हव्य और कव्य के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करती है। हे नाथ! तुम्हारे ही सृष्टि कौशल से पृथ्वी और स्वर्ग परस्पर की सहायता से बढ़ते और तुम्हारी द्वारा प्रतिपालित होते हैं। किन्तु हम समय ये दोनों लोक बड़ी भारी विपत्ति में पड़कर चिन्तित हो रहे हैं। हम नहीं जानते कि कौन दुष्ट छिपकर रात्रि को आते हैं और ब्राह्मणों की हत्या करके भाग जाते हैं। इस प्रकार धीरे धीरे ब्राह्मणों का नाश होने से पृथ्वी चौपट हो जायगी। पृथ्वी के नष्ट होने पर निस्सन्देह स्वर्ग की भी यही दशा होगी। हे विश्वनाथ!

विनाशं नाऽधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ॥ ५ ॥

विष्णुरुवाच—विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम् ।
भवतां चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ॥ ६ ॥
कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः ।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत्सर्वं प्रमाथितम् ॥ ७ ॥
ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता ।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ॥ ८ ॥
ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम् ।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति ऋषीनिह ॥ ९ ॥
न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते ।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः संप्रधार्यताम् ॥ १० ॥
अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे ।
अन्यथा हि न शक्यास्ते विना सागरशोषणम् ॥ ११ ॥
एतच्छ्रुत्वा तदा देवा विष्णुना समुदाहृतम् ।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याऽऽश्रमं ययुः ॥ १२ ॥
तत्राऽपश्यन्महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम् ।

तुम्हारी ही कृपा से सब लोकों का पालन और रक्षा होती है। इससे वही कीजिए जिससे सब लोक नष्ट न हों ॥१-५॥

विष्णु ने कहा-हे देवताओ ! जिस कारण प्रजा का क्षय हो रहा है सो मैं जानता हूँ। मैं तुम लोगों से वह कारण कहता हूँ, मन लगाकर सुनो। कालेय नाम से प्रसिद्ध बड़े भयानक कुछ दानव थे। वे वृत्रासुर को अपना अगुआ बनाकर सब जगत को सताते फिरते थे। इस समय वृत्रासुर को बुद्धिमान् इन्द्र ने मार डाला है। वे राक्षस अपने प्राण बचाने के लिए समुद्र के भीतर भाग गये हैं। मगर-घड़ियाल आदि भयानक जल-जन्तुओं से पूर्ण समुद्र के भीतर रहनेवाले वही राक्षस रात्रि को बाहर निकलकर सारे संसार के नाश के लिए ऋषियों की हत्या करते हैं। इस कारण उनका नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु वे अथाह समुद्र के भीतर छिपे हुए हैं। इसलिए उन्हें नष्ट करना सहज नहीं है। समुद्र को सोखना ही उनके नाश का एकमात्र उपाय है। इसलिए ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिए जिससे समुद्र का जल सूख जाय। समुद्र को सुखा सकनेवाले केवल अगस्त्य ऋषि हैं। उनके सिवा ऐसा और कोई नहीं ॥६-१०॥

विष्णु भगवान् के ये वचन सुनकर सब देवता ब्रह्मा जी से यह वृत्तान्त कहकर अगस्त्य जी के

उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥ १३ ॥
तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम् ।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥ १४ ॥
देवा ऊचुः—नाहुषेणाऽभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा ।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्यात्स्वर्लोकाल्लोककण्टकः ॥ १५ ॥
क्रोधात्प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः ।
वचस्तवाऽनतिक्रामन्विन्ध्यः शैलो न वर्धते ॥ १६ ॥
तमसा चाऽऽवृते लोके मृत्युनाऽभ्यर्दिताः प्रजाः ।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृत्तिं परमां गताः ॥ १७ ॥
अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान्गतिः ।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि ॥ १८

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्यमाहात्म्यकथने ऽध्यि १८

तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाऽब्रवीत् ।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ॥ ३ ॥
प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर ।
एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥
नाऽहमात्मेच्छया शैलं करोम्येनं प्रदक्षिणम् ।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत् ॥ ५ ॥
एवमुक्तस्ततः क्रोधात्प्रवृद्धः सहसाऽचलः ।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन्परन्तप ॥ ६ ॥
ततो देवाः सहिताः सर्व एव विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम् ।
निवारयामासुरुपायतस्तं न च स्म तेषां वचनं चकार ॥ ७ ॥
अथाऽभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यवन्तं तं चाऽर्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ॥ ८ ॥
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा ।
शैलराजोऽवृणोत्येष विंध्यः क्रोधवशानुगः ॥ ९ ॥
तं निवारयितुं शक्तो नाऽन्यः कश्चिद् द्विजोत्तम ।

एक सौ चार अध्याय ॥ १०४ ॥

उक्त कथा को सुनकर राजा युधिष्ठिर ने पूछा—हे महाराज ! विन्ध्याचल किस कारण से कुपित होकर एकाएक ऊँचा हो गया था ? मैं इस उपाख्यान को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ । लोमश ऋषि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! भगवान् सूर्य नित्य उदय और अस्त के समय पर्वतों के राजा कनक पर्वत अर्थात् सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं । यह देखकर विंध्याचल ने सूर्यनारायण जी से कहा—हे सूर्यदेव ! तुम नित्य जिस तरह सुमेरु पर्वत के चारों ओर घूमकर उसकी प्रदक्षिणा करते हो उसी प्रकार से मेरी भी प्रदक्षिणा किया करो। विन्ध्याचल के यों कहने पर सूर्य ने कहा—हे पर्वतराज ! मैं अपनी इच्छा से सुमेरु की प्रदक्षिणा नहीं करता। जगत् के उत्पन्न करनेवाले ईश्वर ने जो मार्ग मेरे लिए बना दिया है मैं उसी में घूमा करता हूँ ॥१-५॥

हे धर्मराज ! सूर्य के इस कथन से विन्ध्याचल को क्रोध चढ़ आया। वह सूर्य और चन्द्र की गति रोकने के लिए अकस्मात् ऊपर की ओर बढ़ने लगा। यह देखकर सब देवता विन्ध्याचल के पास गये और अनेक उपायों से उसका बढ़ना रोकने का उपाय करने लगे। परन्तु विन्ध्याचल किसी तरह उनका कहना मानने को प्रस्तुत नहीं हुआ। तब सब देवता मिलकर अत्यन्त अद्भुत पराक्रमवाले, धार्मिकश्रेष्ठ, महातपस्वी अगस्त्य के पास गये। वहाँ सब वृत्तान्त

उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥ १३ ॥
तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम् ।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥ १४ ॥
देवा ऊचुः—नाहुषेणाऽभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा ।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्यात्स्वर्लोकाल्लोककण्टकः ॥ १५ ॥
क्रोधात्प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः ।
वचस्तवाऽनतिक्रामन्विन्ध्यः शैलो न वर्धते ॥ १६ ॥
तमसा चाऽऽवृते लोके मृत्युनाऽभ्यर्दिताः प्रजाः ।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृत्तिं परमां गताः ॥ १७ ॥
अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान्गतिः ।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्यमाहात्म्यकथने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०३॥

आश्रम को गये। वहां जाकर उन्होंने देखा कि देवता जैसे भगवान् ब्रह्मा जी की उपासना करते हैं वैसे ही बहुत से ऋषि महर्षि अगस्त्य जी की उपासना कर रहे हैं। तपोराशि महात्मा अगस्त्य जी को आश्रम में बैठे देखकर सब देवता उनके पास गये और उन्हीं के किये कर्मों का वर्णन करके उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ! जब राजा नहुष के कार्य से सब लोक व्याकुल हो गये थे तब आपने ही उस लोककण्टक को इन्द्र के ऐश्वर्य से भ्रष्ट करके सब लोकों की रक्षा की थी। सूर्य की गति रोकने के लिए ऊपर को उठा हुआ पर्वतराज विन्ध्याचल आपकी ही आज्ञा से अबतक पृथ्वी पर पड़ा हुआ है; खड़ा नहीं हो सकता। उस समय सूर्य का प्रकाश न पाकर अँधेरे से अत्यन्त पीड़ित प्रजा आपकी कृपा से परम आनन्दित हुई थी। इस कारण हे भगवन्! आप ही इस समय भयभीत देवताओं की एकमात्र गति हो। इस समय हम भय से पीड़ित होकर आपसे यही वर माँगने आये हैं ॥११।१८॥

वनपर्व का एकसौ तीन अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०३ ॥

अथ चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—किमर्थं सहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्च्छितः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने ॥ १ ॥
लोमश उवाच—अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम् ।
उदयास्तमने भानुः प्रदक्षिणमवर्तत ॥ २ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाऽब्रवीत् ।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ॥ ३ ॥
प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर ।
एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥
नाऽहमात्मेच्छया शैलं करोम्येनं प्रदक्षिणम् ।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत् ॥ ५ ॥
एवमुक्तस्ततः क्रोधात्प्रवृद्धः सहसाऽचलः ।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन्परन्तप ॥ ६ ॥
ततो देवाः सहिताः सर्व एव विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम् ।
निवारयामासुरुपायतस्तं न च स्म तेषां वचनं चकार ॥ ७ ॥
अथाऽभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यवन्तं तं चाऽर्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ॥ ८ ॥
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा ।
शैलराजोऽवृणोत्येष विंध्यः क्रोधवशानुगः ॥ ९ ॥
तं निवारयितुं शक्तो नाऽन्यः कश्चिद् द्विजोत्तम ।

एक सौ चार अध्याय ॥ १०४ ॥

उक्त कथा को सुनकर राजा युधिष्ठिर ने पूछा—हे महाराज ! विन्ध्याचल किस कारण से कुपित होकर एकाएक ऊँचा हो गया था ? मैं इस उपाख्यान को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ । लोमश ऋषि ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! भगवान् सूर्य नित्य उदय और अस्त के समय पर्वतों के राजा कनक पर्वत अर्थात् सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं । यह देखकर विंध्याचल ने सूर्यनारायण जी से कहा—हे सूर्यदेव ! तुम नित्य जिस तरह सुमेरु पर्वत के चारों ओर घूमकर उसकी प्रदक्षिणा करते हो उसी प्रकार से मेरी भी प्रदक्षिणा किया करो । विन्ध्याचल के यों कहने पर सूर्य ने कहा—हे पर्वतराज ! मैं अपनी इच्छा से सुमेरु की प्रदक्षिणा नहीं करता । जगत् के उत्पन्न करनेवाले ईश्वर ने जो मार्ग मेरे लिए बना दिया है मैं उसी में घूमा करता हूँ ॥१-५॥

हे धर्मराज ! सूर्य के इस कथन से विन्ध्याचल को क्रोध चढ़ आया । वह सूर्य और चन्द्र की गति रोकने के लिए अकस्मात् ऊपर की ओर बढ़ने लगा । यह देखकर सब देवता विन्ध्याचल के पास गये और अनेक उपायों से उसका बढ़ना रोकने का उपाय करने लगे । परन्तु विन्ध्याचल किसी तरह उनका कहना मानने को प्रस्तुत नहीं हुआ । तब सब देवता मिलकर अत्यन्त अद्भुत पराक्रमवाले, धार्मिकश्रेष्ठ, महातपस्वी अगस्त्य के पास गये । वहाँ सब वृत्तान्त

देवा ऊचु - ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात् ।
सोऽभिगम्याऽब्रवीद्विंध्यं सदारः समुपस्थितम् ॥ ११ ॥
मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम ।
दक्षिणामभिगन्ताऽस्मि दिशं कार्येण केनचित् ॥ १२ ॥
यावदागमनं मह्यं तावत्त्वं प्रतिपालय ।
निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्धस्व कामतः ॥ १३ ॥
एवं स समयं कृत्वा विंध्येनाऽमित्रकर्शन ।
अद्यापि दक्षिणाद्देशाद्वारुणिर्न निवर्तते ॥ १४ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा विंध्यो न वर्धते ।
अगस्त्यस्य प्रभावेण यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १५ ॥
कालेयास्तु यथा राजन् सुरैः सर्वैर्निषूदिताः ।
अगस्त्याद्वरमासाद्य तन्मे निगदतः श्रृणु ॥ १६ ॥
त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत् ।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः कमिच्छथ ।
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन् ॥ १७ ॥

वर्णन करके वे कहने लगे-हे महाभाग ! पर्वतराज विन्ध्याचल ने क्रोध से उन्मत्त होकर सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति रोक ली है । हे द्विजश्रेष्ठ ! आपके सिवाय और कोई उसे इस अनर्थ से रोक नहीं सकता, इसलिए उसे रोकिए ॥९।१०॥

देवताओं के ये वचन सुनकर अपनी स्त्री को साथ लिये अगस्त्य जी विन्ध्याचल के पास गये । वहां जाकर उन्होंने विन्ध्याचल से कहा। हे पर्वतराज ! मैं किसी कार्य से दक्षिण दिशा को जाता हूँ । तुम मुझे जाने की राह दो और जबतक मैं लौटकर न आऊँ तबतक तुम और मत बढ़ो; मेरी आज्ञा को मानो । जब मैं उधर से लौट आऊँ तब तुम अपनी इच्छा के अनुसार जितना चाहो उतना बढ़ना । हे धर्मराज ! विन्ध्याचल से यों प्रतिज्ञा कराकर महर्षि अगस्त्य जी दक्षिण दिशा को चले गये; पर वे अभी तक उधर से नहीं लौटे । इस कारण विन्ध्याचल भी तब से अब तक फिर बढ़ नहीं सका । हे महाराज ! जिस कारण अगस्त्य जी के प्रभाव से विन्ध्याचल बढ़ नहीं सका सो आपके प्रश्न के अनुसार मैंने कह सुनाया । अब जिस तरह देवताओं ने महर्षि अगस्त्य से वरदान पाकर कालकेय दानवों को मारा था वह वृत्तान्त कहता हूँ, सुनो ॥११।१६॥

महर्षि अगस्त्य जी ने देवताओं की स्तुति सुनकर पूछा- आप लोग किसलिए मेरे पास आये हैं ?

एवं त्वयेच्छाम. कृतं हि कार्यं महार्णवं पीयमानं महात्मन् ।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान्कालेयसंज्ञान्सुरविद्विषस्तान् ॥ १८ ॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत् ।
करिष्ये भवतां कामं लोकानां च महत्सुखम् ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत्समुद्रं सरितां पतिम् ।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्थं देवैश्च सुव्रत ॥ २० ॥

मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिंपुरुषास्तथा ।
अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ २१ ॥

ततोऽभ्यगच्छन्सहिताः समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वलगन्तमिव वायुना ॥ २२ ॥

हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणान्वितम् ॥ २३ ॥

अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागः समासेदुर्महोदधिम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्योपाख्याने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥१०४॥

और कैसा वरदान मुझसे मांगते हैं? महर्षि के पूछने पर देवताओं ने कहा—हे महात्मा जी! हम आपसे यही प्रार्थना करते हैं कि आप समुद्र का सारा जल पी लीजिए। तब हम देवशत्रु कालकेय नामक दानवों को उनके मित्रों-सहित मारकर निश्चिन्त हो जायेंगे। देवताओं के वचन सुनकर, उनका मनोरथ सिद्ध करने के लिए, मुनि ने उनकी बात स्वीकार कर ली। मुनिवर ने देवताओं से कहा-मैं आप लोगों का अत्यन्त अभीष्ट और सब लोगों के हित का यह काम अवश्य करूँगा। हे धर्मराज! इसके उपरान्त महर्षि अगस्त्य देवताओं और तपस्या से सिद्ध ऋषियों के साथ समुद्र की ओर चले। इस अद्भुत घटना को देखने के लिए मनुष्य, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नर महर्षि अगस्त्य के पीछे-पीछे चले। सब लोग समुद्र के किनारे पहुँचे। वहां उन्होंने देखा कि अनेक प्रकार के जलजन्तुओं और पक्षियों से पूर्ण समुद्र वायु की थपेड़ों से लहराता हुआ नाच सा रहा है। फेनराशि देखने से वह हँसता सा जान पड़ता है। ॥१७।२४॥

वनपर्व का एक सौ चार अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०४ ॥

अथ पञ्चाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०५ ॥

लोमश उवाच—समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान्देवानृषींश्चैव समागतान् ॥ १ ॥
अहं लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २ ॥
एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत्क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ३ ॥
पीयमानं समुद्रं तं दृष्ट्वा सेन्द्रास्तदाऽमराः ।
विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाऽप्यपूजयन् ॥ ४ ॥
त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावन ।
त्वत्प्रसादात्समुच्छेदं न गच्छेत्सामरं जगत् ॥ ५ ॥
स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा गन्धर्वतूर्येषु नदत्सु सर्वशः ।
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणो महार्णवं निःसलिलं चकार ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः ।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि तान्दानवाञ्जघ्नुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥
ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभिर्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः ।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम् ॥ ८ ॥
ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिस्वनाः ।

एक सौ पाँच अध्याय ॥ १०५ ॥

लोमश कहते हैं कि भगवान् महर्षि अगस्त्य ने समुद्र के पास पहुँचकर आये हुए देवताओं और ऋषियों से कहा मैं संसार के भले के लिए इस समुद्र के जल को पिये लेता हूँ । आप लोगों को जो कुछ करना हो सो तुरन्त करें । अब वे सब लोगों के आगे समुद्र का जल पीने लगे। यह देख कर इन्द्र आदि देवता बहुत ही चकराये और अनेक प्रकार के स्तुति-वाक्यों से महर्षि को प्रसन्न करते हुए कहने लगे ॥१-४॥

आप लोकरक्षक और हम लोगों के प्रतिपालक विधाता हो । आपकी ही कृपा से आज सब जगत् की रक्षा हुई । इस प्रकार देवताओं के स्तुति वाक्य सुनते हुए महर्षि ने समुद्र का सारा पानी पी लिया। उस समय देवता स्वर्ग से उनके मस्तक पर फूलों की वर्षा करने लगे । गन्धर्व नाचने लगे । समुद्र को सूखा हुआ देखकर देवता बहुत प्रसन्न हुए और दिव्य अस्त्र शस्त्र लेकर दानवों को मारने लग गये। हे भरतश्रेष्ठ ! महाबली देवताओं ने जब वेग से

चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्तमिव भारत ॥ ९ ॥
ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिपूदिताः ॥ १० ॥
ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः ।
निहता बह्वशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ११ ॥
हतशेषास्ततः केचित्कालेया मनुजोत्तम ।
विदार्य वसुधां देवीं पातालतलमास्थिताः ॥ १२ ॥
निहतान्दानवान्दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥
त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकैः प्राप्तं महत्सुखम् ।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ॥ १४ ॥
पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन ।
यत्त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन्पुनरुत्सृज ॥ १५ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान्मुनिपुङ्गवः ।
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यः प्रचिन्त्यताम् ॥ १६ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ॥ १७ ॥

आक्रमण किया तब दानव लोग उनको रोकने में बिल्कुल असमर्थ हुए। किन्तु इस प्रकार मारे जाने पर भी कुछ देर तक भयङ्कर शब्द करते हुए दानवों ने घोर युद्ध किया ॥५।९॥

वे राक्षस पहले ही विशुद्ध मुनियों के तपोबल से भस्म हो चुके थे। इस कारण इस समय प्राणपण से यत्न करने पर भी वे अपने को बचा नहीं सके; उनको देवताओं ने नष्ट कर डाला। सुवर्ण के बहुत से गहने पहननेवाले वे दानव, मारे जाकर, फूले हुए ढाक के वृक्ष के समान देख पड़ते थे। हे नरश्रेष्ठ! मृत्यु से बचे हुए कोई-कोई दानव पृथ्वी खोदकर पाताल को भाग गये। दानवों को विनष्ट देखकर सब देवता महर्षिश्रेष्ठ अगस्त्य जी की स्तुति करने लगे—हे महाबाहो! आपकी कृपा से ही सब लोगों को परम शान्ति मिली है। हे लोकहितैषी! आपने जिस तरह सब जल पीकर समुद्र को सुखा दिया है उसी तरह जल छोड़कर समुद्र को फिर भर दीजिए ॥१०।१५॥

देवताओं ने जब अगस्त्य जी से यों प्रार्थना की तब उन्होंने कहा—हे देवताओ! मैंने समुद्र का सब जल पीकर पचा लिया है। इसलिए अब तुम समुद्र को फिर भरने के लिए कोई दूसरा उपाय सोचो।

विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिताः सुराः ।
परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ १८ ॥
प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम् ।
त्रिदशा विष्णुना सार्धमुपजग्मुः पितामहम् ॥ १९ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
उचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याऽभिपूरणम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्योपाख्याने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०५॥

महर्षि अगस्त्य जी का यह उत्तर सुनकर सब देवता बहुत विस्मित और उदास हुए। फिर सब लोग मुनि को प्रणाम करके परस्पर विदा होकर अपने-अपने स्थान को चले गये। देवता लोग समुद्र को पूर्ण करने के सम्बन्ध में बार-बार सम्मति करके जब कुछ ठीक नहीं कर सके तब विष्णु भगवान् को साथ लेकर ब्रह्मा जी के पास गये। वहाँ जाकर हाथ जोड़कर उन्होंने सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥१७।२०॥

वनपर्व का एक सौ पांच अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०५ ॥

अथ षडधिकशततमोऽध्याय ॥ १०६ ॥

लोमश उवाच—तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ॥ १ ॥
महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातींश्च कारणं कृत्वा महाराज्ञो भगीरथात् ॥ २ ॥
पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे विबुधसत्तमाः ।
कालयोगं प्रतीक्षन्तो जग्मुश्चापि यथागतम् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन्कारणं चाऽत्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथप्रतिश्रयात् ॥ ४ ॥

एक सौ छ अध्याय ॥ १०६ ॥

लोमश मुनि कहते हैं—हे धर्मराज! लोकपितामह ब्रह्मा ने देवताओं से कहा कि देवताओ इस समय तुम लोग अपने-अपने स्थान को जाओ। बहुत दिनों के बाद महाराज भगीरथ अपने पुरखों को तारने के लिए गङ्गा को पृथ्वी पर लावेंगे। इससे समुद्र पूर्ण हो जायगा। ब्रह्मा जी के ये वचन सुनकर सब देवता अपने-अपने लोक को चले गये और उस समय की बाट जोहने लगे। राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्रह्मन्! महाराज भगीरथ के पुरखा कौन थे? भगीरथ ने किस तरह समुद्र को फिर जल से भर दिया? इसका कारण क्या है? सब बातों को विस्तार के साथ सुनने की मुझे बड़ी इच्छा है। आप कृपा करके उन

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञां चरितमुत्तमम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना ।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

लोमश उवाच-इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः ।
रूपसत्त्वबलोपेतः सचाऽपुत्रः प्रतापवान् ॥ ७ ॥
स हैहयान्समुत्साद्य तालजंघांश्च भारत ।
वशे च कृत्वा राजन् यान्स्वराज्यमन्वशासत ॥ ८ ॥
तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते ।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ॥ ९ ॥
स पुत्रकामो नृपतिस्तप्यते स्म महत्तपः ।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ॥ १० ॥
स तप्यमानः सुमहत्तपो योगसमन्वितः ।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ॥ ११ ॥
शङ्करं भवमीशानं पिनाकिं शूलपाणिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १२ ॥
स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थं समयाचत ॥ १३ ॥

सब राजाओं के चरित्र का वर्णन कीजिए ॥१-५॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—धर्मराज युधिष्ठिर ने जब ब्रह्मर्षि लोमश से यों पूछा तब वे इस प्रकार महात्मा महाराज सगर का माहात्म्य वर्णन करने लगे कि इक्ष्वाकु के वंश में सगर नाम के एक अत्यन्त प्रतापी राजा थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने हैहय और तालजङ्घ आदि शत्रुओं को जड़-मूल से मिटाकर और अन्य राजाओं को अपने अधीन करके राज्य किया। वैदर्भी और शैब्या नाम की उनके दो परम सुन्दरी रानियाँ थीं। महाराज सगर पुत्र की इच्छा से दोनों स्त्रियों को साथ लिये कैलास पर्वत के शिखर पर गये और वहाँ घोर तप करने लगे ॥६-१०॥

तप के प्रभाव से उन्हें त्रिपुरारि त्रिलोचन महादेव के दर्शन हुए। दोनों रानियों-सहित राजा सगर ने वरदानी शङ्कर को देखते ही प्रणाम किया और पुत्र पाने के लिए उनसे प्रार्थना की। रानी-सहित राजा पर प्रसन्न होकर शङ्कर ने कहा—हे राजन्! तुमने ऐसे मुहूर्त में मुझसे यह वर माँगा है कि तुम्हारे

तं प्रीतिमान्हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन्वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १४ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां संभविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥ १५ ॥
ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां संभविष्यति ॥ १६ ॥
एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥ १८ ॥
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ संबभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ॥ १९ ॥
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदाऽलाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥ २० ॥
अथाऽन्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम् ।
राजन् मा साहसं कार्षीः पुत्रान्न त्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यतां ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥ २२ ॥
ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि भारत ।

बड़े पराक्रमी साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे, किन्तु वे *सभी एक साथ मर जायँगे। और दूसरी स्त्री के* एक, वंश का चलानेवाला, बड़ा शूरवीर पुत्र उत्पन्न होगा ॥११।१६॥

इतना कहकर रुद्रदेव अन्तर्द्धान होगये। तब राजा सगर बहुत सन्तुष्ट होकर दोनों स्त्रियों के साथ अपनी नगरी को लौट गये। हे धर्मराज! कुछ समय के उपरान्त कमलदल के समान सुन्दर नेत्रोंवाली वैदर्भी और शैब्या, दोनों रानियाँ, गर्भवती हुईं। ठीक समय पर *वैदर्भी के गर्भ से एक तूँबी निकली और शैब्या* के गर्भ से एक परम सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने जब उस तूँबी को फेंक देने का विचार किया तब आकाश से देववाणी सुन पड़ी कि हे राजन्! पुत्रों का त्याग करना ठीक नहीं है। आप इस तूँबी के सब बीज निकाल लीजिए। साठ हजार हिस्से करके उन्हें घी से भरे और पानी के भीतर रक्खे हुए, घड़ों में

महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥ २३ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांसगरसंततिकथनेषडधिकशततमोऽध्यायः

रख दीजिए। उनसे आपके साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे। हे राजन्! शङ्कर ने इसी प्रकार से आपको साठ हज़ार पुत्रों के होने का वर दिया है। इसलिए आप उलट-पलट न कीजिएगा ॥१७।२३॥

वनपर्व का एक सौ छः अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०६ ॥

अथ सप्तधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

लोमश उवाच—एतच्छ्रुत्वाऽन्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तमः ।
यथोक्तं तच्चकाराऽथ श्रद्दधद्भरतर्षभ ॥ १ ॥
एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः ।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान्भागान्विदधे ततः ॥ २ ॥
धात्रीश्चैकैकशः प्रादात्पुत्ररक्षणतत्परः ।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥ ३ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याऽप्रतिमतेजसः ।
रुद्रप्रसादाद्राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ ४ ॥
ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः ।
बहुत्वाच्चाऽवजानन्तः सर्वाँल्लोकान्सहामरान् ॥ ५ ॥
त्रिदशांश्चाऽप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान् ।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ६ ॥

एक सौ सात अध्याय ॥ १०७ ॥

लोमश ऋषि कहते हैं—हे नरश्रेष्ठ! महाराज सगर ने जब आकाश से यह देववाणी सुनी तब उन्होंने श्रद्धापूर्वक उस तूँबी के बीज निकाले। साठ हज़ार हिस्से करके उन सब को घी से भरे घड़ों में रखवा दिया। हर एक घड़े की देखरेख के लिए एक-एक धाय नियत कर दी। बहुत दिनों के बाद, महादेव के प्रसाद से, उन घड़ों से बड़े पराक्रमी साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न हुए। वे पुत्र लड़ाके, क्रूर कर्म करनेवाले, आकाशमार्ग पर चल सकनेवाले और सब मिलकर देव, गन्धर्व आदि सब के साथ झगड़ा करनेवाले हुए ॥१।५॥

तब सब लोग सगर के पुत्रों के उपद्रव को सहने में असमर्थ होकर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। पितामह ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा—हे

तं प्रीतिमान्हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन्वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १४ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां संभविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥ १५ ॥
ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां संभविष्यति ॥ १६ ॥
एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥ १८ ॥
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ संबभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ॥ १९ ॥
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदाऽलाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥ २० ॥
अथाऽन्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम् ।
राजन् मा साहसं कार्षीः पुत्रान्न त्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥ २२ ॥
ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि भारत ।

बड़े पराक्रमी साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे, किन्तु वे सभी एक साथ मर जायँगे। और दूसरी स्त्री के एक, वंश का चलानेवाला, बड़ा शूरवीर पुत्र उत्पन्न होगा ॥११।१६॥

इतना कहकर रुद्रदेव अन्तर्द्धान होगये। तब राजा सगर बहुत सन्तुष्ट होकर दोनों स्त्रियों के साथ अपनी नगरी को लौट गये। हे धर्मराज! कुछ समय के पश्चात् कमलदल के समान सुन्दर नेत्रोंवाली वैदर्भी और शैब्या, दोनों रानियाँ, गर्भवती हुईं। ठीक समय पर वैदर्भी के गर्भ से एक तूँबी निकली और शैब्या के गर्भ से एक परम सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने जब उस तूँबी को फेंक देने का विचार किया तब आकाश से देववाणी सुन पड़ी कि हे राजन्! पुत्रों का त्याग करना ठीक नहीं है। आप इस तूँबी के सब बीज निकाल लीजिए। साठ हजार हिस्से करके उन्हें घी से भरे और पानी के भीतर रक्खे हुए, घड़ों में

महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥ २३ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांसगरसंततिकथनेषडधिकशततमोऽध्यायः

रख दीजिए। उनसे आपके साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे। हे राजन्! शङ्कर ने इसी प्रकार से आपको साठ हज़ार पुत्रों के होने का वर दिया है। इसलिए आप उलट-पलट न कीजिएगा ॥१७।२३॥

वनपर्व का एक सौ छः अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०६ ॥

अथ सप्तधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

लोमश उवाच—एतच्छ्रुत्वाऽन्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तमः ।
यथोक्तं तच्चकाराऽथ श्रद्दधद्भरतर्षभ ॥ १ ॥
एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः ।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान्भागान्विदधे ततः ॥ २ ॥
धात्रीश्चैकैकशः प्रादात्पुत्ररक्षणतत्परः ।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥ ३ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याऽप्रतिमतेजसः ।
रुद्रप्रसादाद्राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ ४ ॥
ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः ।
बहुत्वाच्चाऽवजानन्तः सर्वाँल्लोकान्सहामरान् ॥ ५ ॥
त्रिदशांश्चाऽप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान् ।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ६ ॥

एक सौ सात अध्याय ॥ १०७ ॥

लोमश ऋषि कहते हैं—हे नरश्रेष्ठ! महाराज सगर ने जब आकाश से यह देववाणी सुनी तब उन्होंने श्रद्धापूर्वक उस तूँबी के बीज निकाले। साठ हज़ार हिस्से करके उन सब को घी से भरे घड़ों में रखवा दिया। हर एक घड़े की देखरेख के लिए एक-एक धाय नियत कर दी। बहुत दिनों के बाद, महादेव के प्रसाद से, उन घड़ों से बड़े पराक्रमी साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न हुए। ये पुत्र लड़ाके, क्रूर कर्म करनेवाले, आकाशमार्ग पर चल सकनेवाले और सब मिलकर देव, गन्धर्व आदि सब के साथ झगड़ा करनेवाले हुए ॥१।५॥

तब सब लोग सगर के पुत्रों के उपद्रव को सहने में असमर्थ होकर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। पितामह ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा—हे

तं प्रीतिमान्हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन्वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १४ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां संभविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥ १५ ॥
ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां संभविष्यति ॥ १६ ॥
एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥ १८ ॥
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ संबभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ॥ १९ ॥
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदाऽलाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥ २० ॥
अथाऽन्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम् ।
राजन् मा साहसं कार्षीः पुत्रान्न त्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यतां ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥ २२ ॥
ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि भारत ।

वह पराक्रमी साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे, किन्तु वे सभी एक साथ मर जायँगे। और दूसरी स्त्री के एक, वंश का चलानेवाला, बड़ा शूरवीर पुत्र उत्पन्न होगा ॥१४।१६॥

इतना कहकर रुद्रदेव अन्तर्द्धान होगये। तब राजा सगर बहुत सन्तुष्ट होकर दोनों स्त्रियों के साथ अपनी नगरी को लौट गये। हे धर्मराज! कुछ समय के उपरान्त कमलदल के समान सुन्दर नेत्रोंवाली वैदर्भी और शैब्या, दोनों रानियाँ, गर्भवती हुईं। ठीक समय पर वैदर्भी के गर्भ से एक तूँबी निकली और शैब्या के गर्भ से एक परम सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने जब उस तूँबी को फेंक देने का विचार किया तब आकाश में देववाणी सुन पड़ी कि हे राजन्! पुत्रों का त्याग करना ठीक नहीं है। आप इस तूँबी के सब बीज निकाल लीजिए। साठ हज़ार हिस्से करके उन्हें घी से भरे और पानी के भीतर रक्खे हुए, घड़ों में

महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥ २३ ॥

इतिश्रीमन्महाभारतेआरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांसगरसंततिकथनेषडधिकशततमोऽध्यायः

रख दीजिए। उनसे आपके साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न होंगे। हे राजन्! शङ्कर ने इसी प्रकार से आपको साठ हज़ार पुत्रों के होने का वर दिया है। इसलिए आप उलट-पलट न कीजिएगा ॥१७।२३॥

वनपर्व का एक सौ छः अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०६ ॥

अथ सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

लोमश उवाच—एतच्छ्रुत्वाऽन्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तमः ।
यथोक्तं तच्चकाराऽथ श्रद्दधद्भरतर्षभ ॥ १ ॥
एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः ।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान्भागान्विदधे ततः ॥ २ ॥
धात्रीश्चैकैकशः प्रादात्पुत्ररक्षणतत्परः ।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥ ३ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याऽप्रतिमतेजसः ।
रुद्रप्रसादाद्राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ ४ ॥
ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः ।
बहुत्वाच्चाऽवजानन्तः सर्वाँल्लोकान्सहामरान् ॥ ५ ॥
त्रिदशांश्चाऽप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान् ।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ६ ॥

एक सौ सात अध्याय ॥ १०७ ॥

लोमश ऋषि कहते हैं—हे नरश्रेष्ठ! महाराज सगर ने जब आकाश से यह देववाणी सुनी तब उन्होंने श्रद्धापूर्वक उस तूँबी के बीज निकाले। साठ हज़ार हिस्से करके उन सब को घी से भरे घड़ों में रखवा दिया। हर एक घड़े की देखरेख के लिए एक-एक धाय नियत कर दी। बहुत दिनों के बाद, महादेव के प्रसाद से, उन घड़ों से बड़े पराक्रमी साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न हुए। वे पुत्र लड़ाके, क्रूर कर्म करनेवाले, आकाशमार्ग पर चल सकनेवाले और सब मिलकर देव, गन्धर्व आदि सब के साथ झगड़ा करनेवाले हुए ॥१।५॥

तब सब लोग सगर के पुत्रों के उपद्रव को सहने में असमर्थ होकर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। पितामह ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा—हे

वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥
तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः ।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ॥
नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान् ।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥
एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ।
ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान्
तस्याऽश्वो व्यचरद्भूमिं पुत्रैः स परिरक्षितः
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम्
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवाऽन्तरधीयत
ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ॥
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरङ्गं हृतम् ।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ॥ १
ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम् ।
अमार्गन्त महाराज सर्वं च पृथिवीतलम् ॥ १

देवताओ! तुम इन लोगों के साथ अपने-अपने स्थान को जाओ। सगर राजा के पुत्र अपने ही कर्मों के दोष से शीघ्र नष्ट हो जायँगे। हे धर्मराज! देवताओं से ब्रह्मा जी ने जब यों कहा तब वे सब दूसरे लोक-निवासियों के साथ अपने-अपने लोक को चले गये। ॥८।१०॥

बहुत समय बीतने पर तेजस्वी राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली। उनके यज्ञ के घोड़े को लेकर उसकी रक्षा करते हुए उनके पुत्र इधर-उधर पृथ्वीमण्डल पर विचरने लगे। वह भीतर जाकर गायब हो गया। कि घोड़े को कोई हर ले गया है के पास आकर उन्हें सब हाल ने सुनकर उनसे कहा—तुम लो पता लगाओ। सगर के पुत्र पिता को खोजते हुए पृथ्वी भर में घूम घोड़े का या घोड़े को ले जानेवाले तब सब मिलकर फिर पिता के पास

ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाऽभ्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ॥ १६ ॥
आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ॥ १७ ॥
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजन् शासनात्तव पार्थिव ॥ १८ ॥
न चाऽश्वमधिगच्छामो नाऽश्वहर्तारमेव च ।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ॥ २० ॥
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नाऽऽगन्तव्यं हि पुत्रकाः ।
प्रतिगृह्य तु संदेशं पितुस्ते सगरात्मजाः ॥ २१ ॥
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।
अथाऽपश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ॥ २२ ॥
समासाद्य बिलं तच्चाऽप्यखनन्सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्हेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमास्थिताः ॥ २३ ॥
स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत्परमामार्तिं दार्यमाणः समन्ततः ॥ २४ ॥

वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥ ७ ॥
तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः ।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ॥ ८ ॥
नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान् ।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥ ९ ॥
एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर ।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ १० ॥
ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान् ॥ ११ ॥
तस्याऽश्वो व्यचरद्भूमिं पुत्रैः स परिरक्षितः ।
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ॥ १२ ॥
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ॥ १३ ॥
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरङ्गं हृतम् ।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ॥ १४ ॥
ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम् ।
अमार्गन्त महाराज सर्वं च पृथिवीतलम् ॥ १५ ॥

देवताओ! तुम इन लोगों के साथ अपने-अपने स्थान को जाओ। सगर राजा के पुत्र अपने ही कर्मों के दोष से शीघ्र नष्ट हो जायँगे। हे धर्मराज! देवताओं से ब्रह्मा जी ने जब यों कहा तब वे सब दूसरे लोकनिवासियों के साथ अपने-अपने लोक को चले गये। ॥८।१०॥

बहुत समय बीतने पर तेजस्वी राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली। उनके यज्ञ के घोड़े को लेकर उसकी रक्षा करते हुए उनके पुत्र इधर-उधर पृथ्वीमण्डल पर विचरने लगे। वह घोड़ा सूखे समुद्र के भीतर जाकर गायब हो गया। राजकुमारों ने समझा कि घोड़े को कोई हर ले गया है। तब उन्होंने पिता के पास आकर उन्हें सब हाल कह सुनाया। राजा ने सुनकर उनसे कहा—तुम लोग जाकर घोड़े का पता लगाओ। सगर के पुत्र पिता की आज्ञा से घोड़े को खोजते हुए पृथ्वी भर में घूम आये किन्तु कहीं घोड़े का या घोड़े को ले जानेवाले का, पता न लगा। तब सब मिलकर फिर पिता के पास आये और हाथ

ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाऽध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ॥ १६ ॥
आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ॥ १७ ॥
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजन् शासनात्तव पार्थिव ॥ १८ ॥
न चाऽश्वमधिगच्छामो नाऽश्वहर्तारमेव च ।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ॥ २० ॥
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नाऽऽगन्तव्यं हि पुत्रकाः ।
प्रतिगृह्य तु संदेशं पितुस्ते सगरात्मजाः ॥ २१ ॥
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।
अथाऽपश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ॥ २२ ॥
समासाद्य बिलं तच्चाऽप्यखनन्सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्हेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमास्थिताः ॥ २३ ॥
स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत्परमामार्तिं दीर्यमाणः समन्ततः ॥ २४ ॥

जोड़कर, सामने खड़े होकर, कहने लगे—हे महाराज! हम आपकी आज्ञा से समुद्र, नद, नदी, द्वीप, पर्वत, वन, उपवन आदि-सहित सारी पृथ्वी पर ढूँढ आये, किन्तु कहीं पता नहीं चला। उनका उत्तर सुनकर क्रोधान्ध और होनहार के वश होकर राजा सगर ने कहा—पुत्रो! तुम फिर जाकर घोड़े का पता लगाओ ॥११।२०॥

बिना घोड़े का पता लगाये मेरे सामने मत आना। अपने पिता की यह आज्ञा पाकर साठ हजार राजकुमार चार-चार पृथ्वीमण्डल पर घूमते हुए घोड़े का पता लगाने लगे। सूखे हुए समुद्र के भीतर घूमते-घूमते उन्हें एक गढ़ा देख पड़ा। कुदाल आदि से वे उसे खोदने लगे। उनके खोदने से महासमुद्र बहुत ही पीड़ित हुआ। असुर, राक्षस, नाग आदि उसके नीचे रहनेवाले प्राणी सगर के पुत्रों के कुदाल आदि शस्त्र लगने से अत्यन्त दुःखी होकर मरने लगे। अनेक प्रकार के प्राणियों के मस्तक कट गये, प्राण निकल गये, और हड्डियाँ चूर-चूर हो गईं। इस प्रकार

असुरोरगरक्षांसि सत्त्वानि विविधानि च ।
आर्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरे ॥ २५ ॥
छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नत्वगस्थिसंधयः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २६ ॥
एवं हि खनतां तेषां समुद्रं वरुणालयम् ।
व्यतीतः सुमहान्कालो न चाऽश्वः समदृश्यत ॥ २७ ॥
ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ॥ २८ ॥
अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ।
कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
तेजसा दीप्यमानं तु ज्वालाभिरिव पावकम् ॥ २९ ॥
लोमश उवाच--ते तं दृष्ट्वा हयं राजन् संप्रहृष्टतनूरुहाः ।
अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ॥ ३० ॥
संक्रुद्धाः संप्रधावन्त अश्वग्रहणकांक्षिणः ।
ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥
वासुदेवेति यं प्राहु· कपिलं मुनिपुङ्गवम् ।
स चक्षुर्विकृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ॥ ३२ ॥
ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन्स सागरान् ।

बहुत समय तक सगर के पुत्र सागर के भीतर खोदते रहे, परन्तु घोड़े का पता न चला। तब वे राजकुमार अत्यन्त क्रोधित होकर सागर के पूर्व-उत्तर कोने को खोदने लगे। वहाँ खोदने पर उन्हें देख पड़ा कि उसी स्थान पर घोड़ा विचर रहा है और पास ही प्रज्वलित अग्नि के समान असाधारण तेजस्वी महर्षि कपिल बैठे हुए हैं। हे महाराज! वे राजकुमार उस घोड़े को देखकर बहुत ही आनन्दित हुए। उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया ॥२१।३०॥

तब काल की प्रेरणा से वे सगर के पुत्र कुपित होकर महात्मा कपिल को गालियाँ देते हुए घोड़े को लेने के लिए दौड़े। हे महाराज। मुनिश्रेष्ठ जिन्हें वासुदेव विष्णु का अंश कहते हैं उन मुनिवर महा तेजस्वी कपिल ने आँखें खोलकर सगर के पुत्रों की ओर देखा। उनके क्रोधाग्नि से वे दुर्बुद्धि राजकुमार दम भर में भस्म होकर राख का ढेर हो गये। महा तपस्वी महर्षि नारद ने उन्हें भस्म होते देखकर महाराज सगर के पास जाकर सब वृत्तान्त कह सुनाया।

तान्दृष्ट्वा भस्मसाद्भूतान्नारदः सुमहातपाः ॥ ३३ ॥
सगरान्तिकमागच्छत्तच्च तस्मै न्यवेदयत् ।
स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ॥ ३४ ॥
मुहूर्त्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ।
अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जसुतं तदा ॥ ३५ ॥
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्राणाममितौजसाम् ॥ ३६ ॥
कापिलं तेज आसाद्य मत्कृते निधनं गताः ।
तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयाऽनघ ।
धर्मं संरक्षमाणेन पौराणां हितमिच्छता ॥ ३७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान्दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ३८ ॥
लोमश उवाच—असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।
यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ॥ ३९ ॥
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्बलान् ।
ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ॥ ४० ॥
सगरं चाऽभ्यभाषन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयात् ॥ ४१ ॥

महर्षि नारद के मुँह से यह दारुण समाचार सुनकर पल भर तक महाराज सगर दुःखित रहे और महादेव के वाक्य को स्मरण करने लगे। फिर असमञ्जस के पुत्र और अपने पोते अंशुमान् को बुलाकर उन्होंने कहा—हे निष्पाप ! वे बड़े पराक्रमी साठ हज़ार राजकुमार मेरे ही कारण कपिल ऋषि के तेज से भस्म हो गये हैं। मैंने नगरवासियों के हित के लिए और अपने धर्म की रक्षा के लिए तुम्हारे पिता (असमञ्जस) को त्याग दिया है ॥३३।३७॥

राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! महाराज सगर ने किस कारण अपने वीर पुत्र को त्याग दिया था ? पुत्र को तो कोई नहीं त्यागता; फिर उन्होंने क्यों ऐसा किया ? यह सब विस्तार के साथ आप कहिए। लोमश जी कहते हैं—रानी शैब्या के गर्भ से महाराज सगर के असमञ्जस नाम का एक पुत्र हुआ था। वह नगरवासियों के दुर्बल बालकों को पकड़कर, गला दबाकर, नदी में डुबा देता और दूर बहा देता था। इस कारण डर और शोक से पीड़ित

असमञ्जोभयाद्धोरात्ततो नस्त्रातुमर्हसि ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ॥ ४२ ॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ।
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ।
यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ॥ ४३ ॥
एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप ।
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रुर्यथाऽऽज्ञापितवान्नृपः ॥ ४४ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना ।
पौत्राणां हितकामेन सगरेण विवासितः ॥ ४५ ॥
अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण हि ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ४६ ॥
सगर उवाच—पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च ।
अलाभेन तथाऽश्वस्य परितप्यामि पुत्रक ॥ ४७ ॥
तस्माद्दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम् ।
हयस्याऽऽनयनात्पौत्र नरकान्मां समुद्धर ॥ ४८ ॥
अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना ।
जगाम दुःखात्तं देशं यत्र वै दारिता मही ॥ ४९ ॥

सब नगरवासी महाराज सगर के पास गये और हाथ जोड़कर कहने लगे—हे महाराज ! आप दूसरे राजाओं के आक्रमण से और अन्य प्रकार की आपत्तियों से हमारी रक्षा करते आ रहे है। इस समय राजकुमार असमञ्जस से हमें जो क्लेश मिल रहा है उसे दूर करके हमारी रक्षा कीजिए। नगरवासियों के ऐसे कातर वचन सुनकर राजर्षि सगर घड़ी भर उदास रहे। फिर उन्होंने मन्त्रियों से कहा—हे मन्त्रियो! यदि तुम लोग मेरा प्रिय करना चाहते हो तो राजकुमार असमञ्जस को अभी मेरे राज्य से निकाल दो। हे धर्मराज ! जिस तरह और जिस कारण प्रजा के हित के लिए महात्मा सगर ने अपने पुत्र को निकाल दिया था, सो मैंने तुमसे कह दिया है। अब मै वह कहता हूँ, जो उन्होंने अपने पोते अंशुमान् से कहा था। तुम मन लगाकर सुनो ॥३८।४६॥

सगर ने कहा- हे वत्स ! तुम्हारे पिता को त्यागने से, साठ हज़ार पुत्रों के अचानक मर जाने से और यज्ञ का घोड़ा न मिलने से मैं बहुत ही दुःखी तथा यज्ञ में विघ्न होने से मोहित सा हो रहा हूँ। अतएव अब तुम जाकर घोड़े को लाओ और इस प्रकार से नरक में जाने से मुझको बचाओ। महात्मा सगर के ये वचन सुनकर अंशुमान् को बड़ा दुःख हुआ।

स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ह ।
अपश्यच्च महात्मानं कपिलं तुरगं च तम् ॥ ५० ॥
स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ५१ ॥
ततः प्रीतो महाराज कपिलोंऽशुमतोऽभवत् ।
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ॥ ५२ ॥
स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ।
द्वितीयं वरकं वव्रे पितॄणां पावनेच्छया ॥ ५३ ॥
तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ।
ददानि तव भद्रं ते यद्यत्प्रार्थयसेऽनघ ॥ ५४ ॥
त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ॥ ५५ ॥
तव चैव प्रभावेन स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ।
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ॥ ५६ ॥
पावनार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ।
हयं नयस्व भद्रं ते यज्ञियं नरपुङ्गव ॥ ५७ ॥
यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ।

वे वहां से उसी स्थान को गये जिसे साठ हज़ार राजकुमारों ने खोदा था । उसी मार्ग से वे सागर के तले जा पहुँचे । वहां जाकर अंशुमान् ने उस घोड़े को और वहीं पर महात्मा कपिल को देखा । ॥४७।५०॥

तेजोराशि महर्षि कपिल को देखकर राजकुमार ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपने आने का तात्पर्य कहा। हे महाराज! महानुभाव धर्मात्मा कपिलदेव ने अंशुमान् के ऊपर प्रसन्न होकर कहा—मैं तुमको वर देने के लिए तैयार हूँ। अंशुमान् ने पहले यज्ञपूर्ति के लिए घोड़ा मांगा और फिर अपने साठ हज़ार पितरों के उद्धार की प्रार्थना की। महातेजस्वी कपिलदेव ने उनसे कहा—हे पुण्यात्मन्! तुमने मुझसे जो दो वरदान मांगे हैं वे मैं तुमको देता हूँ तुम में क्षमा, धर्म और सत्य स्थिर है। महाराज सगर तुमसे कृतार्थ होंगे। तुम्हारे पिता का पिता होना तुम्हीं से सफल हुआ। सगर के यह साठ हज़ार पुत्र तुम्हारे ही प्रभाव से स्वर्ग की गति पावेंगे। तुम्हारे पौत्र भगीरथ इन अपने पुरखों को तारने के लिए महेश्वर को सन्तुष्ट करके आकाश से पृथ्वी पर गङ्गा जी को लावेंगे। हे नरश्रेष्ठ! तुम्हारा कल्याण हो! तुम इस यज्ञ के घोड़े को लेकर राजा सगर

अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ॥ ५८ ॥
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ।
सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
मूर्ध्नि तेनाऽप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ।
यथादृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा ॥ ६० ॥
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ।
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ॥ ६१ ॥
अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम् ।
समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ॥ ६२ ॥
पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ।
प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ॥ ६३ ॥
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ।
अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ॥ ६४ ॥
प्रशशास महाराज यथैवाऽस्य पितामहः ।
तस्य पुत्रः समभवद्दिलीपो नाम धर्मवित् ॥ ६५ ॥
तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ।
दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ॥ ६६ ॥

के पास जाओ और उनके यज्ञ को समाप्त करो। महर्षि कपिल ने अंशुमान् से जब यों कहा तब वे उस घोड़े को लेकर राजा सगर के यज्ञमण्डप में गये। उन्होंने राजा के चरणों में प्रणाम किया। महात्मा सगर ने प्यार से उनका माथा सूँघा। अंशुमान् ने कपिल जी से जिस तरह सुना था उसी तरह राजकुमारों के नाश का वृत्तान्त सगर को कह सुनाया। यह भी कहा कि यज्ञ के घोड़े को मैं ले आया हूँ ॥५८।६०॥

महाराज सगर ने सब सुनकर, शोक त्यागकर, अंशुमान की सहायता से यज्ञ समाप्त किया। सब देवताओं से आदर पाकर राजा सगर ने समुद्र को अपना पुत्र माना। कमलनयन राजा सगर ने बहुत समय तक राज्य किया। अन्त को अपने पोते अंशुमान् को राजगद्दी देकर वे स्वर्गवासी हुए। धर्मात्मा अंशुमान् भी अपने पितामह सगर की तरह राज्य करने लगे। फिर कुछ दिन बीतने पर उनके दिलीप नाम के धर्मात्मा तेजस्वी कुमार उत्पन्न हुए। दिलीप को राज्य देकर अंशुमान् परलोकगामी हुए॥६१।६५॥

अपने पुरखों के नाश की दारुण कथा सुनकर महाराज दिलीप अत्यन्त दुःखित हुए। वे अपने पुरखों के उद्धार का उपाय सोचने लगे। अन्त को

पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ।
गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाऽकरोन्नृपः ॥ ६७ ॥
न चाऽवतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ।
तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान्धर्मपरायणः ॥ ६८ ॥
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ।
अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ॥ ६९ ॥
तपःसिद्धिसमायोगात्स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारत ॥ ७० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्यमाहात्म्यकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः॥१०७॥

स्वर्ग से पृथ्वी पर गङ्गा के लाने के बारे में उन्होंने सावधानी से अनेक उपाय किये। बहुत उपाय करके भी वे अपने उद्योग में सफल नहीं हुए। हे भरतश्रेष्ठ! कुछ समय में उनके भगीरथ नाम के धर्मात्मा, श्रीमान्, सत्यवादी, द्वेषहीन एक कुमार उत्पन्न हुए। राजा दिलीप भी भगीरथ को राज्य देकर आप जङ्गल को रवाना हुए। निश्चित समय पर वहाँ तपस्या से सिद्धि प्राप्त करके आप स्वर्गलोक को सिधारे ॥६९।७०॥

वनपर्व का एक सौ सात अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०७ ॥

अथ अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

लोमश उवाच–स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः ।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ १ ॥
स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना ।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ॥ २ ॥
स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता ।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर ॥ ३ ॥
आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः ।

एक सौ आठ अध्याय ॥ १०८ ॥

लोमश ऋषि जी कहते हैं–हे नरेन्द्र! राजा चक्रवर्ती महारथी भगीरथ सब लोगों के मन और नेत्रों के आनन्द को बढ़ानेवाले हुए। महाबाहु भगीरथ ने भी सुना कि उनके पुरखे कपिल के कोप की आग में भस्म हो गये हैं और इस अपमृत्यु के कारण वे स्वर्ग को नहीं जा सके। हे नरेन्द्र! तब व्यथित होकर उन्होंने सारे राज्य का भार मन्त्री को सौंप दिया। वे तप के द्वारा पापनाश और गङ्गा की आराधना करने के लिए हिमालय पर्वत पर गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वह विचित्र धातुओं से शोभित

अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ॥ ५८ ॥
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ।
सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
मूर्ध्नि तेनाऽप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ।
यथादृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा ॥ ६० ॥
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ।
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ॥ ६१ ॥
अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम् ।
समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ॥ ६२ ॥
पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ।
प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ॥ ६३ ॥
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ।
अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ॥ ६४ ॥
प्रशशास महाराज यथैवाऽस्य पितामहः ।
तस्य पुत्रः समभवद्दिलीपो नाम धर्मवित् ॥ ६५ ॥
तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ।
दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ॥ ६६ ॥

के पास जाओ और उनके यज्ञ को समाप्त करो। महर्षि कपिल ने अंशुमान् से जब यों कहा तब वे उस घोड़े को लेकर राजा सगर के यज्ञमण्डप में गये। उन्होंने राजा के चरणों में प्रणाम किया। महात्मा सगर ने प्यार से उनका माथा सूँघा। अंशुमान् ने कपिल जी से जिस तरह सुना था उसी तरह राजकुमारों के नाश का वृत्तान्त सगर को कह सुनाया। यह भी कहा कि यज्ञ के घोड़े को मैं ले आया हूँ ॥५९।६०॥

महाराज सगर ने सब सुनकर, शोक त्यागकर, अंशुमान् की सहायता से यज्ञ समाप्त किया। सब देवताओं से आदर पाकर राजा सगर ने समुद्र को अपना पुत्र माना। कमलनयन राजा सगर ने बहुत समय तक राज्य किया। अन्त को अपने पोते अंशुमान् को राजगद्दी देकर वे स्वर्गवासी हुए। धर्मात्मा अंशुमान् भी अपने पितामह सगर की तरह राज्य करने लगे। फिर कुछ दिन बीतने पर उनके दिलीप नाम के धर्मात्मा तेजस्वी कुमार उत्पन्न हुए। दिलीप को राज्य देकर अंशुमान् परलोकगामी हुए॥६१।६५॥

अपने पुरखों के नाश की दारुण कथा सुनकर महाराज दिलीप अत्यन्त दुःखित हुए। वे अपने पुरखों के उद्धार का उपाय सोचने लगे। अन्त को

पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ।
गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाऽकरोन्नृपः ॥ ६७ ॥
न चाऽवतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ।
तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान्धर्मपरायणः ॥ ६८ ॥
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ।
अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ॥ ६९ ॥
तपःसिद्धिसमायोगात्स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारत ॥ ७० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आरण्यकपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्यमाहात्म्यकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

स्वर्ग से पृथ्वी पर गङ्गा के लाने के बारे में उन्होंने सावधानी से अनेक उपाय किये। बहुत उपाय करके भी वे अपने उद्योग में सफल नहीं हुए। हे भरतश्रेष्ठ ! कुछ समय में उनके भगीरथ नाम के धर्मात्मा, श्रीमान, सत्यवादी, द्वेषहीन एक कुमार उत्पन्न हुए। राजा दिलीप भी भगीरथ को राज्य देकर आप जङ्गल को रवाना हुए। निश्चित समय पर वहाँ तपस्या से सिद्धि प्राप्त करके आप स्वर्गलोक को सिधारे ॥६९।७०॥

वनपर्व का एक सौ सात अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०७ ॥

अथ अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

लोमश उवाच—स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः ।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ १ ॥
स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना ।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ॥ २ ॥
स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता ।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर ॥ ३ ॥
आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः ।

एक सौ आठ अध्याय ॥ १०८ ॥

लोमश ऋषि जी कहते हैं—हे नरेन्द्र ! राजा चक्रवर्ती महारथी भगीरथ सब लोगों के मन और नेत्रों के आनन्द को बढ़ानेवाले हुए। महाबाहु भगीरथ ने भी सुना कि उनके पुरखे कपिल के कोप की आग में भस्म हो गये हैं और इस अपमृत्यु के कारण वे स्वर्ग को नहीं जा सके। हे नरेन्द्र ! तब व्याधित होकर उन्होंने सारे राज्य का भार मन्त्री को सौंप दिया। वे तप के द्वारा पापनाश और गङ्गा की आराधना करने के लिए हिमालय पर्वत पर गये। वहीं जाकर उन्होंने देखा कि यह विराट धातुओं से शोभित

सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥ ४ ॥
शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ॥ ५ ॥
नदीकुञ्जनितम्बैश्च प्रासादैरुपशोभितम् ।
गुहाकन्दरसंलीनसिंहव्याघ्रनिषेवितम् ॥ ६ ॥
शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः ।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ॥ ७ ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवञ्जीवककोकिलैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ॥ ८ ॥
जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम् ।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम् ॥ ९ ॥
किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद् घृष्टपादपम् ॥ १० ॥
विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणभुजङ्गैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥
क्वचित्कानकसंकाशं क्वचिद्रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥ १२ ॥

अनेक आकार के शिखरों से पर्वतराज की अपूर्व शोभा हो रही है । वायुवेग से इधर-उधर उड़ते हुए मेघ उस पर चारों ओर पानी का छिड़काव कर रहे हैं । उसके ऊपर की नदी, कुञ्ज और कन्दराएँ बड़ी ही सुहावनी हैं । उन कन्दराओं के भीतर सिंह, बाघ चीते आदि पड़े हुए हैं । हंस, पपीहा, जलकुक्कुट, मोर, शतपत्र, जीवजीवक, कोकिल, चकोर, खञ्जन विविध विचित्र अङ्गोंवाले पक्षी चारों ओर मधुर स्वर में बोल रहे हैं । भौंरे गुन-गुन करते हुए इधर-उधर फिर रहे हैं । कमलिनीमण्डित परम रमणीय जलाशयों के किनारे सारसों के झुण्ड मधुर वाणी से बोल रहे हैं । शिलाओं के ऊपर किन्नर और अप्सराएँ टहला करती हैं । किसी ओर भयानक शरीरवाले गजराज अपने दाँतों को वृक्षों पर घिस रहे हैं ॥१-१०॥

विद्याधर चारों ओर विचर रहे हैं । कहीं पर बहुत से रत्न अपनी प्रभा फैला रहे हैं । किसी जगह पर लपलपाती हुई जीभवाले विषैले साँप पड़े हुए हैं । किसी स्थान पर सोने का सा रङ्ग, किसी जगह पर चाँदी का सा रङ्ग और कहीं पर अञ्जन का सा रङ्ग है । महाराज भगीरथ उस पर्वतराज पर रहकर कन्द मूल-फल खाकर और जल पीकर दिव्य हज़ार वर्ष तक कठोर तप करते रहे । तब महानदी गङ्गा

स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुसंभक्षः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ १३ ॥
संवत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ॥ १४ ॥
गङ्गोवाच—किमिच्छसि महाराज मत्तः किं च ददानि ते ।
तद्ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ॥ १५ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा ।
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदि ॥ १६ ॥
अन्वेषमाणास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १७ ॥
कपिलं देवमासाद्य क्षणेन निधनं गताः ।
तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते ॥ १८ ॥
यावत्तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाऽभिषिञ्चसि ।
तावत्तेषां गतिर्नास्ति सागराणां महानदि ॥ १९ ॥
स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन्सगरात्मजान् ।
तेषामर्थेन याचामि त्वामहं वै महानदि ॥ २० ॥
लोमश उवाच—एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता ।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ॥ २१ ॥
करिष्यामि महाराज वचस्ते नाऽत्र संशयः ।

जी शरीर धारण कर उनके आगे प्रकट हुईं और कहने लगीं—महाराज! तुम मुझ से क्या चाहते हो? मांगो, मैं तुमको वही दूँगी। ये वचन सुनकर महाराज भगीरथ बोले-हे महानदी! मेरे पुरखे अपने पिता सगर के यज्ञ के घोड़े को खोजते-खोजते महात्मा कपिल के कोप की अग्नि में भस्म हो गये हैं। इस अपमृत्यु के कारण उन्हें स्वर्ग की श्रेष्ठ गति नहीं मिली। हे वरदायिनी! आप अपने जल के स्पर्श से जब तक उनके शरीर की भस्म को नहीं पवित्र करोगी तब तक वे स्वर्ग के अधिकारी न हो सकेंगे। हे महाभागे! मैं उन पूर्वजों के लिए यही प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे पुरखों को तारकर स्वर्ग की गति दीजिए ॥१९।२०॥

सब लोक जिनकी वन्दना करते हैं उन गङ्गा जी ने महाराज भगीरथ के वचनों से परम प्रसन्न होकर कहा—महाराज! मैं अवश्य ही तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगी। किन्तु जब मैं आकाशमार्ग से पृथ्वीमण्डल पर गिरूँगी तब नीलकण्ठ महेश्वर के सिवा मेरे उस असह्य वेग को और कोई नहीं रोक सकेगा। इसलिए हे महाबाहो! तुम तपस्या करके महाशिव को सन्तुष्ट करो तो फिर वे गिरते समय मेरे वेग को अपने

वेगं तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाद्भुवम् ॥ २२ ॥
न शक्तास्त्रिषु लोकेषु कश्चिद्धारयितुं नृप ।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥ २३ ॥
तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम् ।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ॥ २४ ॥
स करिष्यति ते कामं पितॄणां हितकाम्यया ।
एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् महाराजो भगीरथः ॥ २५ ॥
कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शङ्करम् ।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित् ॥ २६ ॥
अगृह्णाच्च वरं तस्माद्गङ्गाया धारणे नृप ।
स्वर्गे वासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ॥ २७ ॥

इतिश्रीमन्महा० आरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रायांअगस्त्योपाख्यानेअष्टाधिकशततमोऽध्यायः

माथे पर रोक लेंगे। वे तुम्हारे पुरखों की भलाई के लिए अवश्य ही तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करेंगे। हे राजन्! गङ्गा जी के ये वचन सुनकर महाराज भगीरथ कैलाश पर्वत पर गये। वहां कुछ समय तक घोर तप करके उन्होंने शङ्कर को प्रसन्न किया। फिर पितरों के उद्धार की इच्छा से उन्होंने शङ्कर से गङ्गा के वेग को रोकने का वरदान मांगा ॥२१-२७॥

वनपर्व का एक सौ आठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०८ ॥

अथ नवाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०९ ॥

लोमश उवाच—भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थं च दिवौकसाम् ।
एवमस्त्विति राजानं भगवान्प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
धारयिष्ये महाभाग गगनात्प्रच्युतां शिवाम् ।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥ २ ॥
एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत् ।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ३ ॥

एक सौ नौ अध्याय ॥ १०९ ॥

लोमश जी कहते हैं—हे राजन्! भगवान् महादेव ने भगीरथ के वचन सुनकर देवताओं का प्रिय कार्य करने के लिए कहा कि हे नृपश्रेष्ठ! तुमने जो कहा उसे मैं अवश्य करूँगा। हे महाबाहो! भगवान् शूलपाणि महाराज भगीरथ से यों कहकर अनेक अस्त्र-शस्त्र-धारी गणों के साथ हिमालय पर गये। वहां जाकर उन्होंने राजा भगीरथ से कहा—हे महाराज! हिमालयनन्दिनी गङ्गादेवी से पृथ्वी पर आने की

तत्र स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह ।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ॥ ४ ॥
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात् ।
एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ॥ ५ ॥
प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत् ।
ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ॥ ६ ॥
ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात्सहसा च्युता ।
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्धं महर्षिभिः ॥ ७ ॥
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः ।
ततः पपात गगनाद्गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ८ ॥
समुद्भूतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ।
तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ॥ ९ ॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ।
सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा ॥ १० ॥
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पंक्तयः ।
क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित्क्वचित् ॥ ११ ॥
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाऽव्रजत् ।
क्वचित्सा तोयनिनैदर्नदन्ती नादमुत्तमम् ॥ १२ ॥
एवंप्रकारान्सुबहून्कुर्वती गगनाच्च्युता ।
पृथिवीतलमासाद्य भगीरथमथाऽब्रवीत ॥ १३ ॥

प्रार्थना करो। मैं स्वर्ग से गिरती हुई गङ्गा के वेग को रोकूगा। शिव जी के ये वचन सुनकर पवित्र और नम्र होकर महाराज भगीरथ गङ्गा जी का ध्यान करने लगे। तब पवित्र जलवाली गङ्गा जी भगीरथ के ध्यान करने पर, सदाशिव को उपस्थित देखकर, एकाएक स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरने लगीं। देवता, महर्षि, गन्धर्व, नाग और यक्षगण आकाश से गिरती हुई गङ्गा जी को देखने के लिए जाने लगे। मच्छ, ग्राह आदि जलजन्तुओं से पूर्ण और बड़े-बड़े भँवरों से भरी भगवती गङ्गा जी भी एकाएक वेग के साथ आकाश से गिर रही थीं। इस प्रकार आकाशमण्डल की मेखलारूपिणी गङ्गा जी के गिरने पर महादेव ने मोतियों की माला के समान उनको माथे पर धारण कर लिया। गङ्गा जी गिरकर तीन धाराओं मे बहीं ॥१।१०॥

उज्ज्वल फेनयुक्त गङ्गा जी का निर्मल जल हँसों की कतार के समान जान पड़ता था। कहीं पर गङ्गा जी की धारा नागिन की सी टेढ़ी चाल मे चा

दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम् ।
त्वदर्थमवतीर्णाऽस्मि पृथिवीं पृथिवीपते ॥ १४ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः ।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १५ ॥
प्लावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन च ।
गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ॥ १६ ॥
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह ।
समासाद्य समुद्रं च गङ्गया सहितो नृपः ॥ १७ ॥
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ।
दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ॥ १८ ॥
पितॄणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं गङ्गा-त्रिपथगा यथा ॥ १९ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।
समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थं महात्मना ॥ २० ॥
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

इतिश्रीमन्महा०आरण्यकपर्वणितीर्थयात्रापर्वणिलोमशतीर्थयात्रा अगस्त्यमाहात्म्यकथनेनवाधिकशततमोऽध्याय

रही थी, कहीं पर ऊपर से नीचे गिर रही थी और कहीं पर मनोहर शब्द करती हुई मतवाली सुन्दरी के समान जा रही थी। अनेक प्रकार के आकारों से आकाश से पृथ्वी पर आकर गङ्गा जी ने भगीरथ से कहा—हे राजन्! मैं तुम्हारा कार्य करने के लिए पृथ्वी पर आई हूँ। मैं किस राह से किधर चलूँ, सो मुझे दिखा दो। तब गङ्गा जी के पवित्र जल से अपने पुरखों को तारने की इच्छा से महाराज भगीरथ उसी ओर चले जिधर कपिल के कोप से जले हुए सगर पुत्र पड़े थे। इधर लोकवन्दित भगवान् शंकर गङ्गा जी का वेग रोकने के उपरान्त देवताओं के साथ कैलास पर्वत को चले गये। राजा भगीरथ गङ्गा जी के साथ सूखे हुए सागर के भीतर गये। समुद्र गङ्गाजल से भर गया। राजा का मनोरथ पूरा हो गया। राजा ने गङ्गा जी को अपनी पुत्री मान लिया। उन्होंने भागीरथी में पितरों का तर्पण किया। हे महाराज! सागर को भरने के लिए त्रिपथगा गङ्गा जी जिस तरह पृथ्वी मण्डल पर आईं और जिस कारण महात्मा अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया और ब्राह्मणों की हत्या करनेवाले वातापि दानव को मारा, सो सब मैंने आपको सुना दिया ॥११।२१॥

वनपर्व का एक सौ नौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०९ ॥

महाभारत का चतुर्थ अङ्क समाप्त हुआ।